उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी 'लोकवृत्त' का निर्माण

(पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध)

"UNNEESVIN SADI KE UTTARARDH MEIN HINDI 'LOKVRITT' KA NIRMAN"

(THE MAKING OF HINDI PUBLIC SPHERE IN THE LATER HALF OF NINETEENTH CENTURY)

शोध–निर्देशक
प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधार्थी
चंदन कुमार श्रीवास्तव

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली– 110067
2006

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 4/9/ 2006

DECLARATION

I declare, that the work done in this dissertation/thesis entitled "**UNNEESVIN SADI KE UTTARARDH MEIN HINDI 'LOKVRITT' KA NIRMAN**" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

CHANDAN KUMAR SHRIVASTAWA
(Research Scholar)

PROF. PURUSHOTTAM AGRAWAL
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

अनुक्रमणिका

भूमिका i-ix

अध्याय : एक 1–39

लोकवृत्त : अवधारणा और समस्याएँ

लोकवृत्त क्या है? लोकवृत्त की अवधारणा का विकास
हिंदी क्षेत्र के संदर्भ में लोकवृत्त : अध्ययन की समस्याएँ
देसी लोकवृत्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अध्याय : दो 40–81

राज, समाज और सूचना–तंत्र

आंग्ल–भारतीय लोकवृत्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
भारतीय ज्ञान–परंपरा का अधिग्रहण और पुनर्व्याख्या
उपयोगी ज्ञान और समाजसुधार
राज्य और शिक्षा

अध्याय : तीन 82–122

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध : साहित्यिक परिवेश

साहित्य की अवधारणा : परंपरा और परिवर्तन
प्रेस और प्रकाशन
साहित्यिक क्षेत्र और रसिक समुदाय

अध्याय : चार 123–167

वाद–विवाद–संवाद

हिंदी जातीयता – हिंदू जातीयता
हिंदी और उर्दू
इतिहास और अस्मिता
'अन्य' की निर्मिति और 'आत्म' की छवियाँ

अध्याय : पाँच 168–193

कल्पित समुदाय और कल्पना की स्त्री

'आर्यकुलगौरव – आर्यकुललना'
सती और शील
स्त्रीत्व की छवियाँ और राष्ट्रीयता का रूपक

अध्याय : छह 194–207

हिंदी प्रदेश : साहित्य और राजनीति

लोकवृत्त और साहित्य के प्रतिमान
हिंदी लोकवृत्त और राजनीति

उपसंहार 208–211

संदर्भ ग्रंथ सूची 212–220

आधार ग्रंथ
सहायक ग्रंथ और जर्नल
पत्र–पत्रिकाएं

भूमिका

अतीत की अछोर अवधि में आज से डेढ़ सौ बरस पहले का एक छोटा–सा कालखंड! काल के पैमाने पर विस्तार के लिहाज से बहुत नहीं होते ये बरस, खासकर जब कोई 'काल के निरवधि' और 'पृथ्वी के विपुला' होने में यकीन करे। लेकिन, क्या प्रभाव के लिहाज से भी यही बात कही जा सकती है? इतनी सी अवधि में परिवर्तन का चक्र इतना तेज हो सकता है कि 'आत्म' को संकट आ घेरे; पुरानी अवधारणाएँ आहत हो जायें और संकट से उबरने की कोशिश में बोध का बदला हुआ शास्त्र 'आत्म' ही को बदल डाले!

आज से डेढ़ सौ साल पहले के जिस वक्त से आधुनिक हिंदी–साहित्य की शुरुआत मानी जाती है वह बोध के ऐसे ही बदलते हुए शास्त्र का समय है। अकारण नहीं कि इस समय की प्रबल चिंता आत्म–भाव को पाने की एक आतुर पुकार है -- 'भारत निज स्वत्व गहै'। इस आतुरता में एक नहीं आत्महीनता की बहुविध और रोजाना तैयार होती ग्रंथियाँ हैं – बहुत तेज, भयावह मगर दबे हुए लावे की तरह यह ग्रंथि बार–बार आत्मा को कोंचती है : "न गुल–ए–नग्मः हूँ न पर्द–ए–साज – मैं हूँ अपने शिकस्त की आवाज।"

एक तरफ आत्महीनता की आग है तो दूसरी तरफ 'आत्म–भाव' को पाने की अकुलाहट। इस युग की मनोभूमि 'स्वत्व–चिंता' के कई विरोधी संस्करणों का एक दस्तावेज है – विपुल शंका है जो कभी तिनके को पतवार मान लेती है; कभी कुछ को देव तो बाकी को पत्थर मानने की होड़ पर निकल पड़ती है; कभी दी हुई परिस्थितियों में अपने लिए इतिहास रचने की फिक्र में अतीत से 'पुरखे–पितर और प्रेत' बुला लेती है – इस शंका को पता ही नहीं चलता देर तक कि 'कस्मै देवाय हविषा विधेम?

'स्वत्व–चिंता' और आत्म–हीनता से उपजे सवालों, उनकी प्रेरणा और प्रयोगों को न समझें; उन संस्थाओं को न खंगालें जहाँ 'स्वत्व गहने' की प्रक्रिया आकार ले रही थी; वह 'अंधेर नगरी' छूट जहाँ–जहाँ अंधेरे में आत्माएँ एक–दूसरे से बतियाते हुए बोध के बदले हुए शास्त्र के भीतर 'अपनी' और इसी कारण 'दूसरे' की भी परिभाषा तय कर रही थीं तो युग की व्याख्या के लिए भटकने का खतरा होता है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य की कुछ पुरानी मगर प्रभावशाली, कुछ नई और इसी कारण पर्दाफाश के तेवर में प्रकट व्याख्याएँ इस समय के बदलावों की अनदेखी करती हैं। इनका जोर 'प्रगतिशीलता' पर होता है या 'प्रतिगामिता' पर। इन प्रवृतियों को लक्ष्य करते हुए ये व्याख्याएँ साक्ष्यों के भरे–पूरे संसार से अपनी परियोजना के अनुकूल सामग्री चुनती हैं मगर जिस ढाँचे में ये 'साक्ष्य' आकार ग्रहण कर रहे थे उसके बदलावों पर चुप रहती हैं। ऐसी व्याख्याओं की चिंता के केंद्र में प्रगतिशीलता अथवा प्रतिगामिता होती है न कि वह ढाँचागत बदलाव जिसने ऐसी प्रवृतियों को गढ़ा। मिसाल के लिए, यहाँ ऐसी दो व्याख्याओं की चर्चा उचित होगी।

डा. रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और नवजागरण' में बंगाल, गुजरात और दूसरे प्रदेशों के नवजागरण से हिंदी नवजागरण के चरित्र का वैशिष्ट्य निरुपित करते हुए उसका उत्स सन् 1857 ई. के 'स्वाधीनता संग्राम' में देखते हैं और इसका दूसरा तथा तीसरा चरण भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युग में बताते हैं। उनकी स्थापना है कि हिंदी–प्रदेश में नवजागरण 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम से शुरु होता है जो 'सारे देश की एकता' को ध्यान में रखकर चलाया गया था। इस संग्राम में राज्य सत्ता की मूल समस्या 'जनता के हित में हल' की गई थी। इस संग्राम का नेतृत्व उन 'किसानों ने किया जो फौज में सिपाहियों और सूबेदारों के रूप में काम' कर रहे थे और यह संग्राम 'असांप्रदायिक है'।[1] सन् 'सत्तावन' के बारे में डा. शर्मा की स्थापनाएँ चाहे जितनी भी तर्कपुष्ट हों – इस 'संग्राम' की विशेषताओं को परवर्ती 'भारतेंदु' अथवा 'द्विवेदी युग' में पढ़ना असंगत है। वे लिखते हैं कि – "गदर सन् 57 का स्वाधीनता संग्राम हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग है... हिंदी नवजागरण का तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है...।"

यह निरंतरता समस्या उत्पन्न करती है। 'गदर' के बारे में डा. शर्मा द्वारा गिनायी गई विशेषताओं को ठीक–ठीक स्वीकार कर लें तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि भारतेंदु–युग इसकी अगली कड़ी हैं। सन् 57 के बाद ब्रिटिश राज की बनावट बदली। भारतीय समाज के बारे में उसकी दृष्टि बदली। भारतीय अब 'ब्रिटिश प्रजा' थे; सिद्धांततः अपने अधिकार में 'ब्रिटिश प्रजा' के बराबर। इस 'प्रजा' को अपने 'धर्म' के पालन और प्रचार का अधिकार प्रदान किया गया। 'राज' ने 'भारतीय समाज' को 'सुव्यवस्थित–संगठित' करने के लिए अपना समाजशास्त्र विकसित किया। भारतीय, विधि–व्यवस्था के भीतर 'हिंदू' और 'मुसलमान' के रूप में स्वीकृत थे; कानून भी 'पब्लिक लॉ' के अंतर्गत 'व्यक्ति' को स्वीकार करता था तो 'पर्सनल लॉ' के तहत 'धर्माधारित समुदाय' को। भारतीय समाज को 'राज' ने अपने नृतत्वशास्त्रीय परियोजना में जाति, नस्ल आदि के खाँचों में ठोस रूप दिया था। भारत इस 'राज' के लिए एक जीवित अजायबघर था जहाँ 'राज' की विधेयवादी समझ के अनुरूप संस्कृति की हर अवस्था विद्यमान थी। भारतीय इस 'राज' के लिए कई श्रेणियों में बंटे हुए थे। यह 'राज' भारतीय पुरुषों में कुछ को 'स्त्रैण' कहता था तो कुछ को 'योद्धा' करार देता था। 'राज' का नृतत्वशास्त्र बंगालियों को 'स्त्रैण' मानता था तो सिखों को 'योद्धा'। यह 'राज' मुसलमानों को 'विद्रोही कौम' का दर्जा देता था। भारत के कुछ लोग उसके लिए

---

1 'समकालीन सृजन' (अंक–18, वर्ष 1998, कलकत्ता) के विशेषांक 'हिंदी का भविष्य' में शिवकुमार मिश्र के लेख 'हिंदी समाज में नवजागरण' से उद्धृत, पृ.29–35।

सीधे–सीधे 'ठग' अथवा 'आपराधिक जाति' के थे। इसी समझ के तहत उसने अपना प्रशासनिक ढाँचा बनाया।[1]

सन 'सत्तावन' के बाद का 'राज' अगर लार्ड लिटन के दरबार के माध्यम से एक तरफ भारत में मौजूद 'राजा–प्रजा' की पुरानी प्रणाली को नये सिरे से मंजूरी दे रहा था तो शासन में प्रजा की भागीदारी के तर्क से 'समुदाय' के 'प्रतिनिधियों' को भी। यह राज सिर्फ उत्पीड़न और शोषण पर आधारित न था – इसमें 'जनमत' का भी औपचारिक तौर पर ध्यान रखा जाता था। इस 'राज' में अगर अखबार 'प्रजा का प्रतिनिधि–स्वरूप' थे तो नगरपालिकाएँ शहरी जनता के लिए 'अपने काज' खुद करने की राज–प्रदत्त सुविधा। भारतेंदु के शब्दों में अब "राजा ने प्रजा का स्वत्व" पहचान लिया था। ऐसे में सन 'सत्तावन' की विरासत से 'हिंदी नवजागरण'हर स्तर पर अपने को अलगाता है। सचेत 'वैरभाव' सन् 'सत्तावन की विरासत है तो 'सचेत राजभक्ति' भारतेंदु युग की विशेषता। अगर 'सत्तावन' की लड़ाई राजनीति के मैदान में तख्तापलट के लिए किसान से सिपाही–सूबेदार बने लोगों के नेतृत्व में लड़ी गई थी तो बाद की लड़ाई संस्कृति के मैदान में मध्यवर्ग द्वारा लड़ी जा रही थी। इसमें 'सिपाही' नहीं थे; बुद्धिजीवी थे यानी लड़ाई का वर्गीय–चरित्र बदल गया था। 'सत्तावन' की लड़ाई में सचमुच की तोप गरजी थी', बंदूकों ने आग उगला था। 'सत्तावन' के बाद की लड़ाई में अर्जियाँ थीं, मेमोरंडम थे। भारतेंदु के शब्दों में 'स्पीचों के गोले' दागे जा रहे थे; 'कमिटी की फौज' और 'ऐजुकेशन की सेना' तैयार की जा रही थी। यह 'नवजागरण' शेष प्रदेशों के 'नवजागरण' से इतना अलग नहीं हो सकता कि बेमेल जान पड़े। इसका सीधा–सहज मगर हर 'सहज' की तरह महत्त्वपूर्ण कारण है, इस युग में संचार साधनों का विकास--विस्तार। रेल–डाक–तार सभी का जाल फैलता गया और सन् 1882 ई. के हंटर आयोग के सामने सर सैयद को कहना पड़ा कि एक युगांतकारी बदलाव आया है पिछले तीस बरसों में; कि अब दूर–दराज के लोग अपनी–अपनी जगह से ऐसे बात कर लेते हैं मानो 'एक कमरे में बैठे' हों। भारतेंदु मुद्रण–यंत्र के प्रभाव की तुलना शिव के त्रिशूल और विष्णु के चक्र से करते हुए मान रहे थे कि "आज छापे द्वारा विविध विद्याविभूषित पुस्तकें सर्वसाधारण को सहज ही में प्राप्त हो सकती हैं, इससे मनुष्य समाज में एक नूतन युग–सा आविर्भूत हुआ दिखाई देता है, इसमें कोई संदेह नहीं।"[2] 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी--साहित्य के इतिहास के पात्र जिस 'नूतन युग' को निस्संदेह स्वीकार कर रहे हैं, रामविलास जी उस पर ध्यान नहीं देते।

रामविलास जी की व्याख्या से अलग कुछ व्याख्याएँ 'हिंदी नवजागरण' को भ्रामक नाम बताती हैं। ऐसी ही एक व्याख्या 'रस्साकशी – 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत' नामक पुस्तक में है। पुस्तक का तर्क है कि "हिंदी नवजागरण

---

1 थॉमस आर मेटकॉफ. (2005) – 'आइडियालॉजिज ऑफ द राज' फाउंडेशन बुक्स, दिल्ली।

2 हेमंत शर्मा (संपा. 2000) – 'भारतेंदु समग्र' हिंदी प्रचारक पब्लि. लि., वाराणसी, पृ.564।

एक भ्रामक नाम है क्योंकि यह अपनी ऐतिहासिक अंतर्वस्तु को प्रकट नहीं करता। इससे गलतफहमी होती है कि यह भारतीय नवजागरण जैसा ही था। ... ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं कि यह एक ऐसी धारणा थी जो नवजागरण के विरोध में शुरु हुई थी जिसके आंदोलन के केंद्रीय मुद्दे कुछ और ही थे... पश्चिमोत्तर प्रांत में ब्राह्मो और 'आर्यों' के सुधार आंदोलन के खिलाफ काशी धर्मसभा, प्रयाग हिंदू समाज, मध्य हिंदू समाज और श्रीभारत धर्ममहामंडल जैसी सनातनी संस्थाएँ उठ खड़ी हुईं। 19वीं सदी के ज्यादातर लेखक, जिनके साहित्य में मिलने वाली चेतना को 'हिंदी नवजागरण' कहा जाता है – वास्तव में इन्हीं सनातनी संस्थाओं से जुड़े हुए लेखक थे। जिस तरह सुधार की संस्थाएँ आंदोलनकारी थीं, उसी तरह उनके विरोध में बनी परंपरावादियों की संस्थाएँ भी अपना आंदोलन चलाती थीं.... हिंदी नवजागरण के लेखकों की सामाजिक–धार्मिक चेतना ब्राह्मो और आर्यों के सुधार आंदोलन के समर्थन में नहीं, उनके विरोध या प्रतिक्रिया में उभरी थीं... ।"[1]

'ऐतिहासिक अंतर्वस्तु' की फिक्र करती यह व्याख्या दरअसल खुद ही अनैतिहासिकता की चपेट में है वरना 'सनातन' के साथ 'संस्था' शब्द जोड़ते हुए थोड़ी हिचक जरूरी थी। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की एक विशेषता संस्था, सभा, सोसायटी आदि है। इसका आत्यांतिक रिश्ता योरोपीय 'प्रबोधन' से है जिसने मनुष्य को बुद्धितत्व से परिभाषित किया और विश्व को बुद्धिजन्य व्यवस्था के रूप में देखा। बुद्धिजन्य–व्यवस्था स्थापित करने का उपकरण बनी विधि–व्यवस्था। यह इहलौकिक 'विधि' थी; इसकी न तो कोई दिव्य उत्पत्ति थी और न ही दिव्य उत्पत्ति को स्वीकार करती किसी सत्ता मसलन पोप या सम्राट में यह निहित मानी जाती थी। यह निर्वैयक्तिक विधि व्यवस्था थी, स्वयं बुद्धि का साकार रूप। संस्थाएँ स्वयं बुद्धिजन्य व्यवस्था का हिस्सा थीं। अगर पिछले युग में 'संस्था' से मिलता–जुलता कुछ मौजूद हो तो भी इसका सांगठनिक सिद्धांत 'प्रबोधन' के बाद बनी संस्थाओं से अलग है। हम पिछले युग के 'मठ–महंत–दीक्षित' की बराबरी में, संप्रदायों की बराबरी में आज के 'संस्था–अध्यक्ष–सचिव–कोषाध्यक्ष–सदस्य' वाली पद्धति को नहीं बैठा सकते। पहले में तर्कातीत 'हैसियत' प्रधान है; दूसरे में बुद्धितत्व से परिभाषित होने वाले व्यक्ति की 'योग्यता'। पहले में 'आचारज जू महाप्रभू' हैं तो दूसरे में अध्यक्ष महोदय सर्वानुमति अथवा बहुमत से चुना गया व्यक्ति। पहले में 'आचारज जू' के आदेश ही कानून हैं – दूसरे में 'अध्यक्ष' जी पहले से तय कर ली गई कार्य योजना (जो पारस्परिक विचार–विमर्श और सर्वानुमति से बनने के कारण जनमत की अभिव्यक्ति है) पर अमल करने वाले एक सार्वजनिक व्यक्तित्व जिनके हर कदम की परीक्षा की जाती है।

---

[1] वीरभारत तलवार (2002) – 'रस्साकशी – 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत' – सारांश प्रकाशक, दिल्ली, पृ.154–55।

यह ठीक है कि 'सनातन धर्म' को मानने वाले मध्यवर्गीय लोगों ने 'संस्थाएँ' खड़ी कीं और ये आर्य समाज तथा ब्रह्म समाज के विरोध में उठ खड़ी हुईं लेकिन यह भी देखना चाहिए कि स्वयं 'आर्यों' या 'ब्राह्मो' की संस्थाएँ किसी प्रतिक्रिया में उठ खड़ी हुई थीं या नहीं? समाज सुधार में तत्पर ये संस्थाएँ अगर सुधार कार्य में जुटीं तो क्या उनके सामने अपने समाज की आलोचना मौजूद थी? यह आलोचना कौन कर रहा था? विधि–आधारित अंग्रेजी राज की भारत के बारे में बुनियादी धारणा थी कि यह धार्मिक–समुदायों का देश है और धर्म के दोषपूर्ण होने से भारत 'सभ्यता' के सोपानक्रम पर 'सभ्य' और 'बर्बर' लोगों के बीच कहीं अटका हुआ देश है। 'राज' को अपने धर्म पर गुमान था। यह प्रबोधनकालीन मनीषा के अनुकूल बुद्धिसंगत प्रोटेस्टेंट धर्म था। 'राज' ने अपनी विधि–व्यवस्था से भारतीय धर्मों को न सिर्फ पाठबद्ध और संहिताबद्ध करके मानकीकृत किया बल्कि उसे सपाट और एकल माना। उसने कानून के माध्यम से 'सुधार' के प्रयत्न किए। इस सिलसिले में लार्ड बेंटिक के 'सुधार' प्रमुख हैं। ईसाई मिशनरी सक्रिय थे – वे भी भारत में मौजूद धर्मों की आलोचना कर रहे थे। ब्रह्मसमाजी और आर्यसमाजी, 'राज' की धर्म विषयक समझ को आत्मसात करके सुधार–योजना में प्रवृत हुए। इनका आदर्श 'वेदांत' था। सनातन धर्म वाले इनके विरुद्ध अगर उठ खड़े हुए तो इसलिए कि इनकी धर्म विषयक समझ ईसाई मिशनरियों की समझ से मिलती थी और ईसाई मिशनरियों को सनातनी, 'राज' का ही अंग मानते थे।

ऐसा नहीं कि वीरभारत जी इस तथ्य की नोटिस नहीं लेते लेकिन उनकी रणनीति दूसरी है। वे आर्य समाज को सुधारोन्मुख तो दिखाना चाहते ही हैं; उसे धर्म की योरोपीय समझ से सर्वथा मुक्त भी बताना चाहते हैं। वे पहले 'भारतीय नवजागरण' और 'हिंदी नवजागरण' की दो परस्पर विरुद्ध कोटियाँ बनाते हैं। भारतीय नवजागरण का प्रतिनिधित्व उनके विवेचन में आर्य समाज और ब्रह्म समाज करते हैं क्योंकि ये दोनों बुद्धिवादी हैं। हिंदी नवजागरण का प्रतिनिधित्व हिंदी लेखक करते हैं जो 'सनातनी संस्थाओं' के सदस्य होने से बुद्धिविरोधी हैं। अतः उनका विवेचन हिंदी बुद्धिजीवियों के बुद्धिविरोधी रूख को प्रतिगामी ठहराता है। भारतीय नवजागरण को बुद्धिवादी बताने के बाद उनका विवेचन 'हिंदी नवजागरण' को उसकी सनातनी समझ के कारण 'नवजागरण' की संज्ञा के लायक नहीं समझता। इसके बाद भारतीय नवजागरण के भीतर भी वे दो भाग करते हैं। आर्य समाज और ब्रह्मो समाज के बीच वे तुलना करते हैं। ब्रह्मो समाज या प्रार्थना समाज को योरोपीय आधुनिकता से प्रभावित और आर्यसमाज को देसी परंपरा से जुड़ा बताकर वे एक ही साथ असली, शुद्ध और सुधरे हुए भारत का आख्यान रखते हैं। इसका एक साक्ष्य गौरतलब है।

'हिंदू नवजागरण की विचारधारा' नामक पुस्तक (वीरभारत जी के अनुसार इसे 'रस्साकशी' के अंश के रूप में लिखा गया था) के अनुसार – "दयानंद अंग्रेजी शिक्षा और योरोपीय आधुनिकता के संपर्क में कभी नहीं आये थे... दयानंद का नवजागरण अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी मूल्यों से प्रेरित न होकर हिंदू धर्म के पतन के खिलाफ एक

हिंदू की प्रतिक्रिया के रूप में उभरा था... इस विद्रोह की जड़ें लोकतंत्र और बुद्धि विवेकशीलता की आधुनिक यूरोपीय धारणाओं में न होकर भारत की देसी परंपरा में थीं... 19वीं सदी के भारतीय नवजागरण में राजा राममोहन राय और रानाडे जैसे सुधारकों ने बुद्धि विवेकशीलता की धारणा पश्चिमी शिक्षा के संपर्क से हासिल की थी लेकिन दयानंद ने पश्चिमी शिक्षा के बिना ही, प्राचीन देसी परंपरा के अंदर से इसे विकसित किया।"[1]

सवाल यह है कि अंग्रेजी शिक्षा से दूर रहना और योरोपीय आधुनिकता से दूर रहना क्या एक ही बात है? क्या दयानंद ब्रिटिश प्रजा नहीं थे? योरोपीय आधुनिकता के भीतर ही वे अपनी संस्था 'आर्य समाज' खड़ा कर पाये। मिशनरी तर्ज पर 'शुद्धि' और 'प्रचार' का आंदोलन चला; 'समाजी शिक्षा' भी इस मिशनरी कार्य का हिस्सा थी। यह मिशनरी ही थे जो पुस्तक छाप–छाप कर 'सुधर्म' फैलाते थे। आर्य समाज भी इसी राह पर चला। दयानंद जी को भी 'राज' ने अपनी बाकी प्रजा की तरह 'धर्म का अधिकार' दिया था। रही बात अंग्रेजी शिक्षा की तो प्रिंट के उस युग में भाषा का बंधन अनुवाद ने तोड़ दिया था। तलवार जी इसे खुद स्वीकार करते हैं – "दयानंद पहली बार 1869 में शास्त्रार्थ के लिए बनारस गये तो उनका संपर्क ईसाई मिशनरियों और मराठी धर्म सुधारकों के अलावा बंगाली ब्रह्मो समाजियों से हुआं जिन्होंने देवेन्द्रनाथ ठाकुर की ओर से उन्हें कलकत्ते आने का न्यौता दिया। कलकत्ते में ब्रह्म समाजियों ने न सिर्फ उनके खाने–रहने की व्यवस्था की बल्कि उनके व्याख्यान भी करवाये। उन्होंने उत्साहपूर्वक दयानंद को बंगाल में चल रहे धर्म और समाज–सुधार आंदोलन से परिचित कराया, उनके लिए सुधार–संबंधी साहित्य जुटाया और उसे पढ़ने समझने के लिए अनुवादकों की सुविधा दिलायी। उन्हें कलकत्ते में सुधार के कामों लगी विभिन्न संस्थाएँ दिखायी और कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलाया। इन सबका दयानंद के विकास पर महत्त्वपूर्ण असर पड़ा। जब दयानंद बम्बई गए तो वहाँ प्रार्थना समाज के सदस्यों की मदद से उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। खुद प्रार्थना समाज ब्रह्मो समाजियों की मदद और केशवचंद्र सेन की प्रेरणा से बना था।"[2] जब देवेंद्र नाथठाकुर, केशवचंद्र सेन और रानाडे के साथ आर्य समाज का संबंध 'संस्थाओं, अनुवादकों और सुधार संबंधी साहित्य' से इतना प्रकट है कि 'इसका महत्त्वपूर्ण असर पड़ा' तो यह कहने का क्या अर्थ रह जाता है कि 'दयानंद योरोपीय आधुनिकता के संपर्क में नहीं आये थे'?

उपर्युक्त दोनों (रामविलास जी और वीरभारत जी) व्याख्याएँ प्रत्यक्षतया अलग जान पड़ती हैं परंतु उनका सरोकार एक है। दोनों व्याख्याएँ भारतीय नवजागरण से हिंदी नवजागरण को अलगाती हैं। दोनों का उद्देश्य हिंदी नवजागरण को योरोपीय

---

1 वीरभारत तलवार (2001) – हिंदू नवजागरण की विचारधारा : सत्यार्थ प्रकाश समालोचना का एक प्रयास, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, देखें भूमिका।

2 वही

आधुनिकता से अलग और देसी परंपरा के विकास के रूप में दखाना है। रामविलास जी सन् सत्तावन को 'जातीय संग्राम' कहकर उसके दायरे में भारतेंदु मंडल तथा दयानंद दोनों को समेट लेते हैं तो वीर भारत जी देसी परंपरा का सातत्य सिर्फ दयानंद जी के प्रयासों में सिद्ध करना चाहते हैं। दोनों ही के विवेचन में 'हिंदी' असली भारतीयता की दावेदार है। फर्क बस इतना भर है कि रामविलास जी इसमें हिंदी–लेखक को भी शामिल करते हैं जबकि वीरभारत जी हिंदी में उपदेश करने वाले दयानंद जी को।

ये व्याख्याएँ अवधारणागत परेशानी का पता देती हैं। इनमें 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के जटिल परिवर्तनों को सिर्फ 'सुधार' और 'सुधार विरोध' अथवा जातीय बनाम विजातीय के द्वन्द्व में समेट दिया जाता है। 'सुधार' स्वयं कैसे प्रमुख सरोकार बनता है, 'राज' की प्रविधि क्या थी; संस्थाएँ कैसे और क्यों बनी, जातीय उन्नति से क्या आशय था; इस युग के संचार माध्यम क्या बदलाव ला रहे थे – जैसे जरूरी सवाल इन व्याख्याओं से छूट जाते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास के 'भारतेंदु युग' को एक व्यापक धरातल पर समझने में लोकवृत्त की धारणा उपयोगी है। इस अवधारणा की उपयोगिता को चिह्नित करते हुए प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल अपने आलेख 'लोकवृत्त : हिंदी भाषा का या हिंदी प्रदेश का?' में कहते हैं – "उन्नीसवीं सदी के हिंदी–प्रदेश की सांस्कृतिक–साहित्यिक गतिविधियों के संदर्भ में लोकवृत्त की अवधारणा निश्चय ही उपयोगी है। इसका उपयोग सिर्फ नया नहीं प्रासंगिक भी होगा।"[1] इसका कारण यह है कि 1. "उन्नीसवीं सदी की उलझन भरी प्रक्रियाओं की चर्चा साहित्य के संदर्भ में, अग्रणी व्यक्तियों और उनकी गतिविधियों तक सिमट कर रह जाती है। ये गतिविधियाँ जिस सामाजिक रूपांतरण की परिणति थीं, और स्वयं उनके फलस्वरूप लोकमानस में जो परिवर्तन आ रहे थे – दोनों ही ऐसी चरितनायक परक चर्चा के हाशिए पर चले जाते हैं। 'खोज' इस बात की तरफ चल पड़ती है कि 'नायक' कौन और 'खलनायक' कौन?" 2. "जटिल ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को केवल चरितनायकों की गतिविधियों तक समेट देना, उस समय विशेष की अपनी विशिष्टताओं की उपेक्षा करना, वर्तमान और अतीत के अंतस्संबंध का कतई ध्यान न रखना – ये इस पद्धति के लक्षण हैं।" 3. लोकवृत्त की अवधारणा ऐसी नायक–खलनायकपरक पद्धति का विचारोत्तेजक विकल्प प्रस्तुत करती है। लोकवृत्त की विकास–प्रक्रिया और उसकी विशेषताओं पर केंद्रित–दृष्टि नायक–खलनायक निर्धारण के पचड़े में नहीं पड़ती। अग्रणी व्यक्तियों की गतिविधियों का मूल्यांकन ऐसी दृष्टि अवश्य करती है, लेकिन उसका ध्यान इस बात पर भी रहता है कि ऐसी गतिविधियों से फलीभूत मंचों, संस्थाओं, पत्र–पत्रिकाओं में चरितनायकों के अलावा और भी लोग थे... अंततः ऐसे ही लोगों के 'कहने' और 'करने' से उस

---

[1] पुरुषोत्तम अग्रवाल (2003) – लोकवृत्त : हिंदी भाषा का या हिंदी प्रदेश का? 'आलोचना' अक्टूबर–दिसंबर 2003, नई दिल्ली, पृ.113–125।

लोकमानस का इतिहास–भूगोल सचमुच पता चलता है जो इस नये लोकवृत्त के परिणामस्वरूप निर्मित हो रहा था।"[1]

इस शोध–प्रबंध के अध्याय एक में लोकवृत्त की अवधारणा और योरोपीय संदर्भ में उसके विकास की चर्चा की गई है। भारतीय संदर्भ में इसके विकास और उसकी विशेषताओं को परखने की कोशिश की गई है; साथ ही देसी–लोकवृत्त की परंपरा को रेखांकित किया गया है। अध्याय दो में भारत में 'कंपनी राज' से लेकर 'काऊन राज' तक विचारधारात्मक स्तर पर आये महत्त्वपूर्ण बदलावों की चर्चा की गई है। इसके अंतर्गत विधि–व्यवस्था की स्थापना, भारतीय ज्ञान–परंपरा के अधिग्रहण और पुनर्व्याख्या तथा कानून और शिक्षा के जरिए भारतीय समाज को बदलने पर कटिबद्ध 'राज' के सभ्यतागत श्रेष्ठता के दावों को रेखांकित किया गया है। 'राज' द्वारा किये जा रहे सामाजिक बदलावों की भारतीय समाज में कैसी प्रतिक्रिया हुई – यह अध्याय तीन की मुख्य चिंता है। इस अध्याय में ढाँचागत परिवर्तन के बीच हिंदी बुद्धिजीवी वर्ग के निर्माण और उसके सरोकार की चर्चा की गई है। प्रेस और प्रकाशन से इनके रिश्तों को पहचानने की कोशिश की गई है। इस क्रम में साहित्य की धारणा और उद्देश्य में आये परिवर्तन को लक्ष्य किया गया है। अध्याय चार हिंदी–लोकवृत्त में जारी प्रमुख बहस और हिंदी–हिंदू–हिंदुस्तान से उसके संबंध पर प्रकाश डालता है। इस अध्याय में हिंदी–उर्दू विवाद से हिंदी–उर्दू जातीय चेतना, इतिहासबोध और अस्मिता–निर्माण के संबंधों को खोजने की कोशिश की गई है। स्वत्व–चिंता के आग्रहों के पारस्परिक अंतर और उसकी परिणतियों को चिह्नित करने का प्रयास किया गया है। अध्याय पाँच की मुख्य चिंता है कि हिंदी लोकवृत्त में जारी बहसों में स्त्री की कैसी छवि प्रस्तावित की जा रही थी? यह अध्याय 'स्त्री' की विशेष छवि के गढ़ने के कारणों की पड़ताल करता है, साथ ही यह दिखाने के प्रयास करता है कि स्त्रियाँ अपनी रूढ़छवि का सक्रिय प्रतिरोध कर रही थीं। अध्याय छः की मुख्य चिंता साहित्य के प्रतिमान की है। अध्याय इस बात को चिह्नित करने का प्रयास करता है कि प्रिंट की तकनीक सूचना का जनतंत्रीकरण करती है, इसलिए भाषा अथवा साहित्य का कोई एक मानक बनाना आसान नहीं होता। इस अध्याय में हिंदी लोकवृत्त के राजनीतिक पक्ष की भी चर्चा की गई है।

यह शोध–प्रबंध एक छोटे–से कालखंड के ढाँचागत बदलाव और उसकी परिणतियों को पहचानने की कोशिश है। इसमें कार्य–कारण की कोई सुव्यवस्थित श्रृंखला अथवा कालक्रम के अनुसार होने वाले हर परिवर्तन को देखने की चेष्टा नहीं की गई है। जोर विभिन्न बदलावों के आपसी संबंध को चिह्नित करने पर रहा है। इस शोध–प्रबंध में किसी घटना का उल्लेख किसी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति के साक्ष्य के रूप में

---

[1] पुरुषोत्तम अग्रवाल (2003) – लोकवृत्त : हिंदी भाषा का या हिंदी प्रदेश का? 'आलोचना' अक्टूबर–दिसंबर 2003, नई दिल्ली, पृ.113–125।

किया गया है। एक प्रवृत्ति से संबंधित अनेक घटनाएँ अथवा पात्रों के नामोल्लेख से इस 'प्रबंध' में बचने की कोशिश की गई है।

इस शोध–प्रबंध के निर्देशक प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल मेरे लिए सिर्फ शोध–निर्देशक नहीं। आज, जब सारा समय हाथ से निकल गया तो मन में गहरा पछतावा है कि इस सागर के पास मुक्तभाव से देने के लिए ज्ञान का अक्षर भंडार है लेकिन मेरी अंजुरी ही छोटी थी। मैंने अपने गुरु को पिछले नौ वर्षों में एम.ए. की कक्षा से लेकर सार्वजनिक सभा–संगोष्ठी, टेलीविजन पर जारी बहसों, पुस्तक, जर्नल, अखबार हर जगह ढूँढ़ा और उनके खींचे हुए ज्ञान क्षेत्र के भीतर मेरे भाव–क्षेत्र ने आकार पाया। मेरे गुरु शब्द के सटीक अर्थों में 'पब्लिक मेन' हैं और जिरह उनकी विशेषता! वे वर्चस्व के हर तंत्र को चाहे वह धर्मसत्ता की हो; राज्यसत्ता की या समाजसत्ता की – अपनी गहरी प्रश्नाकुलता से चुनौती देते हैं। इस चुनौती के पीछे छुपा रहता है कबीर का करुणा–भाव जो निरंतर सबको बराबरी का दर्जा देने की आतुर पुकार है। जैसे शेष गतिविधियों में गुरु के बताये रास्ते पर चलने की कोशिश की वैसे ही इस शोध–प्रबंध में। अगर पथ से भटका होऊँ तो यह मेरी अक्षमता है।

मित्रता अमूल्य है और मोल–भाव से भरे इस समय में मिलती नहीं। सौभाग्यशाली हूँ कि बिना मांगे मुझे मित्रों के रूप में मोती मिले! साथी आलोक ने पाठ–शुद्धि में भरपूर मदद की। अजफर, नवनीत, प्रणव, प्रकाश, प्रियंवद, सुमेल, समर, समीर, धीरेंद्र, ऋषिका, शेफाली सबने अपने–अपने ढंग से मनोबल बनाये रखने और लिखने के कठिन काम को सुगम बनाने में मदद की। इन सबका कृतज्ञ हूँ।

पंकज–मेधा को यथायोग्य!

भाई विक्रम अपने काम में दक्ष हैं। इस 'प्रबंध' को मुद्रित करने के लिए समय बहुत कम था लेकिन उन्होंने इसे अपने कौशल से कर दिखाया। उनका आभार!

इसे समाप्त करते हुए अपने लिए यही कि –

काम थे इश्क में बहुत पर मी'र।
हम तो फारिग हुए शिताबी से।।

चंदन कुमार श्रीवास्तव
भारतीय भाषा केंद्र,
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

अध्याय : एक

लोकवृत्त : अवधारणा और समस्याएँ

लोकवृत्त क्या है? लोकवृत्त की अवधारणा का विकास

हिंदी क्षेत्र के संदर्भ में लोकवृत्त : अध्ययन की समस्याएँ

देसी लोकवृत्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

लोकवृत्त 'जनमत' निर्माण की प्रक्रिया और संस्था दोनों है। किसी जनतंत्र में जनमत ही निर्धारित करता है कि किन हितों को केंद्रीय स्थान मिलेगा और कौन–से सरोकार हाशिए पर रहेंगे और यह भी कि किन बातों को 'हित–चिंता' के रूप में गढ़ा जाएगा। 'लोकवृत्त' प्रतिनिधित्व पर आधारित राजव्यवस्था से बाहर संभव नहीं। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का हिंदी–साहित्य प्रतिनिधित्व को स्वीकार करने वाली राजव्यवस्था के भीतर 'हित–चिंता' के दायरे में आकार लेता साहित्य है और 'जनमत' को इसका आधार बनाता है। यह इस युग (1850 ई. – 1900 ई.) की नई परिघटना है। इसके कई साक्ष्य मिलते हैं और यहाँ यह जानना दिलचस्प हो सकता है कि इस युग का हिंदी–लेखक स्वयं 'जनमत' के बारे में क्या सोच रहा था?

'हिंदी–प्रदीप' (संपादक–बालकृष्ण भट्ट) के मई–जून (1888 ई.) के अंक में एक लेख 'पब्लिक ओपीनियन' शीर्षक और 'सर्वसाधारण के 'एकमत्य' उपशीर्षक से प्रकाशित हुआ। यह लेख उस वक्त के हिंदी–क्षेत्र (पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध) में जनमत–निर्माण की प्रक्रिया का एक साक्ष्य है और किन्हीं अर्थों में अपनी ऐतिहासिक विशिष्टता का संकेत भी करता है। लेख का आरंभ 'पब्लिक ओपीनियन' की महत्ता के रेखांकन से होता है। लेखक इसका महिमा–गान ऐसे करता है मानो यह साक्षात् ईश्वर की विभूति हो। बिल्कुल 'बहिरो सुनै, मूक पुनि बोले; रंक चलै सिर छत्र धराई' वाले अंदाज में वह गुनता है – "यह वह वस्तु है जो संसार को एक कर सकती है : सूर्य को पश्चिम में उगा सकती है; विन्ध्य पर्वत को चूर–चूर कर रेत में मिला सकती है....।" लेकिन इन अतिशयोक्तियों के तुरंत बाद लेखक 'पब्लिक ओपीनियन' के आधार–तत्व का रेखांकन करता है – "कहाँ तक कहें इस्में वह शक्ति है कि ईश्वर को भी पकड़कर कठपुतली की भांति नचा सक्ती है। मनुष्य में बुद्धितत्व ऐसी अद्‌भुत शक्ति संपादित की गई है जिसके द्वारा न जानिए कितने ऐसे चमत्कारी लोकोत्तर चातुरी के काम (मनुष्य ने) कर दिखाया और दिखाया जाता है... अब सोचना चाहिए जब एक–एक मनुष्य में कभी–कभी वह तत्व धर दिया जाता है तब शत सहस्र अथवा लक्ष पुरुषों की व्यक्ति (यहाँ आशय अभिव्यक्ति से है) एक होकर, Individuality प्रथकत्वाभिमान दूर कर समुदाय–शक्ति में बँधकर चलै तो कौन–सा ऐसा काम है जो न हो सकै....।"

लेखक को अचानक ही जैसे बोध हो कि 'ईश्वर को कठपुतली' की तरह नचाने वाली यह शक्ति 'हम' (भारत देशवासी) लोगों के लिए सर्वथा नयी वस्तु है। वह इससे इनकार करता हुआ तर्क देता है – "यह एकमत्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जो हमारे लिए अप्राप्य रही हो बरन विविध मणि–मुक्ता–प्रवाल की भांति यह सदा से हमारे गले का हार और सर्वाङ.ग सुंदर आर्य–जाति का भूषण था। वैदिक, पौराणिक तथा बौद्ध–जैनियों के समय की अनेकानेक ऐसी आख्यायिकाएँ प्रचलित हैं जिनके गूढ़ार्थ या मर्म का निचोड़ इस एकमत्य पर ही आ पड़ता है। इस बिगड़ी दशा में भी हमारी आज की

चाल–ढ़ाल, रीति–रसम, तेहवार–वार, मेले–ठेले सबों की असलियत या आदि कारण पता लगाते चलिए तो अन्त में उसकी बुनियाद इस एकमत्य ही को पाइएगा....।"

'जनमत' के सहारे स्थापित 'एकमत्य' को आर्यजाति का 'भूषण' घोषित करने वाला लेखक अपनी स्थापना की पुष्टि में एक उदाहरण देता है और दिलचस्प यह है कि इस उदाहरण में आख्यायिका को एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है – "महाराजा रामचंद्र जिनको सब प्रजा पिता से भी विशेष प्यार करती थी और हिन्दू के वीर्यमात्र को जिनका नाम सुनते ही असीम भक्ति का उदय होता है उनके समय में भी 'पब्लिक ओपीनियन' का इतना जोर था कि जिस्के भय से उन्हें सीता सी सती का त्याग करना ही पड़ा"। इस उदाहरण के बाद लेखक को आधार मिल जाता है कि वह 'जनमत' से 'राजा' (शासन) के रिश्ते को परिभाषित करे – "रामचंद्र सीता को न त्यागते तो उनका कोई कुछ नहीं कर सकता था पर नहीं राजा का मुख्य काम है सर्वसाधारण के एकमत्य का बड़ा ध्यान रक्खै... जब तक सूर्य–चंद्रमा है तब तक उस न्यायकारी राजा का यश स्थिर रहेगा जो अपनी प्रजा की साधारण अनुमति अर्थात् 'पब्लिक ओपीनियन' को आज़ादगी के साथ कायम रक्खेगा।"

इस लंबे उद्धरण के आलोक में हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लेखक 'जनमत' के बारे में क्या सोचता है –

(1) 'पब्लिक ओपीनियन' को शासन–व्यवस्था की तरफ से आज़ादी होनी चाहिए। यह शासन के 'न्यायकारी' होने का महत्त्वपूर्ण घटक है। (2) 'पब्लिक ओपीनियन' सर्वसाधारण के बीच किन्हीं मुद्दों पर 'एकमत्य' स्थापित करने वाली शक्ति है – वह लोगों को समुदाय–शक्ति में बाँधती है। (3) 'पब्लिक ओपीनियन' का मूलाधार मनुष्य का बुद्धितत्व है। यही अभिव्यक्ति को संभव बनाता है। लेखक का 'बुद्धि' से क्या आशय है? इसका उत्तर संभवतया इन पंक्तियों में ढूँढ़ा जा सकता है – "एक बार भट्ट जी से एक व्यक्ति ने पूछा – 'आप किस मत के अनुयायी हैं, सनातन धर्म के या आर्य समाज के? भट्ट जी ने जवाब दिया – 'बुद्धि के'।"[1] (4) 'पब्लिक ओपीनियन' के लिए लेखक के पास कोई सुस्थिर शब्द नहीं है (क्या इसका कारण यह है कि उस वक्त के लिए पब्लिक ओपीनियन एक नयी अवधारणा है?)। वह कभी इसके लिए 'सर्वसाधारण का एकमत्य' और कभी 'प्रजा की साधारण अनुमति' जैसे वाक्यांशों का प्रयोग करता है। इसके बावजूद 'पब्लिक ओपीनियन' के बारे में लेखक की राय है कि 'वह ऐसी वस्तु नहीं जो हमारे लिए अप्राप्य रही हो।'

'हिंदी प्रदीप' का उपर्युक्त लेख सन् 1888 ई. का है। इस समय तक भारतीय राष्ट्रीय–कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। कहा जा सकता है कि 'हिंदी प्रदीप' अपनी खास शैली में इस राजनीतिक बदलाव की नुमाइंदगी कर रहा था। लेकिन इससे बहुत पहले जनमत–निर्माण के मूलाधार 'बुद्धि' का महत्त्व कई अखबारों में समझाया जा रहा था। मसलन, सुदूर कलकत्ता से प्रकाशित 'उचितवक्ता' (सं.–दुर्गाप्रसाद मिश्र) में 25

सितंबर 1880 ई. को एक पाठक का पत्र छपा। 'उचितवक्ता' के संपादक को संबोधित इस लंबे पत्र की शुरुआत में कहा गया है – "बिना तर्क के किसी बात का निश्चय नहीं होता, बिना दोनों तरफ का प्रमाण सुने कोई बात स्थिर नहीं हो सकती। इसीलिए सुसभ्य गवर्नमेंटों में विचार करने के समय तर्क–वितर्क करने की रीति प्रचलित है, जिससे हर एक आदमी अपनी बात का प्रमाण अच्छी तरह से दे सकता है। हमारे हिंदी अखबारों में भी कुछ तर्क–वितर्क, छेड़–छाड़ होने लगी है।'[2]

बुद्धि और तर्क के सहारे पक्ष–प्रतिपक्ष के प्रमाण को जाँचने और निर्णय करने के माध्यम के रूप में, दूसरे शब्दों में जनमत–निर्माण की एक संस्था के रूप में इस युग के हिंदी बुद्धिजीवियों के लिए 'अखबार' का केंद्रीय महत्त्व था। भारतेन्दु–मण्डल के अग्रणी लेखकों में से एक चौधरी पं. बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' अपने पाठकों को यह बता रहे थे कि 'समाचार–पत्र या अखबार किसे कहते हैं'। सन् 1881 ई. के इस लेख में 'प्रेमघन' कहते हैं – "समाचार–पत्र के स्वाद से वंचित मनुष्य तो यही समझते हैं कि अखबार कागज की पोटली या पुलिन्दा है जिसमें कुछ बेसिर–पैर की खबर छपी होती है जैसे कलकत्ते में एक लड़की हुई "जिसके एक सींग, दो नाक, तीन हाथ, चार पैर और पाँच आँखें हैं" और समाचार–पत्र पंसारियों की पुड़िया बाँधने की चीज है।"[3] फिर वे अखबार का महत्त्व बताते हुए उसे "आजकल की कला का कल्पद्रुम" स्वीकार करते हैं जो "देशोन्नति, विद्या–बुद्धि, सभ्यता के प्रचार का उपाय" तथा "देश व जातियों में एकता उत्पन्न करने को और फूट के फल के सेवन से उत्पन्न रोग–मात्र की एकमात्र औषधि और "राजा और प्रजा के बीच की सत्य–इच्छा और सुख–दुख तथा प्रसन्नता और अप्रसन्नता प्रगट करने का उत्तम संबंध है।" 'प्रेमघन' अखबार को दूत मानते हैं जो 'छोटी–सी बात को भी दूर–दूर के मनुष्यों पर विदित करने में समर्थ है।'[4]

19वीं सदी के हिन्दी अखबार इस बात को स्वतःसिद्ध तथ्य मानकर चल रहे थे कि "जिस देश में जिस भाषा में और जिस समाज में समाचार–पत्र का चलन नहीं है तब तक उसकी उन्नति की आशा भी दुराशा मात्र है"[5] और इन अखबारों को इसका कारण भी बिलकुल स्पष्ट था। ये स्वयं को देश–दुनिया का दर्पण तो मानते ही थे, अपने को सुशासन के पक्ष में खड़े दूत की भूमिका में भी देखते थे। कलकत्ता से प्रकाशित 'भारतमित्र' अपने पाठकों को बता रहा था कि अखबार वो चीज है 'जिससे घर में कोठरी में बैठके सारी दुनिया को हथेली पर देख लो।' इसके साथ–साथ यह समाचार या खबर की एक परिभाषा भी गढ़ रहा था। इस समाचार–पत्र को यह स्पष्ट था कि (1) समाचार के सहारे राजा को अपनी प्रजा का हाल मालूम होता है और (2) 'प्रजा' के लिए अखबार ही 'अपना सुख–दुख प्रधान राज्याधिकारियों को सुनाने' तथा प्रार्थना करने का मुख्य साधन है। 'भारतमित्र' की मान्यता थी कि इन दो बातों के बिना राज्य का शासन अच्छी तरह से नहीं चल सकता "इसलिए सुसभ्य प्रजाहितैषी राजा लोग समाचार–पत्रों को स्वाधीनता दे के उत्साहित करते हैं।"[6] स्पष्ट ही, 'भारतमित्र' सभ्य शासन का एक मापदंड समाचार पत्रों की स्वाधीनता को मानता है और साथ ही

इस बात की निशानदेही करता है कि शासन शासित जनता पर खबरों के सहारे नियंत्रण रखता है तथा इस नियंत्रण की बुनियाद है शासन का जनमत की अपेक्षाओं के अनुरूप चलना।

बालकृष्ण भट्ट 'पब्लिक ओपीनियन' के बारे में जो बात सन् 1888 ई. में 'हिंदी प्रदीप' के माध्यम से कह रहे थे उस बात को 'भारतमित्र' ने अपने शुरुआती अंक (17 मई, 1878) में इन शब्दों में रखा – "इससे राजा–प्रजा दोनों को सुख प्राप्त होता है, कारण राजा को बिना परिश्रम (और) बेतन के संसार में दूत मिल जाते हैं जो कि सर्वदा राजा को नाना तरह की खबरों से सावधान किए रहते हैं और प्रजा को राजा तक अपना कष्ट और अभाव के निवेदन करने का मुख्य उपाय और सुगम रास्ता यही है क्योंकि समाचार–पत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होता है और मुख्य तो हृदय–संस्कार करने को जैसा ये समर्थ है वैसा तो और कोई नहीं।"[7]

लेकिन, इन पंक्तियों में 'पब्लिक ओपीनियन' की प्रक्रिया बताने के बावजूद 'भारतमित्र' समाचार–पत्र का मुख्य काम हृदय–संस्कार मानता है। हृदय–संस्कार से 'भारतमित्र' का क्या आशय है? इसका एक उत्तर 'सार सुधानिधि' (प्रथम अंक – 1879 ई.) के द्वितीय वर्ष के 16वें अंक के सम्पादकीय वक्तव्य में मिलता है। संपादकीय का लक्ष्य राजनीतिक रूप से सचेत समुदाय का गठन करना है और पत्र का मानना है कि 'पछांह' (यानी पश्चिमोत्तर–प्रांत, जिसे संपादक हिन्दुस्तान कहता है) की जनता अभी तक राजनीति के नये स्वरूप और उसके द्वारा प्रदत्त अधिकारों से अवगत नहीं हुई है – "अभी तो बहुतों का संस्कार है कि राजनीति तो उसी को कहते हैं कि जिस में बंदर, सियार, बैल आदि की कथा (शायद यहाँ आशय पंचतंत्र की कथाओं से है) है जो कि मथुरा की बोली में छपी है। जिस देश में अभी राजनीति की उदारता और संकीर्णता समझना तो क्या स्थूल स्वरूप ही लोगों के ध्यान में नहीं आया है, उस देश के लोग जो उदार राजनीति की आलोचना से चमत्कृत होयेंगे इसमें विचित्रता क्या है?... अभी तक हमारे हिन्दुस्तानी भाइयों में से बहुतों का संस्कार ऐसा जटिल हो रहा है कि केवल अंगरेजी कपड़े पहने हुए मनुष्य को अपना हाकिम समझ लेते हैं।"[8] पत्र को दुख है कि 'पछांह' के लोग 'पुलिस के अमले और कोतवाल आदि को खुदावन्द' कहते हैं और 'हिंदुस्तानी रईसों को तुच्छ समझते' हैं। सारसुधानिधि अपने को इन 'पछांह' के लोगों का एक प्रतिनिधि मानता है। उसे अपने लोगों के राजनीतिक–संस्कार की फिक्र सताती है। पत्र के आत्मबोध को यह गवारा नहीं कि जिन लोगों की वह नुमाइंदगी कर रहा है वे लोग नई राजनीति द्वारा प्रदत्त अधिकारों से इतने अनजान रहें। अपने लोगों का राजनीति के स्वरूप से परिचित न होना उसे खलता है; उसके आत्मबोध में संकट पैदा करता है – 'वे योरोपियन, ग्रीक या जर्मन जिनसे गवर्नमेंट का कुछ भी संबंध नहीं है वे लोग वहाँ की यह दशा देखकर यहाँ (कलकत्ता में) हम लोगों के सामने उन हिंदुस्तानियों की नकल करते हैं, और (इनमें से) कितने ही संकीर्ण हृदय वालों को एक प्रकार (का) अहंकार होकर उनका संस्कार बिगड़ जाता है।' 'योरोपियन, ग्रीक या जर्मन'

के सामने किसी तरह तुच्छ साबित न हों और बता सकें कि हम सभ्य हैं – सारसुधानिधि की यह प्रबल चिंता है। इसी कारण पत्र का संकल्प था कि 'हिंदुस्तानियों' का राजनीतिक संस्कार होना चाहिए, बौद्धिक धरातल पर उनका उन्नयन होना चाहिए। इस काम में पत्र अपनी सक्रिय भूमिका देखता है क्योंकि उसका विश्वास है – 'राजनीति और समाजनीति का संशोधन जैसा समाचार–पत्रों से होता है वैसा दूसरे उपाय से नहीं हो सकता।'[9] इस पत्र का एक अजेंडा भी है, क्योंकि हिंदुस्तानियों के अविकसित राजनीतिक संस्कार के कारणों की चर्चा करते हुए पत्र के उपर्युक्त अंश में ही कहा गया है – 'इसके विचार में (कि हिंदुस्तानियों के राजनीतिक संस्कार क्यों अविकसित हैं) प्रवृत होने से युगवत् छह हेतु सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। प्रथम तो मुसलमानों का अत्याचार। दूसरे वर्तमान शासनकर्त्ताओं के चित्त में जो नेता भाव का अहंकार दृढ़ अधिकार करे हुआ है। तीसरे वर्तमान शासन–प्रणाली जो कि अभी भी कई अंशों में काले गोरे के भेद से कलुषित हो रही है। चौथे उच्च शिक्षा का अभाव। पाँचवे मातृभाषा की अवनति। छठे समाचार पत्रों की न्यूनता। ये ही छः कारण मूल और मुख्य जान पड़ते हैं।'

यहाँ सारसुधानिधि के 16वें अंक में छपे एक संपादकीय की चर्चा की जा रही है। लेख में हिंदी–पत्रकारों को उनके दायित्व के प्रति सचेत करते हुए कहा गया है कि वे 'हिंदुस्तानी भाइयों के राजनैतिक और समाजनैतिक संस्कारों को देख निराश हो राजनैतिक और समाजनैतिक विषयों की समालोचना छोड़ न दें।' पत्र इन विषयों की समालोचना को केंद्रीय मानते हुए लेखक–पत्रकार और अखबार की अग्रणी भूमिका देखता है – 'यदि विचार करके देखों तो ऊपर कहे हुए कारणों को सुधारने का एक वही छठा कारण है। जब हम सब संस्कारक कार्य में व्रती हुए हैं तो हम लोगों को उचित है कि यावज्जीवन हम गुरुत्तम कार्य–साधन में प्रवृत्त रहें', क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि 'जब–जब जो–जो राजनीति और समाजनीति के सुधारने के प्रयत्न हुए हैं, मानापमान सभी उनको सह्य करा पड़ा है।' पत्र को विश्वास है कि लेखकगण 'धीरता, साहस और अध्यवसाय' से इस काम में लगे रहे तो 'निसंदेह ईश्वर हमारा सहायक हो हमारे हिंदुस्तानियों के संस्कारों को सुधार हमारी ब्रिटिश गवर्नमेंट द्वारा भारतवर्ष की पूर्व स्वाधीनता, पूर्व समृद्धि और पूर्वोन्नति दिखाएगा। पत्र इसके लिए समाचार–पत्रों को एकमात्र उपाय मानता है – 'आपततः इसका उपाय एक आप ही सब समाचार–पत्र हो।'

उपर्युक्त उद्धरणों से 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी–साहित्य के बारे में कुछ कयास लगाये जा सकते हैं। 'हिंदी प्रदीप' हो या 'भारतमित्र' अथवा 'सारसुधानिधि' – सबका ज़ोर 'हिंदुस्तानियों' के राजनीतिक–संस्कार पर है। इसके लिए ये पत्र समाचार–पत्र को अनिवार्य और एकमात्र उपाय मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि न्यायकारी शासन का लक्षण है – 'पब्लिक ओपीनियन' की आज़ादी। दूसरे, इन पत्रों को अतीत का गौरव–बोध है। समाचार–पत्रों में लिखने और उसमें लिखने के लिए प्रेरित

करने वाले इस बात को स्वीकार करते हैं कि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारतवर्ष अपनी 'पूर्वोन्नति' और 'स्वाधीनता' को हासिल करेगा। तीसरे, इस युग के हिंदी–साहित्य में स्वत्व–बोध भी बड़ा प्रबल है। एक तरफ पत्र इस बात की निशानदेही करते हैं कि तत्कालीन राजनीति 'काले–गोरे' के भेद से कलुषित हो रही है तो दूसरी तरफ उनकी नजर 'मुसलमानों' के अत्याचार पर भी है। चौथे, इस युग के लेखक–गण मातृभाषा की उन्नति और उच्चशिक्षा के प्रसार को देशोन्नति के पर्याय के रूप में स्वीकार करते हैं और खुद के बारे में इनकी राय है कि अपने 'धीरज, साहस और अध्यवसाय' के बल पर 'मानापमान' सहन करते हुए भी 'यावज्जीवन' 'संस्कार कार्य्य' के गुरुत्तर कार्य–साधन में लगे रहेंगे।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य की इन विशेषताओं की व्याख्या 'देशभक्ति बनाम राजभक्ति' के ढाँचे में नहीं हो सकती।[10] इन विशेषताओं को 'आधुनिकता बनाम परंपरा' के दायरे में भी नहीं समझा जा सकता। इस युग का हिन्दी साहित्य सामाजिक–राजनीतिक ढाँचे में मूलगामी बदलाव का संकेत करता है और इस बदलाव की व्याख्या के सहारे ही उपर्युक्त विशेषताओं के कारणों का रेखांकन हो सकता है। मिसाल के लिए, बालकृष्ण भट्ट द्वारा अपने लेख में व्यवहार किए गए शब्द 'पब्लिक ओपीनियन' को ही लें। वे इसके लिए एक–से ज्यादा शब्दों का प्रयोग करते हैं; किसी प्रतिशब्द या पर्याय के बजाय उन्हें इस शब्द की अभिव्यक्ति के लिए जगह–जगह वाक्यांशों का सहारा लेना पड़ता है। अनुवाद की यह कठिनाई संस्कृतिगत अंतर का संकेत करती है। इस कठिनाई के बावजूद उनका दावा है कि 'पब्लिक ओपीनियन' कोई नई बात नहीं – यह सदा से 'आर्य–जाति' का भूषण रही है। भट्ट जी की बातों में यह अंतर्विरोध क्यों है? 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी अखबार यह क्यों मानकर चल रहे थे कि 'समाचार–पत्र प्रजा का प्रतिनिधिस्वरूप होता है' और 'जिस भाषा में और जिस समाज में समाचार–पत्र का चलन नहीं है, उसकी 'उन्नति की आशा भी दुराशा मात्र है'? यहाँ स्वयं 'उन्नति' से क्या आशय है? ये पत्र 'भाषा' और समाज' को – मातृभाषा और देशोन्नति को ऐन इस तरह क्यों देख रहे हैं मानो इनमें परस्पर कार्य–कारण सम्बंध हो? एक वाक्य में कहें तो 'निज भाषा की उन्नति' सभी उन्नतियों का मूल क्यों मान ली गई और इस निजभाषा में आये 'निज' से स्वयं किसके 'आत्म' की व्यंजना की गई है? इस युग के हिन्दी–लेखक यह क्यों मानकर चलते हैं कि चाहे जो भी मानापमान सहना पड़े, उनका काम हर हाल में हिंदुस्तानियों का राजनीतिक संस्कार करना है? वे अपने को हिन्दीभाषी समाज के संस्कारकर्त्ता के रूप में क्यों देखते हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर तलाशने के लिए 19वीं सदी के राजनीतिक परिवेश को परखना लाजिमी हो जाता है और इस परिवेश को परखने में 'पब्लिक–स्फीयर' अथवा लोकवृत्त की धारणा कारगर सिद्ध हो सकती है। इस विषय पर विचार करते हुए अपने एक महत्त्वपूर्ण आलेख में प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं – "उन्नीसवीं सदी की उलझन भरी प्रक्रियाओं की चर्चा साहित्य के संदर्भ में, अग्रणी व्यक्तियों और उनकी

गतिविधियों तक सिमटकर रह जाती है। ये गतिविधियाँ जिस सामाजिक रूपांतरण की परिणति थीं और स्वयं इनके फलस्वरूप लोकमानस में जो परिवर्तन हो रहे थे दोनों ही ऐसी चरितनायकपरक चर्चा के हाशिए पर चले जाते हैं.... जटिल ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को केवल चरितनायकों की गतिविधियों तक समेट देना, उस समय–विशेष की अपनी विशिष्टताओं की उपेक्षा करना, वर्तमान और अतीत के अंतर और अन्तस्संबंध का कतई ध्यान न रखना – ये इस पद्धति के लक्षण हैं ... लोकवृत की अवधारणा ऐसी नायक–खलनायक पद्धति का विचारोत्तेजक विकल्प प्रस्तुत करती है... अग्रणी व्यक्तियों की गतिविधियों का मूल्यांकन ऐसी दृष्टि अवश्य करती है लेकिन उसका ध्यान इस बात पर भी रहता है कि ऐसी गतिविधियों से फलीभूत मंचों, संस्थाओं, पत्र–पत्रिकाओं में चरितनायकों के अलावा और भी लोग थे। वे क्या 'कह' और 'कर' रहे थे? अंततः ऐसी ही लोगों के 'कहने' और 'करने' से उस लोक–मानस का इतिहास–भूगोल सचमुच पता चलता है जो इस नये लोकवृत्त के फलस्वरूप निर्मित हो रहा था....।'[11] 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य की निर्माण–प्रक्रिया अर्थात् उसके लोकवृत्त को समझना इस साहित्य के अर्थबोध की अनिवार्य शर्त है। लेकिन, इस निर्माण–प्रक्रिया पर विचार करने से पहले स्वयं लोकवृत्त अर्थात् पब्लिक स्फीयर की अवधारणा पर विचार कर लेना जरूरी है।

लोकवृत्त क्या है? लोकवृत्त की अवधारणा का विकास

'पब्लिक स्फीयर' या लोकवृत्त, 'जनमत' और 'इहलौकिक तर्कबुद्धि का सार्वजनिक उपयोग' जैसी अवधारणाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं और इनका ऐतिहासिक विकासक्रम बड़ा जटिल है। 'लोकवृत्त' की अवधारणा तथा उसके ऐतिहासिक विकासक्रम पर दार्शनिक और समाजविज्ञानी जुर्गेन हैबरमास[12] ने अपनी पुस्तक 'द स्ट्रक्चरल ट्रान्सफार्मेशन ऑफ द पब्लिक स्फीयर : एन् इंक्वायरी इन टू अ कैटेगरी ऑफ बुर्जुआ सोसायटी' में विचार किया है। इस पुस्तक का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद और प्रकाशन अपेक्षाकृत विलंब (1989 ई.) से हुआ। सन् 1989 तक अंग्रेजी भाषा में हैबरमास की अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ[13] प्रकाशित हो चुकी थीं। यह पुस्तक पहली बार सन् 1962 में जर्मन–भाषा में strukturwandel der oeffentlichkeit शीर्षक से छपी थी। पुस्तक ने सन् 1960 के दशक के 'न्यू लेफ्ट' की राजनीतिक चेतना को आकार देने का काम किया।

सन् 1968 ई. में कुछ वामपंथी विचारक 'फ्रैंकफर्त–स्कूल'[14] से अलग हो गये। इनमें हैबरमास भी थे। इसके बावजूद इस पुस्तक का महत्त्व कम नहीं हुआ और इस पर चर्चा होती रही। यहाँ गौरतलब यह भी है कि हैबरमास ने अपनी इस पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक को होखाईमर या एडोर्नो के बजाय राजनीति विज्ञानी और विधिवेत्ता वोल्फगांग एबेनड्रॉथ को समर्पित किया है।[15] एबेनड्रॉथ ने फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी में होने वाली राजनीतिक चर्चाओं में एडोर्नो अथवा होखाईमर की अपेक्षा कहीं ज्यादा जुड़ाव और सक्रियता से भागीदारी की थी।[16] एबेनड्रॉथ को पुस्तक समर्पित करने का

कारण सिर्फ निजी नहीं था। हैबरमास का लोकवृत का अध्ययन 'फ्रैंकफर्त स्कूल' की चिंतन–प्रविधि से थोड़ी अलग राह अपनाता है। एबेनड्रॉथ के समान हैबरमास का लक्ष्य सीधे–सीधे राजनीतिक–सामाजिक रूपांतरण की स्थितियों से बौद्धिक धरातल पर मुठभेड़ करना था। इन दोनों चिंतकों का अपने परिवेश के बारे में मानना था कि राजनीतिक–सामाजिक क्षेत्र में संकट की घड़ी आ गई है और 'प्रबोधन' की आत्मा 'इहलौकिक तर्कबुद्धि' को अब सत्यासत्य की कसौटी मानने के बजाय स्वार्थ–साधन में प्रयुक्त किया जा रहा है। होखाईमर और एडोर्नो कृत 'डायलेक्टिक्स ऑफ एनलाइटेन्मेंट' से हैबरमास की उपर्युक्त पुस्तक एक अर्थ में समानता रखती है। यह समानता विशेष रूप से उस स्थान पर नजर आती है जहाँ एडोर्नो–होखाईमर ने 'संस्कृति उद्योग' की चर्चा की है। लेकिन, हैबरमास की शोध–प्रविधि 'डायलेक्टिस ऑफ एनलाइटेंमेंट' में अपनायी गई पद्धति से अलग है। हैबरमास 'लोकवृत्त' की अवधारणा का प्रस्ताव एक व्यापक पर्यवेक्षण के आधार पर करते हैं। वे अपने सामाजिक–राजनीतिक तर्कों को इतिहास का जायजा लेने के क्रम में प्रस्तुत करते हैं। उनकी पड़ताल के दायरे में कई तरह के इतिहास और अनुशासन शामिल हो जाते हैं। हैबरमास ने अपनी पुस्तक में लोकवृत्त के इतिहास को सांस्कृतिक इतिहास, कानून के इतिहास, जनसंचार के माध्यमों के इतिहास और सिद्धांत तथा समाजशास्त्रीय इतिहास के आपसी संघात के भीतर दिखाया है।

हैबरमास अपने अध्ययन को एक अनुशासन से बांधकर 'लोकवृत्त' के ऐतिहासिक विकास का रेखांकन नहीं कर सकते थे। उनके अध्ययन का निष्कर्ष है कि सन् 1700 से 1960 ई. तक के बुर्जुआ समाज को समझने में लोकवृत्त की अवधारणा विचार–विश्लेषण की महत्त्वपूर्ण कोटि साबित हो सकती है। इस अवधारणा के सहारे सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को समझा जा सकता है। हैबरमास का महत्त्वपूर्ण योगदान (इस पुस्तक में) यह है कि उन्होंने 'पब्लिक' शब्द के इतिहासक्रम में बदलते विभिन्न अर्थों को सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में समझाया है। हैबरमास जनमत, लोकवृत्त और सार्वजनिक निकाय के उद्‌भव को पूँजीवाद के शुरुआती चरण से जोड़ते हैं और उसे 'राज्य' तथा 'समाज' के बीच का एक स्वायत्त तथा स्वयंशासी क्षेत्र सिद्ध करते हैं। हैबरमास इस निष्कर्ष तक कैसे पहुँचते हैं – इस प्रश्न की पड़ताल के लिए और प्रकारांतर से स्वयं लोकवृत्त की अवधारणा की पड़ताल के लिए 'पब्लिक' शब्द के विभिन्न ऐतिहासिक अर्थों का अवलोकन आवश्यक है।

अवधारणाएँ संदर्भ–विशेषी होती हैं। इसका मतलब यह नहीं कि किसी अवधारणा का अर्थ एक व्यक्ति के लिए कुछ और दूसरे के लिए कुछ और होता है अथवा अवधारणा एक पाठ में जो अर्थ रखती है वह दूसरे पाठ में नहीं। अवधारणा के संदर्भ–विशेषी होने का मतलब मात्र इतना होता है कि उसे समग्रता में समझा जाय। यह समग्रता किसी अवधारणा को ऐतिहासिक संरचना के भीतर रखकर समझने की मांग करती है। परिवेश और संदर्भ बदल जाएँ तो अवधारणा का अभिप्रेत भी बदल जाता है।

इसी कारण किसी अवधारणा के अर्थ को समझना हो तो उसे किसी विशेष कालावधि की सामाजिक संस्थाओं और विचारधारात्मक व्यवहार–बरताव के संदर्भ में समझना जरूरी हो जाता है। सामाजिक संस्थाएँ और विचारधारात्मक चलन ही उस समग्रता का निर्माण करते हैं जिसके भीतर कोई अवधारणा अर्थ ग्रहण करती है।

'पब्लिक' (सार्वजनिक) शब्द को 'प्राइवेट' (निजी) का विरुद्ध समझा जाता रहा है। पाश्चात्य राजनीतिक–परंपरा के भीतर इन शब्दों का प्रयोग कम से कम ढ़ाई हजार सालों से हो रहा है। इतनी पुरानी परंपरा के बावजूद आज के आधुनिक समय में इन शब्दों का अर्थ वही नहीं जो मध्ययुग अथवा प्राचीन यूनान में था। इन शब्दों ने लोकतांत्रिक संस्थाओं और नागरिकता के चलन के बीच नया अर्थ ग्रहण किया है।

'पब्लिक' और 'प्राइवेट' शब्द का व्यवहार अवधारणात्मक स्तर पर हमें अरस्तू के लेखन में मिलता है।[17] ईसा पूर्व चौथी सदी के इस दार्शनिक ने OIKOS और POLIS में अंतर किया है। OIKOS शब्द से अरस्तू का इशारा गृहस्थी की तरफ है। इस गृहस्थी में उन्होंने तीन तरह के संबंध रेखांकित किए हैं – (1) पति और पत्नी का संबंध, (2) अभिभावक (माता–पिता) और बच्चे का संबंध, तथा (3) मालिक और गुलाम का संबंध। अरस्तू गृहस्थी को निजी लोक अर्थात् OIKOS की संज्ञा देते हैं – एक ऐसा लोक जहाँ गृहस्थी का प्रधान अनिवार्य रूप से मालिक है। जुर्गेन हैबरमास ने इस मालिक के अधिकारों को बताते हुए लिखा है – 'संतान की उत्पत्ति, गुलाम का श्रम और स्त्री की सेवा – ये सब घर के मालिक के अधीन होते थे...।'[18] कहा जा सकता है कि गृहस्थ की प्रभुता का क्षेत्र OIKOS था, जहाँ वह अपनी मर्जी का मालिक था। गुलाम उसकी संपत्ति थे और वह अपनी गृहस्थी में सबका (स्त्री और संतान) प्राकृतिक रूप से मालिक था। अपनी गृहस्थी के भीतर उसकी प्रभुता परम थी। POLIS इस OIKOS के ठीक उलट था। यह राजनीति की सार्वजनिक दुनिया थी और इस दुनिया में उन्हीं चंद चयनितों की दखल थी जिन्हें नगर–राज्य के नागरिक का दर्जा प्राप्त था। यह ठीक है कि राजनीति की इस सार्वजनिक दुनिया (POLIS) में फैसला आपसी विचार–विमर्श से होता था और किसी एक की नहीं चलती थी, लेकिन एथेंस के प्राचीन नगर–राज्य में 'नागरिकता' एक विशेषाधिकार थी। सिर्फ गृहस्वामी ही नागरिक हो सकते थे, अर्थात् समाज का वही तबका नागरिक हो सकता था जिसे जीविकोपार्जन के लिए श्रम नहीं करना पड़ता था। एथेंस की कुल जनसंख्या में गुलामों की संख्या एक–तिहाई थी और वे नागरिक नहीं हो सकते थे। इस नगर–राज्य में 'विदेशी' और गृहस्वामी की स्त्रियाँ भी नागरिकता से वंचित थीं। इस तरह POLIS सार्वजनिक का पर्यायवाची जरूर था और उसमें फैसले भी पारस्परिक सहमति से लिए जाते थे, लेकिन नागरिकों के इस समुच्चय में सबका प्रवेश नहीं था। जनसंख्या का केवल छोटा–सा हिस्सा इस समुच्चय का सदस्य था और राजनीतिक अर्थों में वही पब्लिक (जनता) का पर्याय था।

रोमन गणराज्य की स्थिति भी इससे अलग न थी। हालांकि रोमन गणराज्य में नागरिकों की स्वतंत्रता पर कहीं ज्यादा जोर दिया जाता था। रोमन गणराज्य में राजनीतिक–सामाजिक सत्ता का संचालक सूत्र था – पदानुक्रम आधारित विशेषाधिकार। न तो प्राचीन रोम और न ही प्राचीन यूनान में इस बात की स्वीकृति दी जाती थी कि सभी मनुष्य परस्पर समान होते हैं और अपनी नियति के नियंता आप होते हैं। इसका भी एक कारण था। उस प्राचीन जगत में नैतिकता और सद्‌गुण का संबंध सामाजिक भूमिकाओं से माना जाता था – उन भूमिकाओं से जिसे किसी व्यक्ति को सामाजिक 'शुभ' के लिए समाज में निभाना है। चाहे यह भूमिका गृह–स्वामी की हो या अभिभावक की, शिक्षक की हो या नागरिक की – सबका विशिष्ट प्रयोजन था। यह प्रयोजन परिभाषित होता था एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से जो पूर्व–प्रदत्त थी और इसी कारण सामाजिक भूमिकाओं से नैतिकता के प्रत्यय को जोड़कर देखा जाता था। अरस्तू ने सामाजिक व्यवस्था के भीतर 'निषेधाज्ञाओं' पर सवाल जरूर उठाया। उन्होंने मनुष्य को सामाजिक भूमिकाओं से अलग करके देखा और विचार किया परंतु, अरस्तू ने जिस नैतिक–व्यवस्था की बात कही उसके व्याकरण में वैयक्तिक आत्म के लिए जगह नहीं थी। अरस्तू ने नैतिकता को किसी विशिष्ट सामाजिक भूमिका अथवा सामाजिक परिवेश से अलगाया जरूर, परंतु उसे मनुष्य की सार्वभौम प्रकृति से संबद्ध माना। नैतिक जीवन का प्रत्यय अब भी पूर्व–प्रदत्त ही रहा; बस इतना हुआ कि उसे मनुष्य जीवन के उन लक्ष्यों से जोड़ा गया जिनकी प्राप्ति के प्रयास से मनुष्य अपने जीवन के 'प्रयोजन' (TELOS) को प्राप्त करता है।[19]

मनुष्य के अस्तित्व की इस समझ के दायरे में 'निजी' और 'सार्वजनिक' का वह अर्थ नहीं था जो आज ग्रहण किया जाता है। पूर्व–आधुनिक समाज में 'आत्म' और 'समुदाय' के प्रत्यय भिन्न थे, इसलिए 'निजी' और 'सार्वजनिक' की धारणा भी। इस बात की जाँच आधुनिक राज्यव्यवस्था में स्वीकृत 'व्यक्ति' और उसके अधिकारों की परिभाषा के ऐतिहासिक अवलोकन द्वारा की जा सकती है।

अधिकार की धारणा का सुसंगत रूप सबसे पहले रोमन गणराज्य में विकसित हुआ। इसी गणराज्य ने सबसे पहले नागरिकों के निजी अधिकार–क्षेत्र को परिभाषित किया था और उसे सार्वजनिक हस्तक्षेप से मुक्त मानकर बराबरी का दर्जा दिया था। किसी रोमन न्यायविद् के लिए अधिकार, कानून और न्याय अलग–अलग शब्द नहीं, बल्कि एक ही अर्थ के बोधक पद थे। कानून के द्वारा अधिकार की रचना की जाती थी और कानून स्वयं समुदाय के न्यायबोध का शाब्दिक रूप था। कानून का संबंध, आज की तरह, विधि–व्यवस्था को बनाये रखने से नहीं, बल्कि न्याय से माना जाता था। 'न्याय' ही समाज को एक व्यवस्था में बाँधता था। समुदाय जिसे नैतिक रूप से सही मानता था उसे ही कानून का दर्जा प्राप्त था और उसी की कल्पना अधिकार के रूप में की जाती थी – 'जो सही है उसी का उपभोग करना अधिकार है और मनुष्य के इस अधिकार की रक्षा न्याय उसका देय चुकाकर करता है।'[20]

रोमन नागरिक को कई अधिकार प्राप्त थे। वह संपदा का अधिकारी था, परिवार के लोगों के जीवन और मरण का फैसला उसके हाथों में था, सार्वजनिक जगहों पर जाने और सार्वजनिक मामलों में भाग लेने का अधिकार उसे था। लेकिन, ये अधिकार उसे व्यक्ति होने के नाते नहीं, रोमन गणराज्य का नागरिक होने के नाते, गृहस्थी का प्रधान (pater families) होने के नाते प्राप्त थे। अधिकार का विषय परिवार था, व्यक्ति नहीं।

रोम के इस नागरिक को अधिकार इसलिए प्रदान किए जाते थे कि समुदाय अपने सर्वमान्य प्रयोजन हासिल कर सके। अधिकारों पर उसका कोई दावा नहीं था। उन्हें समुदाय प्रदान करता था, ताकि सामुदायिक प्रयोजन की सिद्धि हो सके। आज की भाषा में कहें तो ये अधिकार, अधिकार न होकर कर्त्तव्य थे। मनुष्य के वैधानिक अस्तित्व का अर्थ था उन हितों और कार्यों को करने की शक्ति, जिन्हें सामाजिक व्यवस्था स्वयं को अक्षुण्ण बनाये रखने के अर्थ में मनुष्य के लिए करणीय मानती है।

फिर, इन अधिकारों पर कई तरह की बाधाएँ थीं। इनका विषय–क्षेत्र भी बड़ा सीमित था। अधिकारों का स्रोत सिर्फ कानून ही नहीं था। परंपरा और रिवाजों से भी अधिकार परिभाषित होते थे। ऐसे अधिकार भी कानून द्वारा परिभाषित अधिकार के समान ही महत्त्वपूर्ण थे। दूसरे, अधिकार का अर्थ किसी चीज पर परम् नियंत्रण से नहीं लिया जाता था। कुछेक चीजों के उपभोग की आजादी थी, लेकिन उनके स्वामित्व की नहीं। रोम का नागरिक अपने स्वामित्व की चीजों के साथ भी हर स्थिति में अपनी मनमर्जी का बरताव करने के लिए स्वतंत्र नहीं था। मिसाल के लिए, अगर नागरिक की जमीन किसी खास जगह पर हो, आकार में बड़ी हो और उस पर कई पीढ़ियों से लोग रह रहे हों तो इस जमीन को बेचने के लिए वह स्वतंत्र नहीं था। रोमन गणराज्य यह भी मानता था कि कुछ चीजें नागरिक के स्वामित्व के दायरे में नहीं आती, क्योंकि स्वामित्व के दायरे में आने पर उनका प्रकृति–प्रदत्त उद्देश्य बाधित होता है। ऐसी चीजें वाणिज्य–व्यापार के दायरे से बाहर (rex extra commercium) मानी जाती थीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि रोमन गणराज्य में अधिकारों का संबंध नागरिक समुदाय से था। इनसे दो नागरिकों के बीच के राजनीतिक संबंधों का निर्णय तो होता था, लेकिन राज्य और नागरिक के आपसी संबंधों का नहीं।[21]

मध्यकालीन योरोप में, सामंतशाही की कई सदियों के दौरान स्थिति कमोबेश इतनी ही जटिल रही। माना गया कि अधिकार सिर्फ व्यक्तियों के ही नहीं बल्कि परंपरागत समुदायों और समूहों मसलन नगर, व्यापारिक श्रेणी तथा जागीरों के भी होते हैं। व्यक्तियों को अधिकार किसी समुदाय का सदस्य होने के नाते प्रदान किए जाते थे।[22] अधिकारों के स्रोत भी कई थे और कानून उनमें से एक था। परंपरा और रिवाज का दबाव कानून की ताकत को छोटे–से दायरे में सीमित रखता था। सामंतशाही में अधिकार के बजाय कर्त्तव्य का व्याकरण हावी था। राजा और प्रजा, सामंत और

जागीरदार आपस में असमान संबंधों से बंधे थे। करारनामे का चलन था और करार के मुताबिक कर्त्तव्य निबाहे जाते थे। कर्त्तव्य की धारणा अधिकारों से कहीं ज्यादा ऊँची समझी जाती थी, क्योंकि तार्किक रूप से देखें तो इस युग में कर्त्तव्य निबाहने पर ही अधिकारों की प्राप्ति होती थी। कर्त्तव्य का व्याकरण ही यह समाज अपने लिए पर्याप्त मानता था क्योंकि सामाजिक संबंधों की कल्पना कर्त्तव्यों की बुनियाद पर की गई थी।

दूसरे इस समाज में निजी और सार्वजनिक संबंधों के बीच भेद न के बराबर था। मिसाल के लिए अगर किसी काश्तकार को संपदा का अधिकार है, जैसे कि जमीन जोतने का, मिल चलाने का अथवा कर वसूली का तो इस अधिकार के साथ–साथ सार्वजनिक तौर पर अपनी सेवा देना उसके लिए अनिवार्य था। वह या तो सैन्य सेवा में योगदान देता था या सामंत के दरबार में हाजिरी बजाता था।[23]

17वीं सदी के बाद से अधिकार की धारणा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अधिकार का धारक कौन होगा, अधिकार के विषय क्या होंगे, इन दोनों के बीच संबंध कैसे निर्धारित होगा और नैतिक तथा राजनैतिक जीवन में अधिकारों की हैसियत क्या होगी – इन मुद्दों में मूलगामी बदलाव आये। इसका जायजा लेने पर हमें अधिकार और व्यक्ति शब्द के आधुनिक अर्थ और प्रयोग का संकेत मिलेगा।

पूर्व–आधुनिक समाज समुदाय, परंपरागत समूह, व्यापारिक श्रेणी (गिल्ड) और यहाँ तक कि जमीन तथा जागीर को भी अधिकार का धारक मानते थे। अधिकार की आधुनिक धारणा, इसके उलट, व्यक्ति को अधिकार का धारक स्वीकार करती है। समूहों को भी अधिकार प्रदान किए गए हैं। परंतु ये प्राथमिक अधिकार नहीं हैं और सिद्धांततः समूह के सदस्यों के अधिकार ही समूह के अधिकार माने जाते हैं। पूर्व–आधुनिक समाज 'आत्म' की जो परिभाषा करते थे उससे 'आत्म' की आधुनिक परिभाषा अलग है।

व्यक्ति की अवधारणा जटिल है। इसकी पूर्वमान्यता है कि जैविक इकाइयों में कोई पूर्वनिर्धारित संबंध नहीं होता। मनुष्य जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि हर मनुष्य अस्तित्व के धरातल पर दूसरे मनुष्य और प्रकृति–परिवेश से संबद्ध है। लेकिन जब मनुष्य की परिभाषा व्यक्ति के रूप में की जाती है तो उसे प्रकृति का तथ्य स्वीकारने के बजाय एक सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। मनुष्य को 'व्यक्ति' रूप में स्थापित करने का अर्थ है दूसरे मनुष्यों और प्रकृति के साथ उसके संबंध के बीच एक विभाजक रेखा खींचना, यह बताना कि कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य और प्रकृति से किस सीमा तक अलग है। मनुष्य का व्यक्तिकरण एक सामाजिक परिपाटी के तहत होता है। इसी कारण भिन्न–भिन्न समाज मनुष्य का यह सीमांकन तथा व्यक्ति की परिभाषा अलग–अलग ढंग से करते हैं। प्राचीन एथेंस में मनुष्य को प्रकृति और समाज का अभिन्न अंग माना जाता था। इस समाज की मान्यता था कि किसी मनुष्य के अस्तित्व के भीतर उसकी संपदा और राजनीतिक अधिकार भी शामिल हैं। मध्ययुग के शुरुआती दिनों तक किसी कारीगर के औजार को उसके अस्तित्व का ही हिस्सा माना

जाता था। यह उसके हाथ और पांव के ही समान था। कारीगर को औजार से वंचित करने का अर्थ था कारीगर को अस्तित्व के हिस्से से वंचित करना। स्वयं कारीगर भी औजार को अपने से अलग करने के लिए स्वतंत्र नहीं था। किसी हिंदू के 'आत्म' को पुराने समय में उसके सामाजिक और वर्णाश्रमी ढाँचे से अलग नहीं माना जाता था।

17वीं सदी के चिंतकों ने मनुष्य को इकाई के रूप में निर्धारित करते हुए एक नयी दृष्टि अपनायी। उन्होंने व्यक्ति की परिभाषा जीवशास्त्रीय अर्थों में की। व्यक्ति को अपने शरीर में बंद जैविक इकाई माना गया। शरीर की सीमा को व्यक्ति के आत्म की सीमा मान लिया गया। माना गया कि व्यक्ति रूप में मनुष्य अपने इंद्रियों और तर्कबुद्धि के सहारे बाहरी संसार से विनियोग करता है और संवेदन, धारणा तथा अनुभवों का अपना आंतरिक संसार रचता है। इस व्यक्ति के शरीर से परे जो कुछ था, वह उसके लिए अपने आत्म से बाहर की दुनिया थी। संवेदनों, धारणाओं और अनुभवों का अपना संसार ही उसके आत्म का हिस्सा माना गया। चिंतन की इस पद्धति में मनुष्य का केंद्र स्वयं मनुष्य के अंदर माना गया।

व्यक्ति की इस जीवशास्त्रीय अवधारणा के साथ मनुष्य की देह का तात्विक, ज्ञानमीमांसीय, नैतिक तथा राजनीतिक महत्त्व अप्रत्याशित रूप से बढ़ा। इसे यथार्थ की कसौटी मान लिया गया, यानी यह समझा जाने लगा कि मनुष्य शरीर जब तक जीवित है, तब तक मनुष्य का अस्तित्व है। शरीर के विघटन को मनुष्य का तात्विक विघटन स्वीकार किया जाने लगा। जीवन का अर्थ हो गया किसी खास कालावधि तक शरीर की निरंतरता, और स्वतंत्रता का आशय था शरीर की अबाधित गतिविधि। ये दोनों सर्वोच्च नैतिक मूल्य समझे गये। हिंसा की व्याख्या शारीरिक आघात के अर्थ में की गई। हिंसा की इस अवधारणा में मानसिक अथवा नैतिक हिंसा के लिए जगह नहीं थी। शरीर को व्यक्ति–आत्म की कसौटी मानने पर मनुष्य की स्वतंत्रता का अर्थ हुआ अपनी मर्जी से उसका कहीं आ–जा सकना; मनुष्य के विश्वास, भावना और विचार बाधित हों, किसी संस्था द्वारा निर्देशित–नियंत्रित हों तो उसे स्वतंत्रता में बाधा नहीं माना गया। सरल शब्दों में कहें तो वैधानिक रूप से 17वीं सदी के योरोप में किसी के रोने, मरने अथवा भूखे रहने को अर्थात् शारीरिक कष्ट को तो राजनैतिक उपचार के लायक स्वीकार किया जाता था, अन्य कष्टों को नहीं। बाद के दिनों में यह धारणा और भी बदली।

17वीं सदी और उसके बाद के समय के योरोप में अधिकार की अवधारणा से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण बदलाव और हुआ। इसका रिश्ता अधिकारों के क्षेत्र से था। वैधानिक रूप से कौन–सी चीजें अधिकार के दायरे में आती हैं और किस सीमा तक इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है – इसका परंपरागत सीमांकन अब समाप्त हो गया। प्रकृति का मध्यकालीन दैवीय संसार अब प्राणहीन हो चुका था। हिंदू धर्म की पदावली का इस्तेमाल करें तो 17वीं सदी और उसके बाद का योरोप संसार को 'ऋत'

से संचालित नहीं मानता था। यह एकदम पार्थिव संसार था, वस्तुओं से उनके देवता कूच कर गए थे। शरीर में कैद व्यक्ति–आत्म इस पार्थिव संसार का मालिक स्वीकार किया गया, जो अपनी मर्जी से इस संपदा को लूट सकता था।

अब जमीन खरीदी और बेची जा सकती थी। 17वीं सदी से पहले संपदा पर अधिकार का अर्थ था – राजस्व उगाही का अधिकार। यह किसी चीज पर मिल्कियत का अधिकार नहीं था। संपदा का एक बड़ा हिस्सा जमीन के रूप में था और जागीरदार अपनी इस संपदा को बेचने के लिए स्वतंत्र नहीं था। वह सिर्फ इस जागीर से राजस्व वसूल कर सकता था। निगमों और व्यापारिक–श्रेणियों से भी राजस्व ही वसूले जाते थे।

17वीं सदी के बाद से संपदा पर अधिकार का अर्थ हो गया उस संपदा पर व्यक्ति का स्वामित्व होना और उसे वस्तु रूप में अपनी मर्जी से बरतना। यह उपभोग करने, धारण करने तथा मनमर्जी से वस्तु को अलग कर सकने की आजादी थी। पहले की सदियों में कुछ जमीन सबके उपयोग की होती थी। इस जमीन पर सबकी रसाई थी। 17वीं सदी के बाद ऐसी जमीन विलुप्त हो गई। इसे निजी संपदा के रूप में बांट लिया गया।

जिस तरह प्रकृति के दैवीय जगत को प्राणहीन पार्थिव जगत मान लिया गया था, ठीक उसी तरह शरीर में स्थिति व्यक्ति को भी उसकी क्षमता और शारीरिक शक्ति के जोड़–जमा के रूप में देखा गया। माना गया कि मनुष्य अपनी शारीरिक क्षमता को अपने से अलगा सकता है। इन्हें भी अधिकार की वस्तु माना गया। मनुष्य अपनी शारीरिक क्षमता को अपने से अलग हो सकने वाली चीज माने और इस पर दूसरों को अधिकार दे सके – इन्हें बेच सके; इसके लिए अवधारणा के धरातल पर दो शर्त्तों का पूरा किया जाना जरूरी है। पहली बात तो यह कि मनुष्य स्वयं अपनी क्षमताओं को वस्तु माने तथा उस पर अपना अधिकार समझे। इसी सूरत में वह अपनी वस्तु के साथ मनमर्जी का बरताव कर सकता है। मिसाल के लिए, अगर व्यक्ति अपनी क्षमताओं को ईश्वर, समाज अथवा मानवता की अमानत मानता है तो उसे वह अपनी मर्जी से अलग कर पाने के लिए स्वतंत्र नहीं है। दूसरी शर्त्त यह है कि व्यक्ति स्वयं को अपनी इन शारीरिक क्षमताओं से अलग माने ताकि इन क्षमताओं को अलग करने का अर्थ, बेचने का अर्थ स्वयं को अलग करना या बेचना न हो जाये।

इस कठिनाई से पार पाने के लिए जीवशास्त्रीय धरातल पर गढ़ी गई व्यक्ति की परिभाषा में कुछ और बातें जोड़ी गईं। मनुष्य जब अपने कौशल और क्षमता को दूसरे के हवाले करता है तो इस क्रम में वह अपने 'आत्म' को दूसरे के हवाले नहीं करता – इस बात की रक्षा के लिए व्यक्ति की परिभाषा को और भी सूक्ष्म बनाया गया। चूँकि मनुष्य की लगभग हर क्षमता का बाजार हो सकता है, इसलिए यहाँ निर्णायक सवाल यह हो जाता है कि मनुष्य की 'अस्ति' का सार क्या है? वह कौन–सी क्षमता है जिससे अलग होकर मनुष्य 'व्यक्ति' नहीं रह जाता। अधिकार की आधुनिक धारणा के

सिद्धांतकार इस चीज की पहचान मनुष्य के 'इच्छा–स्वातंत्र्य' से करते हैं।[24] वे इसे मनुष्य का व्यवच्छेदक गुण–धर्म और उसकी गरिमा का आधार मानते हैं। इन सिद्धांतकारों के अनुसार मनुष्य तर्कबुद्धि और इच्छा–स्वातंत्र्य से युक्त होने के कारण शेष संसार से अलग और विशिष्ट है। जब तक उसके ऊपर किसी ने प्रभुत्व न जमाया हो, सम्मोहन अथवा पागलपन का शिकार न हो तब तक वह स्वायत्त, स्वयंशासी है और अपने कर्मों का उत्तरदायी भी स्वयं है।

एक बार अधिकार के धारक और अधिकार के क्षेत्र की परिभाषा इस रूप में कर ली गई तो कुछ अधिकारों को सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और प्राथमिक अधिकार करार दिया गया। ऐसे अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता और संपदा के अधिकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने गए। जीवन के अधिकार का अर्थ हुआ शारीरिक हानि से बचने की राजकीय गारंटी। दूसरों की मनमानी (चाहे यह मनमानी किसी हुकूमत की हो या व्यक्ति की) से स्वतंत्र रहने के अधिकार का अर्थ हुआ व्यक्ति के इच्छा–स्वातंत्र्य की गारंटी। इसके अंतर्गत व्यक्ति अपनी सार्वजनिक भूमिकाएँ स्वयं तय करता है। संपदा के अधिकार का अर्थ हुआ किसी वस्तु को धारण करना, खरीदना, उसे अपने पास रखना या उसको बेच सकने की राजकीय गारंटी।

एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। अभी तक जीवन, स्वतंत्रता और संपदा के अधिकारों पर बल था। ये अधिकार एक तरह से राजकीय सुरक्षा हासिल करने के समान थे। अर्थात् इन अधिकारों के धारक को राज्य इस बात की गारंटी प्रदान करेगा कि इन अधिकारों के उपभोग अथवा प्रयोग में किसी अन्य का हस्तक्षेप न हो। 19वीं सदी के आखिर के कुछ दशकों में अधिकारों की सूची में कुछ सामाजिक और आर्थिक अधिकार भी शामिल कर लिए गए। इन अधिकारों का संबंध राजकीय सुरक्षा से नहीं, बल्कि नागरिक के प्रति राज्य के दायित्व से था। इन अधिकारों का आशय भौतिक समृद्धि, रोजगार और नागरिक के निजी विकास के लिए राज्य द्वारा अवसर जुटाने के दायित्व से था। इस तरह राज्य से अपेक्षा की गई कि वह मनुष्य के आर्थिक जीवन में सक्रिय तथा सकारात्मक भूमिका निभाएगा। इसका मतलब यह भी था कि अपने नागरिक को सामाजिक–आर्थिक अधिकारों के उपयोग के लिए राज्य सिर्फ सुरक्षा ही प्रदान नहीं करेगा, बल्कि इन दायित्वों को निबाहने के लिए उनसे कर–वसूली करके संसाधन भी जुटाएगा।

अधिकार की इस बदलती और विकसित होती अवधारणा ने राज्य की प्रकृति में मूलगामी बदलाव किए, साथ ही व्यक्ति के दायित्वों का भी रेखांकन हुआ। अगर राज्य अपने नागरिकों के बुनियादी अधिकारों को नहीं छिन सकता तो अवधारणात्मक स्तर पर हमें व्यक्ति की 'निजता' की कल्पना करनी पड़ेगी – ऐसी निजता की जो किसी भी बाहरी सत्ता के हस्तक्षेप से मुक्त हो। दूसरे, अगर नागरिक को कर–अदायगी द्वारा साथी नागरिकों के प्रति अपना नैतिक और वैधानिक दायित्व निबाहना है तो इसका अर्थ

हुआ कि व्यक्ति स्वशासी और स्वायत्त इकाई–भर नहीं। वह अपने अधिकारों की रक्षा की गर्ज से किसी सर्वसाधारण सत्ता (राज्य) में प्रकट की गई निष्ठा के कारण दूसरे नागरिकों से संबद्ध नहीं, बल्कि वह दूसरे नागरिकों पर आश्रित है। नागरिकों का संबंध पारस्परिक निर्भरता का है और राज्य इस संबंध का निर्धारण आम सहमति से करता है। 'जीवन, स्वतंत्रता और संपदा' की अधिकार–त्रयी में आर्थिक–सामाजिक अधिकारों के जुड़ जाने से 17वीं–18वीं सदी का 'नागरिक समाज' 'राजनीतिक–समुदाय' में बदल गया।[25] ऐसे में, नागरिक और राज्य के संबंध ही नहीं, बल्कि नागरिक और नागरिक के बीच के संबंध भी परिभाषित हुए। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति की 'निजता' सार्वजनिक पड़ताल के दायरे में आई और स्वयं 'सार्वजनिक सत्ता' आम सहमति (जनमत) की सांस्थानिक अभिव्यक्ति बन गई।

'निजी' को 'सार्वजनिक' का विरुद्ध समझा जाता है। लेकिन आधुनिक लोकतंत्र में निजी और सार्वजनिक परस्पर–विरोधी नहीं, बल्कि एक–दूसरे के पूरक हैं। लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर नागरिक अधिकारों की रखवाली और समृद्धि में दोनों अपनी–अपनी तरह से सहायता करते हैं। 'निजी' को 'सार्वजनिक' से अलगाने और दोनों के सुस्पष्ट नामांकन का काम आरंभिक उदारवाद के दौर में हुआ था। केंद्रीकृत राज्य के उदय के साथ इस मान्यता को और बल मिला।

शुरुआती उदारवादियों की मान्यता थी कि मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए जरूरी है कि राज्य कम से कम ताकतवर हो। इस मान्यता से उदारवादियों ने नागरिक जीवन के ऐसे दायरे का रेखांकन किया जिसमें राज्य हस्तक्षेप न कर सके। इन लोगों ने घर को राज्य से, निजी उद्योगों को राजकीय निगमों से, स्व–नियंत्रित बाजार को राज्य–नियंत्रित अर्थव्यवस्था से अलग माना। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस धारणा को सुव्यवस्थित रूप देते हुए माना कि व्यक्ति के जीवन के एक पक्ष का सरोकार खुद उसी से है, जबकि बाकी हिस्से का सरोकार दूसरों से।[26] मिल ने पहले वाले हिस्से को व्यक्ति की निजता का अंग माना और शेष को सार्वजनिक सत्ता के अधीन। व्यक्ति के जीवन के इस भाग के लिए राज्य नियम बना सकता था। शुरुआती उदारवाद की यही मान्यता प्रचलित हो गई और 'निजी' को 'सार्वजनिक' का विरोधी माना जाने लगा।

निजी और सार्वजनिक के बीच साफ–साफ भेद उसी स्थिति में किया जा सकता है जब सभी मनुष्यों को समान रूप से स्वतंत्र न माना जाय। अगर व्यक्ति–व्यक्ति के बीच अधिकारभेद हो, कुछेक के लिए विशेषाधिकारों का चलन हो और समाज में चंद चयनित प्राकृतिक रूप से वरीय समझे जाते हों तो ऐसे समाज में जीवन के कुछ हिस्से हमेशा प्रभुत्वसंपन्न तबके की दखल में होंगे। इसमें सबकी रसाई नहीं होगी। इस हिस्से को 'निजी' का दर्जा देकर इसे सार्वजनिक जवाबदेही से मुक्त माना जाएगा। शुरुआती उदारवाद ने 'घर' और 'धर्मविश्वासों' को व्यक्ति की निजता का अंग मानकर यही किया था। राज्य की प्रताड़ना से व्यक्ति को बचाने के लिए यह विभाजन एक हद तक ठीक

था, लेकिन 'घर' को व्यक्ति की निजता का हिस्सा मान लेने के परिणाम भयानक हो सकते हैं। इससे 'परिवार' भी व्यक्ति की निजता के दायरे में शामिल मान लिया जाता है। इससे पितृसत्ता के विशेषाधिकारों के बचाव का पुख्ता इंतजाम हो जाता है। 20वीं सदी के स्त्रीवादी अध्ययन ने ध्यान दिलाया कि 'निजी' को 'सार्वजनिक' के विरुद्ध मानने के कारण परिवार के भीतर दो व्यक्तियों के बीच असमान और अन्यायपूर्ण बरताव जारी रहा।[27] स्त्रीवादी अध्ययन ने इसी कारण 'निजी' को 'राजनैतिक' का दर्जा दिया', उसे सार्वजनिक पड़ताल का विषय माना।

लोकतांत्रिक राजव्यवस्था में 'निजी' और 'सार्वजनिक' को परस्पर विरुद्ध अथवा असंवादी मानकर नहीं चला जा सकता। इनके बीच संवाद और सहधर्मी सहकार जरूरी हैं। व्यक्ति अपने निजी जीवन में न्यायपूर्ण बरताव करे, इसके लिए नियम सार्वजनिक रूप से तय किए जाते हैं। साथ ही, व्यक्ति को कानून द्वारा परिभाषित व्यवस्था के भीतर इस बात की आज़ादी होती है कि वह अपने विकल्प मुक्त भाव से तय करे तथा अपनी नैतिकता का निजी शब्दकोश भी बनाए। इस क्रम में 'निजी' ही नहीं, 'सार्वजनिक' की भी परिभाषा बदल जाती है। सार्वजनिक दायरा परस्पर नातेदारी और कुलगोत्र के संबंध से बँधे अथवा 'सर्व–सामान्य शुभ' के भाव से प्रेरित लोगों का जमघट नहीं रह जाता। यह एक ऐसा क्षेत्र बन जाता है जहाँ हर व्यक्ति दूसरे के बराबर और समान रूप से स्वतंत्र है। पब्लिक शब्द राजनीतिक–सामाजिक गतिविधियों का पर्यायवाची बन जाता है; एक ऐसा क्षेत्र हो जाता है जिसमें भागीदारी करके व्यक्ति अपने–अपने हितों और सरोकारों को अभिव्यक्त करते हैं।

जुर्गेन हैबरमास ने 'पब्लिक' और 'पब्लिक–स्फीयर' से यही अर्थ ग्रहण किया है। उन्होंने 'निजी' और 'सार्वजनिक' के अर्थ का विकासक्रम बताते हुए 'पब्लिक–स्फीयर' को मध्यवर्ग के उदय से जोड़ा है; पूँजीवादी समाज के विचारधारात्मक औजार के रूप में परखा और पहचाना है। हैबरमास के अनुसार लोकवृत्त या पब्लिक स्फीयर एक सर्वसमावेशी क्षेत्र है। इस क्षेत्र में व्यक्ति–नागरिक अपनी परंपरागत पहचान (धर्म, लिंग, नस्ल आदि) से परे भागीदार होकर सार्वजनिक मुद्दों पर 'जनमत' का निर्माण करते हैं। प्राचीन एथेंस में भी राज्य के नागरिक सामूहिक निर्णय में भागीदार होते थे, लेकिन यह सामूहिकता सर्वसमावेशी नहीं थी। स्त्रियों और गुलामों को व्यक्ति अथवा नागरिक का दर्जा प्राप्त नहीं था – इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मध्यकालीन योरोप में भी 'सार्वजनिकता' का क्षेत्र सर्वसमावेशी नहीं था। 'प्रजा' से 'नागरिक' बनने की सामाजिक–राजनीतिक प्रक्रिया धीमी रही। संस्थाएँ जब 'जनमत' की अभिव्यक्ति का रूप स्वीकारी गईं और नागरिकों के प्रति उनकी जवाबदेही तय हुई तभी 'प्रजा' का 'नागरिक' बनना संभव हुआ।

प्रतिनिधित्व और सार्वजनिकता का एक बोध मध्यकालीन योरोप में था जरूर, लेकिन हैबरमास के अनुसार यह 'सार्वजनिकता' सर्वसमावेशी नहीं थी। यह पूर्व–प्रदत्त

हैसियत की अभिव्यक्ति थी – "राजा या सामंत स्वयं को किसी 'उच्च सत्ता' के प्रतिनिधि के तौर पर प्रस्तुत करता था... सार्वजनिकता का एक पदानुक्रम भी था जो निजी श्रेष्ठता मसलन तमगा, कपड़े, अस्त्र–शस्त्र, और अदब–कायदे में व्यक्त होता था...।" इस चलन के अनुसार "प्रतिनिधित्व सिर्फ अपनी सार्वजनिकता में ही प्रकट हो सकता है और किसी भी तरह का प्रतिनिधित्व निजी मामला नहीं हो सकता... क्योंकि प्रतिनिधित्व किसी अदृश्य को राजा या स्वामी की उपस्थिति के रूप में दृश्यमान करने का एक माध्यम था.... जो निष्प्राण, निकृष्ट हो, हीन या मूल्यविहीन हो वह प्रस्तुति के लायक नहीं" माना जाता था।... इन चीजों में उस महत्ता का अभाव था जो इसे सार्वजनिकता के उच्चपद पर प्रतिष्ठित कर सकें... यानी इनका अस्तित्व सार्वजनिक रूप से स्वीकारा जा सके। महामहिम, जहाँपनाह, इज्जत और शोहरत जैसे शब्द उस अस्तित्व की विशिष्टता के वाचक हैं जिसे सार्वजनिक तौर पर प्रस्तुत करने लायक समझा जाता था।"[28]

आज के लोकतंत्र में 'सार्वजनिकता' सर्व समावेशी मानी जाती है। यह भाव इतना केंद्रीय है कि 'पब्लिक' शब्द उन्हीं स्थानों के आगे जोड़ा जाता है जहाँ तक सबकी पहुँच हो। हम इसी अर्थ में 'पब्लिक पार्क', 'पब्लिक मीटिंग' और 'पब्लिक बिल्डिंग' अथवा 'पब्लिक ऑथोरिटी' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत कुछ संघ ऐसे भी हैं जिसकी सदस्यता हर कोई नागरिक मात्र होने से ग्रहण नहीं कर सकता। कुछ 'संगठन' सिर्फ महिलाओं को तो कुछ सिर्फ समलैंगिकों को अपना सदस्य बनाते हैं। कुछ संघ के सदस्य किसी खास धर्म या जाति के लोग ही हो सकते हैं। ये संघ भी अपनी प्रकृति में सार्वजनिक होते हैं और सामाजिक–राजनीतिक क्षेत्र में अपने हितों की सामूहिक तौर पर नुमाइंदगी करते हैं। लेकिन, इसके बावजूद इतनी सार्वजनिकता को सर्वसमावेशी नहीं माना जाता। लोकतांत्रिक प्रक्रिया के भीतर सर्व–समावेशिकता एक जरूरी और निरंतर विकासमान मूल्य है। 'सार्वजनिक' को समझने के लिए दो तरह के समूहों में फर्क करना जरूरी है। एक समूह अपवर्जी होता है – उसमें विशिष्ट गुण–धर्म के लोगों का समावेश होता है। इसके विपरीत सर्वसमावेशी समूह में किसी व्यक्ति की पहुँच उसकी किसी ऐसी पहचान से निर्धारित नहीं होती जो पूर्व–आधुनिक हो। पूर्व–आधुनिक और अलोकतांत्रिक राजव्यवस्था में विशेषाधिकार किसी समूह का सदस्य होने से प्राप्त होते थे। इस समाज में संस्थाओं को सर्व–समावेशिकता की कसौटी पर 'सार्वजनिक' नहीं कहा जा सकता। संस्थाएँ उसी सूरत में 'सार्वजनिक' बनती हैं जब सामाजिक पहचान और जागीर–आधारित विशेषाधिकारों को चुनौती देते हुए अधिकार को कुल–गोत्र–धर्म–लिंग जैसी सामाजिक पहचानों से परे 'व्यक्ति–नागरिक' से जोड़ा जाता है।[29]

सार्वजनिकता के आधुनिक अर्थ के उद्‌भव और विकास को हैबरमास ने पूँजीवादी समाज के उषाकाल और बुर्जुआ समाज के उदय के साथ जोड़ा है। वे सार्वजनिकता के दायरे को बुर्जुआ समाज की गतिविधि के क्षेत्र के रूप में परिभाषित करते हुए इसे राज्य और समाज के बीच की ऐसी संस्था के रूप में परिभाषित करते हैं

जो राज्य से स्वायत्त और अनेकशः राज्यसत्ता की मनमानी के विरुद्ध होता है – "जनता (नागरिक के रूप में) अपने ऊपर लागू प्रभुत्व को 'तर्कबुद्धि' और 'कानून' की तुला पर तौलना चाहती थी और इसके (प्रभुत्व में) मर्म को बदलना चाहती थी। इन शब्दों ('तर्कबुद्धि' और 'कानून') का समाजशास्त्रीय अर्थ तभी खुलता है जब हम बुर्जुआ लोकवृत्त (पब्लिक–स्फीयर) का विश्लेषण करते हैं, खासकर इस तथ्य की पहचान करते हुए कि निजी दायरों में रहने वाले व्यक्ति ही इस लोकवृत्त में जनता के रूप में इकट्ठे हुए थे।"[30]

हैबरमास का मत है कि आज जिसे बोलचाल की भाषा में 'जनमत', 'जनता' अथवा 'सार्वजनिक संस्था' कहते हैं और जिसे इतना सामान्य मान लेते हैं मानो वह सदा से मौजूद हो – उसका उद्‌भव पूँजीवादी समाज के शुरुआती दौर में हुआ। पब्लिक स्फीयर या लोकवृत्त ही वह दायरा है जहाँ जनता नागरिक–समूह के रूप में 'जनमत' का निर्माण करती है। लोकवृत्त राज्य और समाज के बीच का विशिष्ट क्षेत्र हैं। यह राज्य से स्वायत्त होता है और राज्य ही इसको स्वायत्तता की गारंटी देता है।[31] बुर्जुआ लोकवृत्त का उद्‌भव मध्यकालीन प्रस्तुतिपरक लोकवृत्त से हुआ। बुर्जुआ व्यक्तिवाद अपनी आर्थिक गतिविधियों की बाधाओं को हटाने के लिए सर्वसत्तावादी राज्य से टकराव की मुद्रा में था। इस टकराहट ने ही बुर्जुआ लोकवृत्त की बनावट और कार्यों को तय किया।[32] यह लोकवृत्त न तो पेशेवर लोगों के निजी क्षेत्र का हिस्सा था और न ही राज्य का। इस लोकवृत्त का काम राज्य की गतिविधियों की समीक्षा करना था। लोकवृत्त ने अपनी यह हैसियत तर्कबुद्धि के आधार पर बनायी। तर्कबुद्धि–सम्मत विधान के बंधन से सर्वसत्तावादी राज्य बँधा और इन्हीं नियमों से नागरिक भी बँधे। लोकवृत्त का प्राथमिक काम राजनीतिक और प्रशासनिक फैसलों को पारदर्शी बनाना था।[33]

हैबरमास लोकवृत्त की अवधारणा का रूपांकन इन शब्दों में करते हैं – "लोकवृत्त से आशय सामाजिक जीवन के उस दायरे से है जहाँ 'जनमत' का निर्माण होता है। निजी दायरों में रहने वाले व्यक्ति जब भी एक सार्वजनिक निकाय के रूप में एकत्र होते हैं तो उनके आपसी संवाद से एक–न–एक रूप में लोकवृत्त का निर्माण होता है। इस अवस्था में इनका आपसी मेल–जोल उन व्यवसायी अथवा पेशेवर व्यक्तियों के रूप में नहीं होता जो अपने निजी मामले निपटा रहे हों। इस अवस्था में ये व्यक्ति राज्य की नौकरशाही की वैधानिक बाधाओं के दायरे में काम करने वाली संवैधानिक संस्था के सदस्य की तरह भी व्यवहार नहीं करते। नागरिक–गण सार्वजनिक निकाय के रूप में सर्वसामान्य की भलाई के मामलों पर बात करते हैं और नागरिकों को सभा करने, संगठन बनाने तथा अपना मत अभिव्यक्त और प्रकाशित करने की अबाधित स्वतंत्रता होती हैं। किसी बड़े सार्वजनिक निकाय के बीच इस तरह के संवाद की तथा इस संवाद को ग्रहण करने वालों को प्रभावित करने के लिए सूचना के प्रसार के विशिष्ट साधनों की जरूरत होती है। राजनीतिक लोकवृत्त साहित्यिक लोकवृत्त से अलग होता है क्योंकि इसमें सार्वजनिक बहस राज्य की गतिविधियों के बारे में होती है। यह तो

निश्चित है कि राज्य के अधिकारियों को जनसामान्य का अधिकारी कहा जाता है और राज्याधिकारी ही राजनीतिक लोकवृत्त को कार्यरूप देते हैं। लेकिन वे इस लोकवृत्त का अंग नहीं होते। दरअसल लोकवृत्त राजनीतिक गतिविधियों की समीक्षा करता है। यह समीक्षा ही राज्याधिकारी को अधिकार प्रदान करती है कि वे हर नागरिक के कुशलक्षेम को बचाए–बनाए रखने का काम करें । जब राज्य की प्रभुता इस लोकतांत्रिक मांग के कारगर दबाव में होती है कि जनता की पहुँच सूचना (राजकाज की) तक होनी चाहिए, केवल तभी राजनीतिक लोकवृत्त कानून बनाने वाले किसी निकाय को माध्यम बनाकर सरकार पर सांस्थानिक असर डाल पाता है। 'जनमत' से, नागरिकों के किसी सार्वजनिक निकाय द्वारा राज्य के रूप में साकार शासकीय संरचना की आलोचना और नियंत्रण का आशय ग्रहण किया जाता है। यह आलोचना अनौपचारिक भी हो सकती है और समय–समय पर होने वाले चुनाव के रूप में औपचारिक भी।... लोकवृत्त समाज और राज्य के बीच का संवाद सेतु है। इसमें जनता स्वयं को 'जनमत' के धारक के रूप में संगठित करती है। लोकवृत्त का अपना सिद्धांत होता है – सूचना के सार्वजनीकरण का सिद्धांत, जिसके लिए राजतंत्र की स्याहपोश नीतियों के विरुद्ध लड़ाई लड़नी पड़ी और जिसने उसके बाद से राज्य की गतिविधियों पर लोकतांत्रिक नियंत्रण को संभव बनाया....।" [34] लोकवृत्त का अपना सिद्धांत से हैबरमास का आशय लोकवृत्त के काम करने के नियम और शर्त्तों से है। इन नियम और शर्त्तों में शामिल हैं – 1.सूचना तक जनसामान्य की पहुँच, 2. सभी विशेषाधिकारों का अंत, तथा 3. हर किसी का एकसमान नियम से बँधा होना और इस नियम की तर्कबुद्धिसंगत वैधता।[35]

हैबरमास लोकवृत्त को बुर्जुआ समाज के उद्‌भव से जोड़ते हैं। उन्होंने अपने विश्लेषण में स्पष्ट किया है कि मध्ययुगीन योरोप में 'सार्वजनिकता' का एक प्रत्यय था जरूर, लेकिन इसका संबंध विशेषाधिकारों की रक्षा से था। यह सार्वजनिकता सामंती संरचना (चर्च, सामंत और अमीर–उमरा) से जुड़ी थी। 17वीं–18वीं सदी में यह सामंती संरचना टूट गई। धर्म–विश्वास व्यक्ति के निजी दायरे में आ गए, जबकि चर्च सार्वजनिक–वैधानिक निकायों में से एक बना रहा। शासक के अपने निजी खर्च और सार्वजनिक बजट में अंतर स्थापित हुआ। नौकरशाही और सेना समेत अन्य राजकीय अंगों ने सामंती दरबार के सापेक्ष अपनी स्वायत्तता घोषित की। सामंती जागीर और प्राधिकार की प्रकृति में परिवर्तन हुआ। अमीर–उमरा और कुलीन संसद तथा वैधानिक संस्थाओं के अंग बनकर सार्वजनिक प्राधिकार के दायरे में आ गए। व्यापार तथा अन्य पेशों से जुड़े लोग इस वक्त तक शहरों में अपने निगम तथा क्षेत्रीय संगठन कायम कर चुके थे। ये लोग बुर्जुआ समाज के रूप में विकसित हुए। इनकी गतिविधियों का क्षेत्र राज्य से स्वायत्त था।[36] हैबरमास लोकवृत्त और जनमत को ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन मानते हैं – "इन शब्दों ने अपना विशिष्ट अर्थ ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में ग्रहण किया। यही वह समय था (18वीं सदी का अंतिम दशक) जब जनमत और राज्याज्ञा में अंतर स्थापित हुआ।[37]

कई तरह की औपचारिक–अनौपचारिक संस्थाओं ने जनमत की अभिव्यक्ति, बहस और शासक तथा नागरिक के बीच संवाद को संभव बनाया। 17वीं – 18वीं सदी के योरोप में काफी–हाऊस, पुस्तकालय, ओपेरा–हाऊस तथा जर्नल और व्यावसायिक प्रेस ने इसमें निर्णायक भूमिका निभाई। इनमें से कुछ का उपयोग पहले राजाज्ञा और राजकीय संदेश सुनाने में किया जाता था। धीरे–धीरे यही संस्थाएँ साहित्यिक बिरादरी और नए बुर्जुआ वर्ग के मत की अभिव्यक्ति का साधन बन गयीं। इनका सबसे बड़ा योगदान यह था कि अब मत की अभिव्यक्ति चर्च अथवा 'दरबार' के दायरे में नहीं रही। प्रेस को साधन बनाकर व्यक्तियों का समूह सर्वसामान्य के हितों पर 'मत–प्रकाश' करने लगा। न्यूजलेटर और जर्नल के सहारे यह वर्ग चीजों के मोलभाव, खरीद–फरोख्त की खबरें तो दरियाफ्त करता ही था, सर्वसामान्य की भलाई के मुद्दे पर, राजकीय फैसलों पर आपसी बहसें होने लगीं।

हैबरमास ने इन संस्थाओं के माध्यम से होने वाली बहसों को महत्त्वपूर्ण माना है। इन संस्थाओं ने तर्कबुद्धि के सार्वजनिक इस्तेमाल को संभव बनाया। हैबरमास के अनुसार संचार के इन माध्यमों ने हुकूमत और प्रशासन की गतिविधियों को 'सर्व–जन का मामला' बना दिया। वे कहते हैं कि इन संस्थाओं के माध्यम से होने वाले संवाद का अर्थ था कि अब जनता हुकूमत के फैसलों को बे–सवाल मानने के लिए बाध्य नहीं रह गई। नागरिक अब इन फैसलों की मीमांसा करते थे और अपनी मांगों को एक रूप देकर मुखरित करते थे। वे जिरह करने वाले और हर कुछ को तर्क की तुला पर तौलने वाले लोग थे। हैबरमास की व्याख्या 'जनमत' के इन माध्यमों के विकास को सत्ता की सार्वजनिक जवाबदेही, वैधता तथा सत्ता में भागीदारी की औपचारिक संस्थाओं के विकास के बीच रखकर समझाती है। लेकिन, यहाँ ध्यान रखना होगा कि 'जनमत' की अभिव्यक्ति के माध्यमों के विकास से ही 'नागरिक–समुदाय'[38] का उदय नहीं हुआ। वाद–विवाद और संवाद की संस्थाओं को हम 'पब्लिक' का पर्यायवाची नहीं मान सकते। काफी–हाऊस, ओपेरा–हाऊस और पुस्तकालयों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी जरूर, लेकिन इन संस्थाओं की उपस्थिति को हम लोकतांत्रिक नागरिकता अथवा तर्कबुद्धि पर आधारित लोकवृत्त की कसौटी नहीं मान सकते। इन संस्थाओं के विकास के साथ–साथ धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रियाएँ जारी रहीं और इन्हीं प्रक्रियाओं ने लोकवृत्त के दायरे को ज्यादा से ज्यादा सर्वसमावेशी बनाया। हैबरमास स्वयं स्वीकार करते हैं कि 17वीं–18वीं सदी से पहले भी एक–न–एक अर्थ में सामूहिक वाद–विवाद होते थे। लेकिन 17वीं–18वीं सदी के इस लोकवृत्त की खास बात है – उसका चर्च या दरबार के दायरे से बाहर होना। यह चर्च और दरबार की आज्ञाओं–देशनाओं का वाहक नहीं था। इसमें – 'सामाजिक पदानुक्रम की बाधाओं को लाँघकर मध्यवर्ग सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित, लेकिन राजनीतिक रूप से निष्प्रभावी अमीर–उमरा से 'सर्व–सामान्य' मानव के रूप में मिला।

TH-14770

Jawaharlal Nehru University Library

लोकवृत्त की इस चर्चा को संक्षेप में कहें तो राज्य के नियंत्रण के दायरे से बाहर यह सर्व–सामान्य के हितों से जुड़े मुद्दों पर तर्क–विदग्ध चर्चा का क्षेत्र है। राज्य और समाज के बीच की एक संस्था के रूप में इसने सार्वजनिक प्राधिकार और सत्ता की बुनियादी मान्यताओं पर सवाल उठाये। इसके पहले शासक की सत्ता को प्रजा विस्मय से अपने सामने प्रस्तुत होता देखती थी। बुर्जुआ–समाज से जुड़े लोकवृत्त ने 'राजकीय सत्ता' को सर्व–जन का विषय बना दिया। अब जनसामान्य एक तर्कबुद्धि–सम्मत विवेचन के बल पर राजसत्ता की परीक्षा और नियमन कर सकता था। पूँजीवाद के प्रसार के साथ सामाजिक संबंधों ने वस्तुगत आदान–प्रदान का रूप लिया; उत्पाद का स्वामी निजी व्यक्ति के रूप में स्वायत्त हुआ और व्यक्ति की निजता, जो उसके आत्म का प्रतिबिम्ब थी, राज्य के नियंत्रण से मुक्त हुई।[39] संपदा अब व्यक्तिगत अधिकार का विषय मानी गई और व्यक्ति की निजता संपदा के स्वामी के रूप में स्वीकृत हुई; कानून किसी व्यक्ति के वैधानिक अस्तित्व की गारंटी बना। यह व्यक्ति अब अपने कुल–गोत्र और पूर्व–प्रदत्त सामाजिक हैसियत से नहीं, बल्कि कानून द्वारा स्वीकृत निजी व्यक्तित्व था। नागरिक समाज स्वायत्त निजी क्षेत्र के रूप में उभरा और लोकवृत्त इस नागरिक समाज के 'आत्मबोध' की अभिव्यक्ति का माध्यम बना। लोकवृत्त की संस्थाओं मसलन काफी–हाऊस, ओपेरा–हाऊस और व्यावसायिक प्रेस के जरिए तर्कविदग्ध चर्चा और निर्णयों का किया जाना संभव हुआ। दरअसल, संसदीय प्रजातंत्र की आत्मा है उसकी संविधान–सम्मतता। बुर्जुआ पब्लिक स्फीयर ने इसका सांगठनिक आधार प्रदान किया।

हैबरमास लोकवृत्त को संवादधर्मी दायरा मानते हैं, ऐसा दायरा जहाँ तर्कविदग्ध बहस होती है। इस दायरे में पारस्परिक वाद–विवाद के जरिए आम सहमति बनायी जाती है। यहाँ किसी की सामाजिक–राजनीतिक हैसियत प्रधान नहीं होती; प्रधान होता है वह सर्वश्रेष्ठ तर्क, जो असहमति के मुद्दों को समाधान की दिशा में अग्रसर करता है। यह किसी सत्ता की बाध्यता से मुक्त अबाध अभिव्यक्ति का क्षेत्र है। इस दायरे में तर्क और समीक्षाबुद्धि से संपन्न व्यक्ति घटनाओं का मूक दर्शक–भर नहीं रहता। वह सत्य–असत्य निर्णय द्वारा इन घटनाओं का सक्रिय भागीदार होता है।

छवियों और भव्य तमाशे के इस युग में 'विज्ञापन' और 'प्रचार' ने ज्ञान का रूप ले लिया है – सच्चाई से ज्यादा प्रधान विश्वसनीयता हो गई है। हैबरमास ने लोकवृत्त के क्षरण को मीडिया उद्योग के भयावह विस्तार तथा लोकतंत्र के भीतर पार्टियों और उद्योग जगत के आपसी सहकार से संभव 'प्रचार–तंत्र' से संबद्ध किया है। उनके इस प्रस्ताव और लोकवृत्त की आलोचना भी हुई है।[40]

बहरहाल, 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य के विवेचन के क्रम में अगर लोकवृत्त की अवधारणा को लागू करें तो मूल अवधारणा पर पुनर्विचार करना पड़ेगा। क्या 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का हिंदी लोकवृत्त 'आम सहमति' बनाने की दिशा में अग्रसर था? क्या इस लोकवृत्त के भागीदार स्वायत्त और स्वयंशासी, तथा किसी भी

परंपरा–विरासत से मुक्त स्वतंत्रचेता व्यक्ति थे? इन लोगों ने अपने निजी और सार्वजनिक के बीच किस तरह के संबंध बनाए? इस क्रम में स्वयं उनकी पहचान किस रूप में विकसित हुई? इस अवधि के लोकवृत्त का स्वभाव कैसा था?

हिंदी क्षेत्र के संदर्भ में लोकवृत्त : अध्ययन की समस्याएँ

हैबरमास ने 'पब्लिक' शब्द के जिस आशय को ग्रहण किया है, हिंदी क्षेत्र का लोकवृत्त उससे निश्चय ही भिन्न है। हैबरमास ने स्वयं भी अपने पाठकों को सचेत किया है कि 'लोकवृत्त' की अवधारणा को योरोपीय इतिहास से अलग करके, किसी अमूर्तन के तौर पर उसे दूसरे समाजों पर ज्यों–का–त्यों लागू नहीं किया जा सकता।[41] ऐसे में लोकवृत्त की अवधारणा को हिंदी क्षेत्र के जनमानस (19वीं सदी का उत्तरार्द्ध) को समझने के क्रम में शास्त्रीय अर्थों में नहीं लागू किया जा सकता। एक अध्येता सेंड्रिया फ्राइटैग का मानना है कि साम्राज्यवादी परिवेश में विकसित हुआ लोकवृत्त निश्चय ही उस 'देश के लोकवृत्त से अलग होगा जहाँ स्वशासन हो।'[42] उपनिवेशवादी भारत में 'जनसामान्य' और 'सर्वसमावेशी सार्वजनिकता' की धारणा उपनिवेशवादी हुकूमत की देन है। यह स्थिति हैबरमास द्वारा वर्णित 'लोकवृत्त' से भिन्न है। उन्होंने बुर्जुआ लोकवृत्त को राज्य से स्वायत्त माना है। हिंदी भाषा में विकसित लोकवृत्त की विडम्बनापूर्ण स्थिति को समझने के लिए यहाँ एकाध घटनाओं का उल्लेख प्रासंगिक होगा।

पहली घटना महान शायर मिर्ज़ा ग़ालिब से संबंधित है। ग़ालिब के एक जीवनीकार मालिक राम ने इस शायर की आर्थिक कठिनाइयों का जिक्र करते हुए लिखा है कि दिल्ली कॉलेज के विजिटर जेम्स थॉमसन इस कॉलेज के मुआयने के लिए आये। कॉलेज में फ़ारसी की शिक्षा संतोषप्रद न देखकर उन्होंने मिर्ज़ा ग़ालिब को फ़ारसी का शिक्षक नियुक्त करना चाहा। लेकिन ग़ालिब इस अवसर से चूक गये। चूक का कारण बड़ा दिलचस्प है – "थॉमसन भारत सरकार के सचिव थे और ग़ालिब को जानते थे। ग़ालिब को सरकारी दरबार में 'कुर्सीनशी' का ओहदा मिला हुआ था और इस नाते वे थॉमसन से पहले भी मिल चुके थे। थॉमसन के अनुरोध पर ग़ालिब हमेशा की तरह अपनी पालकी में उनके घर पहुँचे। वहाँ वे फाटक पर ही रुक गए और इंतजार करने लगे कि कोई बाहर आकर उनका स्वागत करे तो वे अंदर जायें। जिन लोगों को गवर्नर जेनरल के दरबार में सम्मान का स्थान प्राप्त था, उनके लिए उस समय यही आम रिवाज था... ग़ालिब इंतजार करते रहे और कोई बाहर नहीं निकला। थोड़ी देर बाद थॉमसन बाहर आए और उन्होंने ग़ालिब से पूछा कि आप पालकी से उतरकर भीतर क्यों नहीं आ गए। जब ग़ालिब ने अपनी समस्या बतायी तो थॉमसन ने कहा कि आपका औपचारिक स्वागत तभी किया जा सकता है जब आप सरकारी अतिथि के रूप में आयें। इस समय आप दिल्ली कॉलेज में नौकरी प्राप्त करने के उद्देश्य से आए हैं, इसलिए आपको परंपरागत स्वागत का अधिकार नहीं है।" ग़ालिब की प्रतिक्रिया तीखी रही। उन्होंने कहा कि "मैं दिल्ली कॉलेज की नौकरी के सिलसिले

में आपसे इसी उम्मीद में मिलने आया हूँ कि इससे मेरा रुतबा बढ़ेगा और देशवासियों तथा ब्रिटिश अधिकारी वर्गों की नजरों में मेरी इज्जत बढ़ जाएगी। अगर इस नौकरी को स्वीकार करने का मतलब है कि मैं उस उज्जत से हाथ धो बैठूँ जो इस समय मुझे प्राप्त है, तो फिर मैं इसे अस्वीकार करना ही पसंद करूँगा...।"[43] यह घटना 1840 ई. की है।

यहाँ हम विधि आधारित शासन–व्यवस्था से हैसियत और पदवी पर आधारित समाज–व्यवस्था के टकराव को साफ देख सकते हैं। ग़ालिब जिस दरबारी संस्कृति के अवशेष थे उसमें 'हैसियत' कुल–गोत्र, मजहब और राजदरबार से नजदीकी के आधार पर तय होती थी। हैबरमास की विवेचना को आधार मानकर कहें तो ग़ालिब मध्यकालीन प्रस्तुतिमूलक लोकवृत्त के सदस्य थे। इस लोकवृत्त में 'खिलअत' पाना तो शान की बात थी, लेकिन 'वजीफाख्वार' होकर 'शाह' को दुआ देना शान में बट्टा समझा जा सकता था। हम याद करें ग़ालिब की मशहूर पंक्ति 'वह दिन गए कि कहते थे नौकर नहीं हूँ मैं।' ऊपर की घटना उदारवादी शासन में निहित व्यक्ति की 'गरिमा' और राजतंत्र में बद्ध 'शान' के टकराव की कहानी कहती है।

'गरिमा' और 'शान' के अंतर को राजनीति–चिंतक और दार्शनिक चार्ल्स टेलर ने स्पष्ट करते हुए कहा कि प्राचीन अथवा मध्यकालीन समय में मौजूद सामाजिक पदानुक्रम 'शान' का आधार हुआ करता था। 'शान' असमानता के बरताव से नाभिनालबद्ध है। कुछ लोग 'आन–बान–शान' वाले हों, इसके लिए जरूरी है कि बाकियों को इस 'शान' से वंचित रखा जाय। 'शान तत्वतः विशेषाधिकार से जुड़ा है।'... इसके ठीक उलट है 'गरिमा' की आधुनिक धारणा, जिसका प्रयोग सार्वभौमिक और समतावादी अर्थों में होता है जब हम 'मनुष्य में निहित गरिमा' अथवा "नागरिक की गरिमा' की बात करते हैं। यहाँ अंतर्निहित सिद्धांत यह है कि हर कोई गरिमा का भागी है...।"[44] ग़ालिब शान वाले समाज के अवशेष थे और थॉमसन वाले मामले में उनका सामना एक निर्वैयक्तिक विधि–व्यवस्था से हुआ था। इस व्यवस्था में सत्ता किसी व्यक्ति में नहीं, स्वयं कानून द्वारा रची गई व्यवस्था में निहित थी। ग़ालिब की 'शान' को यह बर्दाश्त न था। 'खिलअत' और 'वजीफा' से अपनी 'शान' बढ़ाने को फिक्रमंद ग़ालिब ने 'एक आवेदन प्रस्तुत किया था कि उन्हें इंगलैंड की महारानी का राजकवि नियुक्त किया जाय और उनकी पुस्तक 'दस्तन्बू' को सरकारी संरक्षण में प्रकाशित किया जाय।[45] अगर लोकवृत्त शासकीय नियंत्रण से बाहर का स्वायत्त क्षेत्र है तो फिर 1857 ई. तक के हिंदी–उर्दू भाषा के लोकवृत्त को शासकीय नियंत्रण से उलट नहीं माना जा सकता। चाहे फोर्ट विलियम कॉलेज के लल्लूलालजी हों या 1840 ई. के मिर्ज़ा ग़ालिब – सभी सरकारी संरक्षण के लिए व्यग्र थे या शासकीय संरक्षण में ही लेखन कर रहे थे। बाद के दिनों में स्थिति थोड़ी बदलती है, हालाँकि सरकारी संरक्षण पाने की व्यग्रता बनी रहती है। इसका एक कारण है अंग्रेजी शासन की न्याय–व्यवस्था पर विश्वास क्योंकि

उसी ने प्रशासनिक सुविधाओं के लिए 'आम जन' और 'आम आदमी की भलाई' के प्रत्यय को पुनर्परिभाषित करते हुए संस्थागत रूप दिया था।

इस बात का एक साक्ष्य हमें सर सैयद अहमद खान के एक भाषण में मिलता है। सर सैयद ने यह भाषण अलीगढ़ में साइंटिफिक सोसायटी इंस्टीट्यूट के तत्वावधान में आयोजित एक बैठक में दिया था। इस बैठक में 'भारतीय और योरोपीय समुदाय के प्रभावशाली लोग भारी संख्या में' मौजूद थे। सर सैयद ने इस भाषण की शुरुआत में ही स्पष्ट कर दिया था कि भारतीय इतिहास का एक बहुत बड़ा दौर निरंकुश और स्वेच्छाचारी राजाओं–महाराजाओं का दौर रहा है। इस वक्त राजे–महाराजे सर्वशक्तिसंपन्न थे। प्रजा पर उनका परम् प्रभुत्व था और उनकी हुकूमत 'तर्कबुद्धि तथा न्याय के बजाय उनकी स्वेच्छाचारिता, सनक और कामाचार से निर्देशित होती थी।' सर सैयद अपने नये इतिहासबोध में मग्न यह तक कह गए कि राजे–महाराजे 'जहाँपनाह' तथा ऐसे ही अनेक पदवी धारण करते थे और यह पदवी प्रजा के नेक–बद पर उनके परम प्रभुत्व का प्रतीक थी। लेकिन 'वे इस नेक–बद में शायद ही संतुलन बैठा पाते थे और अधिकांश मामलों में उनकी हुकूमत को पाप, निरंकुशता तथा स्वार्थ–साधना का पर्यायवायी ही कहा जाएगा।' सर सैयद इस हुकूमत के बारे में निष्कर्ष सुनाते हैं – "पुराने सम्राटों और राजाओं का शासन न तो हिंदू धर्म के अनुकूल था और न ही इस्लाम के। यह सिर्फ उत्पीड़न और स्वेच्छाचार था; तब ताकत ही अधिकार हुआ करती थी; लोगों की आवाज कोई नहीं सुनता था; मजबूत और आततायी कमजोर और गरीब को सताते थे और सारे विशेषाधिकार दंड–भय से मुक्त होकर हड़प कर जाते थे...।"[46]

सर सैयद इस हुकूमत की तुलना अंग्रेजी–शासन से करते हैं और इस शासन को धन्यवाद के स्वर में दैवीय शासन का एक रूप बताते हैं -- "प्रच्छन्न गुलामी की लंबी अवधि के बाद धरती पर मौजूद किसी भी सत्ता से ऊँचे अल्लाह की आज्ञा से भारत का भाग्य एक प्रबुद्ध जाति के हाथों में आया जिसका शासन विवेक, बुद्धि, तर्क और न्याय के नियमों के अनुकूल है। हाँ! मेरे दोस्तों आकाशस्थ परमप्रभु जो यहूदियों, हिंदुओं, ईसाइयों और मुसलमानों सबका समान रूप से ईश्वर है – उसी ने अंग्रजों के हाथ में भारतीयों को सौंपा है – उन्हें तर्कबुद्धि पर प्रतिष्ठित कानून दिया है (और ईश्वर प्रदत्त कोई भी कानून तर्कबुद्धि पर प्रतिष्ठित कानून के विरुद्ध नहीं हो सकता) – उसी ईश्वर ने सन् 1858 तक आपको ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन दिया...।"[47]

सर सैयद ने इस भाषण में दुख व्यक्त किया कि कंपनी–राज के बड़ा हो जाने पर जनता के दुख–दर्द हुकूमत तक नहीं पहुँच पाते थे। कंपनी–राज कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स चलाता था और वह हर समुदाय और वर्ग की जरूरतों को पूरा करने में समर्थ नहीं था। इन समुदायों की आवाज लंदन की हुकूमत (संसद) तक पहुँचाने के लिए किसी वक्ता; संस्था और प्रतिनिधि की जरूरत थी। ऐसा उस वक्त संभव न था। सर सैयद इस बात पर 'गहरा दुख प्रकट' करते हैं कि 'हुकूमत जब स्वयं महारानी

विक्टोरिया' के हाथ में है तब भी 'भारत के लोग ब्रिटिश पार्लियामेंट' की जानकारी और उसके कामकाज के स्वभाव से अपरिचित हैं। अपने भारतीय श्रोताओं से उलाहने के स्वर में सर सैयद ने कहा – "जब तक आप अपना मामला खुद नहीं उठाते–सुनाते तब तक आप कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि इसके (पार्लियामेंट) सदस्य आपके मामलों को जानेंगे और रूचि लेगें ... अंग्रेजी संसद इंगलैंड की ज्ञानराशि का पूँजीभूत रूप है और इसके बहुत से न्यायप्रिय–सद्गुणी सदस्य मानवजाति के कल्याण में गहरी रूचि लेते हैं. .. लेकिन मानवता के जिस हिस्से के लिए ये अपने को खपा रहे हैं उसकी जरूरतों और मांगों से इन्हें परिचित कराना आवश्यक है... आप विश्वास करें जेंटिलमैन कि यह मांग हिंदू की हो या मुसलमान की, ईसाई की हो या काले अथवा गोरे की – उसका मननपूर्वक अध्ययन होगा और वाजिब तरीके से उसका ध्यान रखा जाएगा....।" सर सैयद का कहना था कि भारत अपने फायदे उठाने में पिछड़ा है। यह पूर्वी जातियों की विशेषता है। भारतीय इसी बात से संतुष्ट हैं कि उनके देश का बजट ब्रिटिश संसद में पेश हो जाय। सर सैयद का सवाल है कि "क्या यही सूरते–हाल जारी रहेगी। अथवा अब समय आ चुका है जब महारानी के शासनाधीन इस महान देश के हित ब्रिटिश जाति की हुकूमत के सामने समुचित रीति से प्रस्तुत किए जाएँ?" सर सैयद का उत्तर है कि अब सही वक्त आ चुका है, क्योंकि योरोपीय समुदाय का आकार यहाँ (भारत में) इतना बढ़ चुका है कि उसने लंदन में संघ बनाये हैं और हिंदुस्तान में भी इन संघों की शाखाएँ हैं ताकि इसके जरिए अपने हर वर्ग के निवासियों की बात ब्रिटिश संसद के सामने रख सकें।"[48]

सर सैयद का यह भाषण बहुत लंबा है। इस भाषण का जोर भारत के हर समुदाय की बात अंग्रेजी पार्लियामेंट तक पहुँचाने और उसके लिए ब्रिटिश तर्ज पर 'संगठन' कायम करने पर है। कहना न होगा कि सर सैयद भारत के हर 'समुदाय' को धार्मिक समुदाय के रूप में देख रहे हैं और उनके मतानुसार तर्कबुद्धि, विवेक तथा न्याय पर आधारित ब्रिटिश शासन ईश्वर–प्रदत्त कानून के विरुद्ध नहीं है। वे अंग्रेजी शासन को ईश्वरीय विधान के अनुकूल मानकर चल रहे हैं जिसने पहले के राजाओं की गुलामी से प्रजाजनों को छुटकारा दिलाया। सर सैयद के ये विचार किस दबाव में बनते हैं' इसकी चर्चा आगे के अध्याय चार में की जाएगी। सर सैयद का यह भाषण उस वक्त के पश्चिमोत्तरप्रांत और अवध में सक्रिय कमोबेश हर 'सार्वजनिक व्यक्ति' की चिंता और सरोकारों को स्पष्ट करता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र भी लगभग इसी किस्म की बात कह रहे थे। 'भारतजननी' नाटक में 'भारतमाता' अपने पुत्रों को प्रबोध देती है कि 'तुम लोग एक बेर जगत्विख्यात.... आर्य स्वामिनी राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरण–कमलों में अपने दुख का निवेदन करो। वह अतीव कारुण्यमयी, दयाशालिनी और प्रजा शोक–नाशिनी हैं...।' भारतमाता का एक वत्स पुकारता है – "इंगलैंडेश्वरी माता विक्टोरिया! माता! ये भारत संतानगण आप से सविनय प्रार्थना करते हैं...।" यही पात्र

'भारतमाता' को सांत्वना देते हुए कहता है – "माता! तुम्हारा अश्रुपात देखने से जिनका स्वयं अश्रुपात नहीं होता ऐसे अंगरेज थोड़े हैं। उनकी न्यायशीलता, निष्पक्षपातिता और प्रजा–पालित्व तो संसार में प्रसिद्ध है...।"[49]

सर सैयद हों या भारतेंदु – दोनों अंग्रेजी शासन की न्यायशीलता के धीर विश्वासी हैं। उन्हें मात्र इतना लगता है कि जो अन्याय हो रहा है वह अंग्रेजी अफसरशाही और उनके देशी मातहतों के कारण। दोनों अपने तईं यह मानते स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजी शासन विधि–आधारित होने के कारण निष्पक्ष और न्यायशील हैं और इस विधि–व्यवस्था तक अपनी आवाज पहुँचाकर न्याय पाने की उम्मीद की जा सकती है। सर सैयद अपने श्रोताओं को समझा रहे थे – "मुझे लगता है कि आप सरकार अथवा जिलाधिकारियों के भय से कि कहीं ऐसे कदम (अपनी आवाज ब्रिटिश संसद तक पहुँचाने के काम) उठाने पर राजद्रोही और असंतुष्ट न मान लिया जाय – देश की भलाई के लिए आगे आने में हिचकते हैं... मेरा विश्वास करें कि यह नैतिक कायरता गलत है... भारत में उदारवादी रुझान वाला एक भी अंग्रेज ऐसा नहीं है जो भारत के निवासियों के भीतर बढ़ती हुई सभ्यता की इस स्वस्थ निशानी को खुशी और आशा के साथ नहीं स्वीकार करेगा।"[50] दूसरी तरफ भारतेंदु ने 'भारत दुर्दशा' में एक बंगाली सज्जन को यह कहते दिखलाया है – 'इसका पेश्तर कि भारत–दुर्दैव हम लोगों के शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय सोचना अत्यंत आवश्यक है। किंतु, प्रश्न ऐई है कि जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बाज्जोबल के बाहर का बात है? क्यों नहीं शकता?... देखो! हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय साधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन लीग इत्यादि अनेक सभा भी होते हैं। कोई थोड़ा भी बात होता हम लोग मिल के बड़ा गोल करता। गवर्नमेंट तो केवल गोल–माल से भय खाता। और कोई तरह से नहीं सुनता। ओ हुँआ का अखबार वाला सब एक बार ऐसा शोर करता है कि गवर्नमेंट को अलबत्त सुनना होता। किंतु हैयाँ, हम देखते हैं कोई कुछ नहीं बोलता। आज सब आप सभ्य लोग एकत्र हैं, कुछ उपाय इसका अवश्य सोचना चाहिए।" उपाय सोचा जाता है। नाटक के एक पात्र एडीटर साहब अपना मंतव्य जाहिर करते हैं – "एजुकेशन की सेना बनायी जाय। कमेटी की फौज। अखबार के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जाएँ।"[51]

सर सैयद का भाषण सन् 1866 का है और भारतेंदु का यह नाटक सन् 1875 में छपा था। सर सैयद के भाषण और भारतेंदु के इस नाटक की बातें मिलती–जुलती हैं। इसका कारण है 1857 ई. के विद्रोह के बाद बदली हुई राजकीय स्थिति। इस स्थिति पर प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल की टिप्पणी है कि इस वक्त के 'हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों के नेताओं द्वारा अपने लिए चुनी गई ऐतिहासिक समस्या एक ही थी – 'नए शासनतंत्र के अंतर्गत अपने समुदाय की बेहतरी कैसे हासिल की जाए।' बाकी सवाल रणनीति के थे – बेहतरी का लक्ष्य पाश्चात्य सभ्यता को अपनाकर हासिल किया जा सकता है या अपनी धार्मिक परंपरा की विशुद्धता को बनाए रखकर...?[52]

यहाँ हम 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी लोकवृत्त की एक और समस्या से साक्षात्कार करते हैं। यह लोकवृत्त सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करता है और यह सामुदायिकता इहलौकिक जरूरतों के लिए 'शासन' के सामने आवाज जरूर उठाती है। परंतु पूर्वआधुनिक पहचान 'धर्म' इस समुदायबोध का आधार है। हैबरमास द्वारा वर्णित लोकवृत्त कुल–गोत्र–धर्म–नस्ल की पहचान से परे जिस 'व्यक्ति' को सार्वजनिक भागीदारी तथा तर्कविदग्ध चर्चा द्वारा शासन की आलोचना में जनसामान्य की तरफ से रत् बताता है, वह 'व्यक्ति' औपनिवेशिक भारत के हिंदी–उर्दू लोकवृत्त में गायब है। यहाँ सवाल यह भी बनता है कि धर्म से परिभाषित समुदाय के 'निजी' और 'सार्वजनिक' का भेद हम कैसे करें? दूसरे शब्दों में, हिंदू अथवा मुस्लिम समुदाय ने 'धर्म' को निजी अर्थों में ग्रहण किया अथवा सार्वजनिक मामला माना। धर्म को सार्वजनिक बहस का मामला मानने की सूरत कैसे पैदा हुई? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं 1857–58 के बाद स्थापित विक्टोरियाई शासन (भारत में) की बनावट में निहित है। इस बनावट की विवेचना से हमें हिंदी अथवा उर्दू भाषा में विकसित लोकवृत्त और उसमें सक्रिय 'पब्लिक' की मौलिकता का पता चलता है। क्या है वह मौलिकता?

हंटर आयोग ने (1882 में गठित) सार्वजनिक जीवन और शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों से कुछ सवाल पूछे थे ताकि शिक्षा की अपनी योजना और चार्ल्सवुड डिस्पैच (1854) को लागू करने के संबंध में देसी समाज के नुमाइंदों की राय जानी जा सके। जिनसे सवाल पूछे गए उनमें बाबू हरिश्चंद्र भी एक थे। हंटर आयोग का एक सवाल (नं.–16) था – "क्या कोई ऐसी स्थिति भी आपको नजर आती है जिसमें उच्च सरकारी (शिक्षा) संस्थाएँ बंद कर दी जायें अथवा उन्हें निजी संस्थाओं के हाथ में दे दिया जाय, चाहे इन संस्थाओं को सरकारी सहायता दी जा रही है या नहीं और ऐसा करने पर शिक्षा के मामले को अथवा किसी अन्य हित को, जिसकी रक्षा सरकार का दायित्व है – चोट न पहुँचती हो?"[53]

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जवाब था – "भारत के लोग सदैव सम्राटवादी सरकार पद्धति के अधीन रहे हैं। ...उनके ऊपर एक राजा, शासक अथवा स्वामी होना चाहिए, जिसकी आज्ञा का पालन उन्हें करना चाहिए... उन्हें अपनी मनमानी पर छोड़ दीजिए और वे आपे से बाहर हो जाएँगे। हमारी भाषा में 'पब्लिक' जैसा कोई शब्द नहीं है। इसका अनुवाद हम करते हैं 'सरकार' जिसका मतलब हुआ 'कार्य का प्रधान'। हमारी भाषा में नेशनलिज़्म या 'पैट्रियोटिज़्म' के लिए समानार्थक शब्द नहीं हैं...।"[54]

भारतेंदु के इस उत्तर पर वीरभारत तलवार की टिप्पणी है – "भारतेंदु का यह कहना आश्चर्यजनक था कि भारत में 'पब्लिक' जैसी कोई चीज नहीं है... जब भारतेंदु हंटर आयोग से शिक्षा के निजी प्रयत्नों के प्रति विरोध प्रकट कर रहे थे, उस समय... आर्य मैग्ज़ीन पत्रिका में निजी प्रयत्नों से ऐसी शिक्षा–संस्था खोलने का संकल्प लिया जा रहा था... जिस पब्लिक के अस्तित्व से भारतेंदु ने इंकार किया था उसी पब्लिक ने

कॉलेज खोलने के लिए (एंग्लो–वैदिक कॉलेज) उस सभा (लाहौर की सार्वजनिक सभा – 8 नवंबर 1883) में उत्साह के साथ 6000 रुपये दिए।"[55]

यहाँ सवाल बनता है कि क्या भारतेंदु अपने समय और समाज को नहीं समझ पा रहे थे अथवा किसी निहितस्वार्थ के कारण गलतबयानी कर रहे थे?

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की जटिलताओं की अनदेखी के कारण ऐसे निष्कर्ष निकाले जाते हैं और भुला दिया जाता है कि उस समय की प्रशासकीय बनावट ही भारतीयों को शास्त्रीय अर्थ में पब्लिक स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। क्या थी यह प्रशासकीय बनावट?

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक भारतीय औपनिवेशिक समाज साफ–साफ दो भागों में बँट चुका था। एक तरफ मुट्ठी–भर गोरे शासक थे जो सभ्यता के धरातल पर अपने को सर्वश्रेष्ठ और इसी कारण 'असभ्य' अथवा 'अर्द्ध–सभ्य' समस्त विश्व पर शासन के योग्य समझते थे। दूसरी तरफ थे लगभग 25 करोड़ भारतीय, जिन पर इन गोरों का कारगर नियंत्रण था। सन् 1857–58 की आपाधापी में गोरी हुकूमत की सैन्य–शक्ति और उसकी बर्बरता जाहिर हो चुकी थी। दूसरी तरफ, अंग्रेजी हुकूमत ने भी इससे कुछ सबक सीखे थे।

इस घटना के बाद के दो दशकों में अंग्रेजी हुकूमत ने अपने प्राधिकार की पुनर्रचना की।[56] प्राधिकार का सिद्धांत संहिताबद्ध हुआ। इस सिद्धांत के पीछे भारतीय समाज को अपने साम्राज्य के रूप में स्थायित्व देने की मंशा थी। यह सिद्धांत भारतीय समाज की, कतिपय धारणाओं के तहत, पुनर्रचना का प्रयास था।

अवधारणागत धरातल पर देखें तो 2 अगस्त 1858 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के कारण अंग्रेज अब देश की सत्ता में 'बाहरी' नहीं रहे। उन्होंने अपने को देसी शासकों की कड़ी के सिरमौर तथा उसी के स्वाभाविक विकास के रूप में स्थापित कर लिया। इस एक्ट के जरिए भारत की संप्रभुता को ब्रिटिश ताज में निहित कर दिया गया। ब्रिटिश ताज, भारतीय प्रजा और देसी रजवाड़ों के आपसी संबंध की व्याख्या 8 नवंबर 1858 को विक्टोरिया के घोषणापत्र में की गई। अपनी घोषणा में रानी विक्टोरिया ने देसी रजवाड़ों को आश्वासन दिया कि 'उनके अधिकार, मान और प्रतिष्ठा' की रक्षा की जाएगी' और 'उनके क्षेत्रीय प्रभुत्व का सम्मान' किया जाएगा। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में कहा गया कि महारानी अपने भारतीय साम्राज्य के साथ उसी कर्त्तव्य और दायित्व से बँधी हैं जिससे अपनी शेष प्रजा से।'

इस घोषणापत्र ने भारतीय प्रजा को अपना धर्म मानने का अधिकार प्रदान किया–यानी राजकीय गारंटी। कहा गया कि भारतीय प्रजा को 'कानून की निष्पक्ष तथा समान रूप से सुरक्षा प्रदान' की जाएगी और कानून गढ़ने तथा उसके क्रियान्वयन में 'प्राचीन अधिकार, प्रथा और रीति–रिवाज' का पर्याप्त सम्मान किया जाएगा। देसी नवाब

और राजे–महाराजे तथा भारतीय प्रजा को महारानी ने वचन दिया कि 'भारतीय जनता के शांतिपूर्ण उद्यम, जनकल्याण और विकास के कार्यों को' बढ़ावा देने तथा उसे गति प्रदान करने के लिए हर संभव उपाय किए जाएँगे।' उद्घोषणा का विश्वास था कि भारतीय प्रजा इस सामाजिक विकास और प्रगति का लाभ उठाएगी जो आंतरिक शांति और सुशासन से ही संभव है।

इतिहासकार बर्नाड ए. कोहन के अनुसार यह उद्घोषणा दो मान्यताओं पर आधारित थी। पहली मान्यता यह कि भारतीय समाज धर्म, संस्कृति और समुदाय के धरातल पर विविधताओं से परिपूर्ण हैं। दूसरी मान्यता थी कि विदेशी–शासन का काम इस विविधता को बचाने के लिहाज से निष्पक्ष न्यायकारी सरकार को कायम करना तथा प्रत्येक समुदाय की भौतिक–सामाजिक प्रगति के लिए काम करना है।[57]

यह उद्घोषणा एक सांस्कृतिक बयान के रूप में देखी जा सकती है। इसमें शासन के दो अलग तथा परस्पर विरोधी सिद्धांत एक में समाहित कर दिए गए हैं। एक सिद्धांत भारत को अनिवार्यतया सामंतीसमाज–व्यवस्था का रूप मानकर चल रहा है तो दूसरा इस सामंतीसमाज–व्यवस्था को तोड़ने की दिशा में अग्रसर दिखता है। बर्नाड एस. कोहन के अनुसार ब्रिटिश शासन के इन दोनों सिद्धांतों ने भारतीय समाजशास्त्र तथा भारतीय समाज में शासक, समुदाय और व्यक्ति के बीच मौजूद संबंध के बारे में धारणाओं को अपने में समाहित किया। अगर शासन का तरीका सामंतशाही वाला रखना है तो इसके लिए जरूरी है कि भारतीय सामंतों की पहचान अथवा उनकी पुनर्रचना की जाय, ताकि यह वर्ग ब्रिटिश ताज के लिए 'निष्ठावान सहायक' के रूप में काम कर सके। यदि भारत का शासन 'आधुनिक' और 'उदारवादी' ढाँचे में करना हो तो उसके लिए जरूरी होगा नये तरीके के नागरिक समाज और सार्वजनिक जवाबदेही से युक्त शासन–तंत्र की रचना करना। जो लोग इस तरह के शासन के पक्षधर थे उन्होंने प्रतिनिधित्व पर आधारित हुकूमत को अच्छा माना। यह हुकूमत समुदाय और उनके हितों की रक्षा करने वाली मानी गई। व्यक्तियों को अपने समुदाय का प्रतिनिधि समझा गया।

इस दोहरे शासन में अंतिम न्यायकर्ता अंग्रेज शासक ही थे। भारतीयों का इन शासकों से संबंध या तो 'सामंती सहायक' के रूप में था अथवा अपने समुदाय (जाति–धर्म पर आधारित) के प्रतिनिधि के रूप में। औपनिवेशिक शासन की इन दोनों धाराओं के अंग्रेज हुक्मरान भारत के अतीत और वर्तमान के बारे में सुनिश्चित धारणाएँ रखते थे। अंग्रेजी हुकूमत ने मान लिया था कि भारतीय अपनी स्वभावगत तथा सांस्थानिक कमजोरियों के कारण आर्यों से लेकर मुगलों तक विदेशी शासन के अधीन रहे। यह तथ्य अंग्रेजी हुकूमत स्वतःसिद्ध मानकर चल रही थी कि भारतीय अपना शासन नहीं कर सकते। उसका अपना तर्क यह था कि क्या भारतीयों की यह कमजोरी स्थायी है अथवा समुचित प्रशिक्षण द्वारा उन्हें स्वशासन के योग्य बनाया जा सकता है? अंग्रेज हुक्मरान सोच रहे थे कि सामंती शासन और प्रतिनिधिमूलक प्रशासन साथ–साथ

चल सकता है। अंग्रेजी समाज स्वयं भी सामंतशाही के दौर से गुजर चुका था और अंग्रेज अपने अतीत को भारत का वर्तमान मानकर चल रहे थे। चूँकि ब्रिटिश राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था इसी अतीत से गुजरकर 'आधुनिक' हुई थी इसलिए अंग्रेजी हुकूमत का ख्याल था कि भारत में भी यह प्रक्रिया घटित हो सकती है। शासक वर्ग के सदस्य अपनी इन धारणाओं के कारण नीतिगत धरातल पर यह तर्क दे सकते थे कि राजे–रजवाड़ों और रैयत को प्रशासनिक ढाँचे में बनाये रखना तथा उसके साथ ही नगरों में पश्चिमी शिक्षा से संपन्न प्रतिनिधि तैयार करना हर लिहाज से ठीक है। क्योंकि ऐसा शासन भारतीय समाज के स्वभाव के अनुकूल होगा और भारत कालक्रम में इंगलैंड की तरह सभ्य–राष्ट्र भी बन जाएगा।

सर सैयद अपने उपर्युक्त भाषण में इसी इतिहासबोध को दुहरा रहे थे। 'बाबू हरिश्चंद्र' भी अंग्रेजी शासन के इसी दोहरेपन को कोस रहे थे – "कुछ साल पहले अंग्रेज लोग जब हिंदुस्तान के विषय में बयान देते थे तब यही प्रकट करते थे कि हम केवल देश के लाभ अर्थ राज्य करते हैं.... हम सदैव हिंदुस्तान की बुद्धि के निमित्त विचार करते हैं कि हम लोग इस देश की वृद्धि करेंगे और यहाँ के निवासियों को विद्यामृत पिलायेंगे और राज्य का प्रबंध किस भाँति करना यह ज्ञान जब प्रजा को स्वतः हो जाएगा तब हम लोग स्वाधीन कर देंगे... अंग्रेजों ने हमलोगों को विद्यामृत पिलाया और उससे हमारे देश–बांधवों को बहुत लाभ हुए परंतु उन्हीं के अनुसार हिंदुस्तान की वृद्धि का समय आने वाला है, सो तो एक तरफ रहा, पर प्रतिदिन मूर्खता, दुर्भिक्षता और दैन्य प्राप्त होता जाता है।[58] भारतेंदु यहाँ सटीक पहचान करते हैं कि अंग्रेजी शासन ने आर्थिक शोषण की गर्ज से 'हमें मोहित' किया।

सन् 1858 के अधिनियम के तहत एक नये प्राधिकार की रचना हुई। देसी राजे–रजवाड़े अब अंग्रेजी 'ताज' के निष्ठावान सहायक थे। वायसराय की मातहती में उनका पदानुक्रम तय हुआ। पदानुक्रम तय करने में कई बातों का ध्यान रखा गया, मसलन शासक के अधीन आने वाले राज्य का आकार, उनके राजस्व की मात्रा, ईस्ट इंडिया कंपनी से गठबंधन की तारीख, पारिवारिक इतिहास, मुगल साम्राज्य के समय की उनकी स्थिति तथा अंग्रेजी हुकूमत के प्रति उनकी निष्ठा के काम आदि। राजे–रजवाड़ों और उनके प्रधान सहायकों के लिए आचारण–संहिता तय हुई। वे कपड़े कौन से पहनेंगे, हथियार कितने रखेंगे, उनके सम्मान में कितनी तोपों की सलामी दी जाएगी, उनकी अगुआनी में ब्रिटिशताज की तरफ से कौन खड़ा होगा – जैसी बातों का फैसला हुआ। लार्ड लिटन के दरबार (1877) में इसी प्राधिकार को सामूहिक तौर पर प्रस्तुत किया गया।[59]

ठीक इसी तरह प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आनेवाले भारतीयों का पदानुक्रम विभिन्न पदाधिकारियों के दस्तावेजों में शहर, जिला तथा प्रांत के स्तर पर तय हुआ। जिले के अग्रणी लोगों का पदानुक्रम राजस्व अदायगी की मात्रा, जमीन की

मिल्कियत, वंश के इतिहास तथा ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा अथवा द्रोह के कृत्य के आधार पर तय किया गया। प्रांतीय तथा केंद्रीय शासन के अधीन काम करने वाले भारतीय अधिकारियों और कर्मचारियों का भी पदानुक्रम उनके कार्यालय, सेवावधि तथा प्राप्त राजकीय सम्मान के आधार पर तय किया गया। आम जनता जाति, समुदाय और धर्म के साँचों में ब्रिटिश हुकूमत के राजकीय दस्तावेजों में दर्ज हुई। खिताब और पदवी की प्रथा नये ढंग से कायम की गई।

'सिपाही विद्रोह' के दमन के तुरंत बाद जब महारानी विक्टोरिया को भारत का प्रधान शासक घोषित किया गया तो राजकीय सम्मान और खिताब की हिंदुस्तानी प्रथा की गहरी पड़ताल हुई, ताकि खिताबों में एक पदानुक्रम बनाया जा सके। खिताबों में पदानुक्रम तो तय हुआ ही, – खिताब के धारक को ब्रिटिश मानक पर यह साबित करना पड़ता था कि उसको प्रदान की गई पदवी 'वैध' है। सिर्फ वायसराय को खिताब प्रदान करने का अधिकार था। वह 'ब्रिटिश ताज' का प्रतिनिधि था और स्थानीय तथा प्रांतीय अधिकारियों की संस्तुति पर खिताब से नवाजता था। खिताब से नवाजने का आधार था – राज के प्रति निष्ठा साबित करने वाले कृत्य, सरकार के लिए लंबी अवधि तक महत्त्वपूर्ण सेवा, स्कूल और अस्पताल आदि के लिए दान–कार्य, विशेष किस्म के 'फंड' में योगदान आदि। यह खिताब व्यक्ति को उसके जीवन भर के लिए दिया जाता था और कभी–कभी 'अच्छा व्यवहार' साबित होने पर खिताब धारक के कुल को भी, उसकी मृत्यु के बाद, उसका हकदार माना जाता था। सन् 1870 का दशक तक 'खिताब' नये शासन–तंत्र और उसकी प्राथमिकता – 'स्थायित्व के साथ प्रगति' – के प्रतीक बन चुके थे। इस शासन–तंत्र में कोई राजा–महाराजा था, कोई स्टार ऑफ इंडिया यानी सितारे–हिंद तो कोई रायबहादुर–खानबहादुर। सुगतो बोस और आयशा जलाल की टिप्पणी है कि औपनिवेशिक भारत में कोई नागरिक नहीं था, केवल साम्राज्य और 'परंपरागत' रजवाड़ों के प्रजाजन थे।[60] इन प्रजाजनों के कुछ नुमाइंदे थे और शासन 'सहयोगियों' के बूते चलाया जा रहा था।

1877 के दिल्लीदरबार में नये प्राधिकार को जनता के सामने शाहीदरबार ने प्रस्तुत किया। इस दरबार ने दोहरी भूमिका निभाई। इसने भारत के रजवाड़ों को वैधता प्रदान की और खिताब तथा विशेषाधिकार के जरिए समुदायों के नेता तैयार किए। इस युग में 'म्युनिसिपल गवर्नमेंट' का भी जोर बढ़ा था और इस 'गवर्नमेंट' में 'मानद अधिकारी' के तौर पर समुदायों के नेता अथवा 'गणमान्य' शामिल किए जाते थे। बहरहाल, 1877 के दरबार में औपनिवेशिक शासन ने देश भर के गणमान्य व्यक्तियों और पत्रकारों को बुलाया था। यह पत्रकारों के पहचान की पहली सार्वजनिक स्वीकृति थी।[61] भारतेंदु ने स्वयं दिल्ली दरबार का वर्णन किया है।

इस प्राधिकार संरचना के बीच भारतेंदु ठीक पहचान रह थे कि हमारे देश ने अभी 'पब्लिक' का पर्यायवाची नहीं गढ़ा है। चंदा देने वाली जनता नागरिक नहीं,

समुदाय (आर्यसमाजी हिंदू) थी। इसके नेता निजी व्यक्तियों के सार्वजनिक जमावड़े के नहीं, बल्कि धर्माधारित समुदाय के हितों के नुमाइंदे थे। यह समुदाय सर्वसमावेशी नहीं, बल्कि पूर्व–आधुनिक पहचान के आधार पर दूसरे धर्म–समुदाय के सदस्य को 'अपवर्जित' करके चलने वाला समुदाय था।

इस प्रकार हमें 19वीं सदी के हिंदी–उर्दू लोकवृत्त में जिस 'पब्लिक' के दर्शन होते हैं वह हैबरमास के शास्त्रीय अर्थों वाले 'पब्लिक' के विपरीत, शासकीय तंत्र का एक अंग बनकर और पूर्व–आधुनिक पहचान को आधार बनाकर एक सीमा तक अपवर्जी प्रकृति के साथ विकसित होती है। इसका चरित्र औपनिवेशिक शासन का समाजशास्त्र निर्णायक रूप से गढ़ता है।

देसी लोकवृत्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उपर्युक्त विवेचन से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी अखबार स्वयं को 'प्रजा का प्रतिनिधिस्वरूप' मानकर क्यों चल रहे थे और इन पत्रों के लेखक अपने पाठकों के 'राजनीतिक संस्कार' की बातें क्यों कर रहे थे। दरअसल, इस युग में मौजूद सत्ता की संरचना पत्र–लेखकों को अपने उदारवादी मुहावरे में मान्यता देती थी और उसका समाजशास्त्र पत्र–लेखकों को अपने–अपने समुदाय का नुमाइंदा स्वीकार करता था। दो सवाल अभी अनुत्तरित हैं। एक यह कि हिंदी पत्रों के लेखक हिंदीभाषा, देवनागरी लिपि और हिंदू समाज को परस्पर नाभिनालबद्ध क्यों मान रहे थे और दूसरा यह कि ये पत्र–लेखक 'पब्लिक ओपीनियन' को 'सदा से आर्य–जाति' का 'भूषण' क्यों स्वीकार कर रहे थे। पहले प्रश्न के समाधान की कोशिश आगे के अध्यायों (अध्याय–2 और अध्याय–4) में की जाएगी। यहाँ दूसरे प्रश्न की विवेचना की कोशिश की जा रही है।

इतिहासकार सी.ए. बेली का कहना है कि 'जनमत' अर्थात् तर्कविदग्ध सार्वजनिक बहस और इसी क्रम में सर्वजन के हित की चिंता सिर्फ आधुनिक और पश्चिमी राजव्यवस्था की ही विशेषता नहीं है। 19वीं सदी में विकसित 'लोकवृत्त' के पीछे एक लंबी परंपरा की मौजूदगी का रेखांकन करते हुए बेली ने दिखाया है कि शास्त्रार्थ और खंडन–मंडन की पुरानी परंपरा से ही इस युग के अग्रणी नेताओं ने प्रेरणा ग्रहण की और ये नेता इस परंपरा के स्वाभाविक विकास हैं। बेली ने दिखाया है कि उत्तर भारत का 'शिष्ट' और 'पंडित समाज' अथवा 'आलिम–उलेमा' (बेली इन्हें Indian Ecumen कहते हैं) बड़े लंबे समय से सार्वजनिक हित के मसलों पर तर्कसम्मत चर्चा में निष्णात रहा है। 'शिष्ट समाज' और दरबार के कार्यों को अंजाम देने वाले अधिकारी और धर्मनेता पत्र, व्यंग्य, कथा, प्रवचन, कविता और धार्मिक अवसरों में भागीदारी के माध्यम से (भट्ट जी के शब्दों में मेले–ठेले, तीज–त्यौहार, आख्यायिका...) एक सीमा तक राज्य की गतिविधियों पर आलोचनात्मक निगाह रखते थे। बेली इसके लिए मुगलकालीन भारत में मौजूद 'न्यायसंगत शासन (Just rule) की धारणा को महत्त्वपूर्ण

मानते हैं। वे हिंदू और इस्लाम धर्म में मौजूद 'न्यायसंगत राज' की धारणाओं और इन धारणाओं के व्याख्याकारों के बहुविध स्तर की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि 'इन भारतीय अवधारणात्मक प्रणालियों में 'प्राधिकार' बहुअर्थी और बहुकेंद्री है। इस्लामी सिद्धांत में सुल्तान की सत्ता सर्वाधिक अनिश्चित है... सुल्तान की सत्ता इस्लामी कानून और इसके आलिम–उलेमा की व्याख्या से तो निर्धारित होती ही थी, इस पर जनजातीय जमातों की सामूहिक सत्ता तथा 'अहले–ईमान' की सर्वसाधारण जमातों का भी अंकुश था। सैयद और शेख पैगम्बर के वंशज माने जाते थे और चाहे धर्मशास्त्र में निष्णात हों या नहीं, उनकी हैसियत विशिष्ट मानी जाती थी। सूफी रहस्यवाद ने भी आध्यात्मिक धर्म–ज्ञान पर जोर देने के कारण शासक और उलेमाओं के प्राधिकार पर अंकुश रखा। बहुत से सूफियों ने राज–व्यवस्था से दूरी बनायी। उनके मजार और खानकाह समाज–सत्ता के वैकल्पिक केंद्र बने... हिंदू धर्मव्यवस्था और सत्ता भी इसी हद तक बहुकेंद्री थी। ब्राह्मण की पवित्रता और इस पवित्रता पर आधारित उसकी सत्ता, समाज में उसकी स्थिति पर निर्भर थी। वह संन्यासी और संसार–त्यागी बनकर अपनी पवित्रता को बचाये रख सकता था तो समाज में शामिल होकर अपनी पवित्रता को खतरे में भी डाल सकता था। इस तरह, सिद्धांत और व्यवहार – दोनों ही धरातल पर ब्राह्मणत्व एक खतरनाक तथा शातिर वस्तु थी – राजा और प्रजा दोनों के गले की फाँस..।[62]

बेली के इस प्रस्ताव को आधार मानकर फरहत हसन ने ब्रिटिश–पूर्व भारत में 'जनमत' और नागरिक समूह के पूर्व–आधुनिक रूपों का एक विवेचन किया।[63] हसन के अनुसार मध्ययुगीन योरोप के विपरीत भारत में मुगलकालीन राजसत्ता ही प्रजा के समक्ष अपने प्राधिकार को प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं थी। 'सार्वजनिकता' पर उसका कोई एकाधिकार नहीं था। आम–जनता भी अपनी सामाजिक पहचानों को आधार बनाकर राजनीतिक–चर्चा तथा जनमत–निर्माण में संचार के परंपरागत माध्यमों द्वारा भाग लेती थी। यदि सत्ताधारी खास तरह की प्रस्तुतियों के जरिए अपने प्रभुत्व की घोषणा करते थे तो अधीनस्थ सामाजिक वर्ग उन्हीं माध्यमों का इस्तेमाल उनके प्रभुत्व के प्रतिकार में करता था। इसी कारण तीज–त्यौहार शासक वर्ग और राज्यसत्ता के लिए लगातार चिंता का विषय बने रहे। ऐसे अवसरों पर कभी–कभार अधीनस्थ समूह अभिजन के साथ सीधे संघर्ष पर उतर आता था।

धार्मिक समुदायों की सामूहिक प्रार्थना अथवा प्रवचन भी सार्वजनिक क्षेत्र में जनमत–निर्माण के लिहाज से प्रमुख संचार–तंत्र था। हसन के अनुसार मुसलमानों में प्रचलित जुमे की नमाज समाजीकरण का औजार तो थी ही, एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका भी निभाती थी। नमाज से पहले खुतबा पढ़ा जाता था जो राज्य की राजनीतिक वैधता को तय करने का महत्त्वपूर्ण औजार था। नमाज के लिए जुटी जमात कभी–कभी 'खुतबा' सुनने से इंकार कर देती थी। यह प्रतीक था कि राज्य के राज–काज की वैधता से जनता अब इंकार कर रही है। बहरहाल, यह संचार का एक कर्मकांडगत रूप था। अगर राज्य अपने 'प्राधिकार' खुतबे से पहुँचा था तो नागरिक–समाज का यह

मध्यकालीन आद्यरूप प्राधिकार को स्वीकारने की अपनी शर्त 'खुतबा' सुनने से इंकार करके जताता था। दोनों के बीच शासन और कानूनसाजी के मानकों पर एक तरह से साझा था। कानूनसाजी सिर्फ शासक वर्ग पर ही निर्भर नहीं थी, शासितों की भी (सीमित अर्थों में) इसमें भागीदारी थी।

हसन ने इस 'जनमत' की सीमा का रेखांकन करते हुए लिखा है कि शासन के मानक सत्ता और ताकत के प्रदर्शन से भी तय किए जाते थे तथा नैतिक–बौद्धिक तर्कों द्वारा भी। बुर्जुआ पब्लिक स्फीयर की आदर्श स्थिति के विपरीत इस लोकवृत्त में शासक वर्ग भौतिक संसाधनों के बल पर कमजोर–से–कमजोर तर्क देकर भी जीत सकता था – 'सन् 1658 ई. में जब औरंगजेब अपने पिता शाहजहाँ को कैद करके गद्दीनशीं हुआ तो इस्लाम के आलिम और फाजिल (जिसमें मुख्य काजी भी शामिल था) ने तर्क दिया कि शरीअत के अनुसार नये सम्राट के नाम पर खुतबा नहीं पढ़ा जा सकता क्योंकि उसके पिता अभी जीवित हैं। इससे औरंगजेब की वैधता खतरे में पड़ गई। उसने एक विद्वान अब्दुल वहाब को मोल लिया कि मुझे इस संकट से उबारो तो खिलअत और जागीर पाओगे। वहाब ने औरंगजेब के पक्ष में सिलसिलेवार तर्क देते हुए कहा कि चूँकि शाहजहाँ बूढ़े और अशक्त हो गए हैं इसलिए उनके पुत्र को सम्राट स्वीकार करना 'जायज' और 'नफीज़' है...।[64]

ऐसी स्थिति में भट्ट जी का यह कहना समुचित जान पड़ता है कि 'पब्लिक ओपीनियन' हमारे लिए कोई 'नयी बात नहीं'। उन्होंने रामकथा का एक प्रसंग अपने तर्क की पुष्टि में उद्धृत किया है। रामकथा के भीतर इसकी अनेकशः संभावनाएँ मौजूद हैं कि 'सुराज' की परख की जा सके। 'रामचरितमानस' के एक अध्येता फिलिप लुटगेन्ड्रॉफ ने सविस्तार दिखाया है कि छापे की संस्कृति के विकास से बहुत पहले 'मानस' कथावाचकों के माध्यम से श्रोताओं तक पहुँच रही थी। उन्होंने इस प्रसंग में कथावाचक शिवलाल पाठक (जन्म 1756 ई., गोरखपुर) तथा रामगुलाम द्विवेदी (1800–1830 के बीच सक्रिय) की चर्चा की है। प्रिंट के बगैर इस कथा के जनव्यापी होने का एक साक्ष्य देते हुए वे कहते हैं – "प्रिंट के अभाव और व्यापक निरक्षरता के बावजूद इस हिंदी महाकाव्य का प्रभाव कैसे व्यापक हुआ इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि नाभादास ने 'भक्तमाल' में – जो संभवतः तुलसीदास के जीवन के अंतिम समय में लिखी गई – बनारस के इस कवि को स्वयं आदिकवि का अवतार माना है.... कहा जाता है कि नाभादास राजस्थान स्थित वैष्णव मठ 'गलता' में रहते थे जो तुलसीदास के निवास से तकरीबन एक हजार किलोमीटर दूर है। यह घुमंतु साधुओं के विश्राम का महत्त्वपूर्ण स्थल है। पूरी संभावना है कि 'महाकाव्य' के शुरुआती प्रसार में घुमंतु साधुओं ने बड़ी भूमिका निभायी होगी और वे इसके पहले प्रस्तुतिकर्ता होंगे...।[65] इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि 19वीं सदी के प्रथमार्द्ध में 'रामकथा' के वाचन के अनिवार्य अंग 'शंका–समाधान' के तहत कथा को माध्यम बनाकर 'राज–मर्यादा' के सवाल पूछे जाने लगे थे। एक विद्वान लिंडा हेस्स ने सन्

1840 से 1987 ईस्वी तक छपी विभिन्न 'शंकावलियों' के आधार पर रामकथा के राजनीतिक चरित्र और उसमें राजनीतिक चर्चा द्वारा श्रोताओं की भागीदारी का विवेचन किया है।[66] इससे भट्टजी की बात ठीक जान पड़ती है। परंतु, जैसा कि फरहत हसन ने अपने लेख में दिखाया है – इस 'जनमत' और 'लोकवृत्त' को बुर्जुआ लोकवृत्त का पर्याय नहीं मान सकते। बेली के विवेचन से यह निष्कर्ष तो निकाल सकते हैं कि हिंदुस्तान में सारा कुछ अंग्रेजी हुकूमत की देन नहीं। हिंदुस्तान अंग्रेजों से पहले कोई खुली–साफ स्लेट नहीं था कि हर इबारत इस पर अंग्रेजों ने लिखी परंतु बेली का विवेचन इस तथ्य की अनदेखी करता है कि संचार माध्यमों के बदलने और प्राधिकार के स्वरूप के बदलने से मूलगामी बदलाव आता है। मौखिक संवाद का समुदाय–बोध प्रिंट–आधारित समुदाय के बोध जैसा नहीं होता। स्वयं भाषा मानकीकृत होकर संवाद का एकीकृत क्षेत्र बनाती है, जिसमें 'कल्पित' समुदाय का निर्माण होता है। प्राधिकार के बदलने से ज्ञान गढ़ने की संस्थाएँ और उसके कर्त्ता–धर्त्ता बदल जाते हैं।

संदर्भ संकेत

---

1 मधुकर भट्ट (1972): पं. बालकृष्ण भट्ट – व्यक्तित्व और कृतित्व – बालकृष्ण प्र., वाराणसी, पृ. 59

2 कृष्णबिहारी मिश्र – हिंदी पत्रकारिता – जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण भूमि, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., नयी दिल्ली, पृ.200–238

3 प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेशनारायण उपाध्याय (2003) – प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, पृ.26–27

4 वही

5 कृष्णबिहारी मिश्रः वही, परिशिष्ट–क

6 वही,

7 कृष्णबिहारी मिश्रः उपर्युक्त, परिशिष्ट

8 वही, पृ.451

9 वही, पृ.152

10 पुरुषोत्तम अग्रवाल (2000) – विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन में '1857 और हिन्दी–नवजागरण' शीर्षक लेख, नई दिल्ली, पृ.21–36

11 पुरुषोत्तम अग्रवाल (अक्तूबर–2003) – 'लोकवृत्त – हिंदी भाषा का या हिन्दी–प्रदेश का' शीर्षक लेख, आलोचना, नई दिल्ली

12 जुर्गेन हैबरमास के परिचय के लिए देखें टॉम बॉटोमोर द्वारा संपादित 'अ डिक्शनरी ऑफ मार्किस्ट थॉट, दूसरा संस्करण 1991, वर्ल्ड व्यू पब्लि., नई दिल्ली, 225–26

13 वही

14 देखें, टॉम–बॉटोमोर द्वारा संपादित' अ डिक्शनरी ऑफ मार्किस्ट थॉट', मैकमिलन, दिल्ली, पृ. 208–212

15 देखें, पीटर होहेनडाल (1974) – 'जुर्गेन हैबरमास : द पब्लिक स्फीयर' नामक लेखक – न्यू जर्मन क्रिटिक, संख्या–3, पृ.49–55

16 वही

17 गुरप्रीत महाजन और हेलमट रेफेल्ड (2003) द्वारा संपादित 'द पब्लिक एंड द प्राइवेटः इश्यूज ऑफ डेमोक्रेटिक सिटिजनशिप' में गुरप्रीत महाजन द्वारा लिखित भूमिका। सेज प्रकाशन, नई दिल्ली

18 वही

19 वही

20 देखें, उपेन्द्र बख्शी (1987) द्वारा संपादित 'द राइट टू बी ह्यूमन' में भीखू पारेख का 'द माडर्न कंसेप्शन ऑफ राइट एंड इट्स मार्किस्ट क्रिटिक', शीर्षक लेख, नई दिल्ली, पृ.1–22

21 वही

22 वही

23 देखें गुरप्रीत महाजन द्वारा लिखित भूमिका – उपर्युक्त।

24 यह विवेचन भीखू पारेख के उपर्युक्त लेख पर आधारित है।

25 देखें भीखू पारेख, वही।

26 देखें गुरप्रीत महाजन लिखित भूमिका – उपर्युक्त

27 वही

[28] जुर्गेन हैबरमास (1989) – 'द स्ट्रक्चरल ट्रांसफार्मेशन ऑफ पब्लिक स्फीयर – एन इंक्वायरी इन टू अ कैटेगरी ऑफ बुर्जुआ सोसायटी' का थॉमस बर्गर और फ्रेडरिक लारेंस कृत अनुवाद, पॉलिटी प्रेस, ग्रेट बिटेन, पृ.28

[29] देखें गुरप्रीत महाजन द्वारा लिखित भूमिका – उपर्युक्त

[30] जुर्गेन हैबरमास – वही।

[31] जुर्गेन हैबरमास – वही, भूमिका, पृ.1–26

[32] जुर्गेन हैबरमास (1974) – द पब्लिक स्फीयर – एन् एनसाइक्लोपीडिया आर्टिकल, न्यू जर्मन क्रिटिक, अंक–3, पृ.45–48

[33] वही

[34] वही

[35] वही, देखें इस लेख की पाद–टिप्पणी सं–3

[36] वही

[37] वही

[38] नागरिक समुदाय और लोकवृत्त के आपसी संबंधों की चर्चा राजीव भार्गव ने 'सिविल सोसायटी, पब्लिक स्फीयर एंड सिटीजनशिप' नामक पुस्तक की भूमिका में की है। यह पुस्तक राजीव भार्गव – हेलमट रेफेल्ड द्वारा संपादित है, नई दिल्ली, सेज प्रकाशन, 2005, पृ.13–58

[39] जुर्गेन हैबरमास – 'द पब्लिक स्फीयर', उपर्युक्त।

[40] जुर्गेन हैबरमास – 'द स्ट्रक्चरल ट्रांसफार्मेशन ऑफ पब्लिक स्फीयर', भूमिका।

[41] वही, भूमिका

[42] सैंड्रिया बी. फ्राइटैग (1991) – साऊथ एशिया, खंड–14, अंक–1, भूमिका

[43] मालिक राम (1969) – मिर्जा ग़ालिब, नेशनल बुक ट्रस्ट, पृ.19–20

[44] एमी गुटमैन (सं.1994) 'मल्टीकल्चरलिज्म' में चार्ल्स टेलर का लेख 'द पॉलिटिक्स ऑफ रिकॉग्निशन', प्रिंस्टन युनि. प्रेस, प्रिंस्टन

[45] मालिक राम, वही

[46] शान मुहम्मद (1972) – राइटिंग एंड स्पीचेज ऑफ सर सैयद अहमद खाँ – नचिकेता पब्लि., बम्बई, पृ.117

[47] वही

[48] वही

[49] हेमन्त शर्मा (सं.2000) – भारतेंदु समग्र, हिंदी प्रचारक पब्लि. प्रा. लि., वाराणसी, पृ.471–477

[50] शान मुहम्मद – उपर्युक्त

[51] हेमंत शर्मा – उपर्युक्त, पृ.460–71

[52] पुरुषोत्तम अग्रवाल – विचार का अनंत, उपर्युक्त

[53] रामगोपाल – स्वतंत्रता–पूर्व हिंदी के संघर्ष का इतिहास, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.113

[54] वही

[55] वीर भारत तलवार (2002) – 'रस्साकशी: 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत', सारांश प्रकाशन, पृ.23

[56] बर्नाड एस. कोहन (2004) – 'रिप्रेजेंटिंग आथॉरिटी इन विक्टोरियन इंडिया' शीर्षक लेख। देखें – पोस्ट कॉलोनियल पैसेज : कंटेम्पररी हिस्ट्री राइटिंग इन इंडिया, सौरभ दुबे द्वारा संपादित, ऑक्सफोर्ड युनि. प्रेस

[57] वही

[58] हेमंत शर्मा – उपर्युक्त, पृ.1011

[59] वही, पृ.668

[60] आयशा जलाल और सुगतो बोस (2004) – माडर्न साऊथ एशिया – दूसरा संस्करण, ऑ. यूनि. प्रेस, पृ.83

[61] बर्नाड एस कोहन – उपर्युक्त

[62] सी.ए. बेली (1999) – एम्पायर एंड इन्फॉर्मेशन : इंटेलिजेंस गेदरिंग एंड सोशल कम्युनिकेशन इन इंडिया 1780–1870, कैम्ब्रिज युनि. प्रेस., अध्याय 5, पृ.180–211

[63] फरहत हसन – फॉर्मस् ऑफ सिविलिटी एंड पब्लिकनेस इन प्री ब्रिटिश इंडिया, देखें – राजीव भार्गव और हेलमट रेफेल्ड द्वारा संपादित पुस्तक – उपर्युक्त, पृ.25

[64] फरहत हसन, वही

[65] फिलिप लुटगेन्ड्रॉफ, लाइफ ऑफ अ टेक्स्ट – परफार्मिंग द रामचरितमानस ऑफ तुलसीदास, ऑक्सफोर्ड युनि. प्रेस, पृ.9

[66] लिन्डा हेस्स (2000) – लवर्स डाऊट : क्वेश्चनिंग द तुलसी रामायण शीर्षक लेख – देखें पाऊला रिचमैन संपादित। क्वेश्चनिंग रामायनाज : अ साऊथ एशियन ट्रेडिश्न – ऑक्सफोर्ड युनि. प्रेस, पृ.25–47

अध्याय : दो

राज, समाज और सूचना–तंत्र

आंग्ल–भारतीय लोकवृत्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय ज्ञान–परंपरा का अधिग्रहण और पुनर्व्याख्या

उपयोगी ज्ञान और समाजसुधार

राज्य और शिक्षा

अगर पिछले अध्याय की चर्चा पर गौर करें तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंग्रेजीराज ने आधुनिक विधि–व्यवस्था की स्थापना की और उसका तर्क था 'न्याय और सुशासन'। यह बात सर सैयद के भाषण (1866 ई.) से भी स्पष्ट होती है और भारतेंदु के नाटकों (भारत दुर्दशा और भारत जननी) से भी। यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि अंग्रेजों के आगमन से पहले भारत में 'देसी लोकवृत्त' अपनी बाध्यताओं के बावजूद, एक न एक अर्थ में मौजूद था और इस देसी–लोकवृत्त ने अपने नये रूप में विधि–व्यवस्था द्वारा स्थापित सार्वजनिक–दायरे में शासन की खूबियों–खामियों की समीक्षा की; अपनी मांगों को प्रदत्त अधिकार के दायरे में शासन के बरख्स गढ़ा। सन् 1857 ई. के बाद अंग्रेजी शासन के नये प्राधिकार तथा उसके समाजशास्त्र ने 'समुदाय' के नेताओं द्वारा गढ़ी जा रही मांग को मुहावरा प्रदान किया। समुदाय के ये नेता अपने–अपने समुदाय की तरफ से भौतिक प्रगति तथा राजनीतिक–संस्कार की बातें उठा रहे थे।

यहाँ यह सवाल उठाया जा सकता है कि आधुनिक विधि–व्यवस्था में ऐसा क्या था कि सार्वजनिक दायरे में 'देसीय प्रजा' द्वारा अपनी मांगों का उठाना संभव हुआ? दूसरे, जब समुदाय के नेतागण अपनी बातों को 'स्पीच', 'कमिटी' अथवा अखबार के माध्यम से उठा रहे थे तो उनके सामने अपनी बातों को रखने का मॉडल क्या था। दूसरे शब्दों में कहें तो यहाँ आधुनिक विधि–व्यवस्था की विशेषताओं की चर्चा करनी होगी और यह भी जिक्र करना होगा कि भारत में मौजूद पुराने सूचना–तंत्र ने किस तरह आधुनिक विधि–व्यवस्था से अपना रिश्ता बनाया तथा, देसी लोकवृत्त किस तरह 'दरबार' के दायरे से मुक्त होकर अपनी अलग हैसियत कायम कर सका? इन प्रश्नों के समाधान तलाशने के लिए हमें अंग्रेजी विधि–व्यवस्था और देसी प्रजा के बीच पारस्परिक संवाद के एक दायरे की कल्पना करनी होगी। यहाँ सुविधा के लिए अंग्रेजी विधि–व्यवस्था और देसी प्रजा के संवाद के इस क्षेत्र को आंग्ल–भारतीय लोकवृत्त कहा जा रहा है। आंग्ल–भारतीय लोकवृत्त की चर्चा से अंग्रेजी विधि–व्यवस्था की विशेषताओं का भी रेखांकन हो जाएगा और उस मॉडल को भी तलाशा जा सकेगा जो हिंदी–उर्दू लोकवृत्त का आधार बना।

आंग्ल–भारतीय लोकवृत्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उपनिवेशवादी 'राज' ने अपने विस्तार के साथ एक विधि–व्यवस्था कायम करने की कोशिश की। उसे अपने शासन को 'न्यायपूर्ण' और 'तर्कसंगत' साबित करना था। लार्ड कार्नवालिस ने एक व्यवस्थित और सुसंगत विधि–व्यवस्था की जरूरत 1793 ई. में महसूस कर ली थी। उनकी घोषणा थी कि 'सरकार अपनी स्वेच्छाचारिता के बावजूद विधि के शासन पर आधारित होगी।'[1] विधि आधारित शासन ने 'राज्य' को एक नया स्वरूप दिया। यह 'राज्य' सचेत रूप से नियमों, क्रियाविधियों तथा सिद्धांतों के अनुकूल

कार्यवाहो करने को बाध्य 'राज्य' था। ब्रिटिश राज की पारिभाषिक विशेषता बन गई – 'निर्वैयक्तिक सत्ता'।

कानून अब व्यक्ति की अस्मिता, उसके अधिकार और दायित्व के निर्धारण तथा व्यक्ति को सार्वजनिक स्तर पर वर्गीकृत करने का आधार बना। सारे सामाजिक संबंधों को सार्वजनिक स्तर पर स्वीकृत, तयशुदा और स्थायी कोटियों में वर्गीकृत किया गया। पहले भी अधिकार होते थे, दायित्व मौजूद थे। लेकिन, इनकी वैधता के स्रोत एक से ज्यादा थे; अधिकारों में सार्विकता नहीं थी और ये अनेकार्थक थे। अधिकारों की अनेकार्थता और बहु–केंद्री वैधता की अवस्था से उबरने के लिए अंग्रेजी शासन ने इन्हें संहिताबद्ध किया, सार्वजनिक रूप दिया और सार्विक स्तर पर पहचानी जा सकने वाली कोटियों में बाँटा। मिसाल के तौर पर, काश्तकारी और राजस्व अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक को काश्तकार/जमींदार, पुश्तैनी काश्तकार/खुदकाश्त जैसी कोटियों में दर्ज किया गया।

एक पूरे क्षेत्र में लागू होने वाले अधिनियम में आया हर 'पद' सभी व्यक्तियों के लिए एक ही अर्थ का बोधक था। न्यायाधिकार के अंतर्गत अगर किसी व्यक्ति के वैधानिक अस्तित्व को किसी खास 'पद' से संबोधित किया गया है और उस 'पद' के अंतर्गत अधिकार–दायित्व की परिभाषा की गई है तो इस 'पद' के अंतर्गत आने वाले सारे व्यक्तियों के उक्त अधिकार–दायित्व राजकीय सुरक्षा और 'दंड' के दायरे में आ गये। यह सारा कुछ अधिकारों की अनेकार्थकता, बहु–केंद्री वैधता को दूर करने तथा अधिकार और संपदा की सुरक्षा में न्यायिक हस्तक्षेप को संभव बनाने के लिए किया गया।

अधिकारों की इस सार्वजनिक संहिता का निर्माण कानून और समाज से संबंधित जेरेमी बेंथम के विचारों के आधार पर किया गया था। बेंथम अपने को भारत का विधिदाता मानते थे।[2] उपयोगितावादी बेंथम कानून के मानकीकरण को आधुनिक समाज–रचना का आधार मानते थे। उपयोगितावादियों का विचार था कि तर्कबुद्धि पर आधारित किसी राजव्यवस्था में व्यक्ति के पास तर्कसंगत निर्णय लेने, भविष्य का आकलन करने और अपनी अपेक्षाओं के अनुकूल काम करने की गारंटी होनी चाहिए। ऐसा तब ही संभव था जब व्यक्तियों के अधिकार सार्वजनिक नियमों द्वारा सुरक्षित किए जाएँ और किसी के मनमाने हस्तक्षेप से व्यक्ति की अपेक्षाओं को बचाया जाय।

बेंथम मानते थे कि भौतिक इच्छाएँ और अपेक्षाएँ मनुष्य जीवन का मूलाधार हैं। इन्हीं की परितुष्टि से मनुष्य अपने जीवन के प्रयोजन 'इंद्रियानंद' को प्राप्त कर सकता है। पशुओं के विपरीत, मनुष्यों में अपने समय से आगे देखने, अनुमान लगाने, अपेक्षा करने, योजना बनाने तथा अपने भविष्य को आकार देने की क्षमता होती है। दूरदृष्टि और कल्पना की यही क्षमता भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से प्रेरित होकर मनुष्य जीवन को निरंतरता प्रदान करती है। बेंथम ने लिखा है – "अपेक्षाएँ एक कड़ी हैं जो हमारे वर्तमान

और भविष्य के अस्तित्व को आपस में जोड़ती हैं और यही कड़ी हमसे गुजरकर अगली पीढ़ी तक चलती चली जाती है।"[3]

अपेक्षाओं को बेंथम सदा सुरक्षित रखी जाने वाली चीज मानते थे, क्योंकि उनके अनुसार इसके बगैर 'आनंद' की प्राप्ति असंभव है जो कि मनुष्य जीवन का प्रयोजन है। अपेक्षाओं की सुरक्षा को बेंथम ने विश्व में सुसंगत और अर्थवान व्यवस्था का आधार माना। सुसंगत समाज बनाने और अपेक्षाओं को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कानून को जरूरी उपकरण माना गया। कानून ही वह सुरक्षा मुहैया कराता है जिसके भीतर कोई अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य कर सकता है। तर्कबुद्धिवादी बेंथम ने विश्व को बुद्धिजन्य व्यवस्था के रूप में देखा था। इस व्यवस्था में तर्कबुद्धि से परिभाषित होने वाला मनुष्य अपनी 'व्यावहारिक प्रज्ञा' से चिंतन कर सकता था, निर्णय ले सकता था, योजना बना सकता था और उस पर अमल कर सकता था। बेंथम के अनुसार कानून मनुष्य के इस स्वभाव को साकार करने का एक आवश्यक उपकरण था। संक्षेप में, बेंथम मनुष्य के इच्छा–स्वातंत्र्य के लिए कानून के मानकीकरण को जरूरी मानते थे, क्योंकि कानून ही इच्छा–स्वातंत्र्य के लिए आवश्यक सुसंगत और अर्थवान विश्व की रचना है।[4]

व्यक्ति की स्वतंत्रता और कामना को निर्वैयक्तिक कानून ने जो सुरक्षा प्रदान की वह सब पर बाध्यकारी था, हरेक पर समान रूप से लागू होता था। उसमें एक स्थिरता थी, वह सुपरिभाषित और सार्विक था। प्रथा और रीति–रिवाज के दायरे में व्यक्ति की स्वतंत्रता और कामना के लिए ऐसी सुरक्षा नहीं थी। बेंथम मानते थे कि प्रथाएँ कभी कानून का रूप नहीं ले सकतीं। यदि प्रथाओं के दायरे में उत्पन्न कामनाओं–अपेक्षाओं को सम्मान देना है तो इन प्रथाओं को भी विधायी प्रक्रिया के भीतर सुसंगत और सार्विक रूप देना होगा। इस पर भी सार्वजनिक सत्ता की मुहर होनी चाहिए।

अंग्रेजी शासन के विस्तार और सुदृढ़ होने की प्रक्रिया में कानून और विधि–संहिता, नियमावलियाँ तथा दस्तावेज, संगठन और उनकी कार्यविधि प्रधान होते चले गये। कानून सिर्फ प्रभुत्व का औजार नहीं था। इसके औचित्य के तर्क प्रदान किए गए थे और कानून ने ही आपसी संवाद, संघर्ष और सहमति का एक वैधानिक दायरा बनाया। विधि–व्यवस्था और कानून ने कैसी प्रधानता हासिल की थी इसका एक प्रमाण भारतेंदु हरिश्चंद्र के लेखन में मिलता है –

'हिंदी में बहुत–से अखबार हैं पर हमारे हिंदुस्तानी लोगों को उनसे कानून की खबर नहीं मिलती और न ही हिंदी में कानूनों का तर्जुमा है जिसे देखकर और पढ़कर वे अदालत की बात समझ सकें। अदालत वह चीज है जिससे किसी को छुट्टी नहीं। इससे सब गृहस्थों को इसका जानना जरूरी है। बहुत–से बेचारे कानून जाने बिना ही लोगों के जाल में पड़कर खराब हो जाते हैं। इस आपत्ति से लोगों को बचाने के लिए एक माहवारी पत्र 'नीतिप्रकाश' नाम का बनारस से जारी होगा।'[5]

विधि–व्यवस्था ने लगभग वैसा ही प्रभाव डाला था जैसा कोई सर्वसत्तावादी सांगठनिक धर्म डालता है। व्यक्ति ब्रिटिश सत्ता के अधीन था क्योंकि विधि के अधीन था और स्वयं ब्रिटिश सत्ता भी विधि के अधीन थी। जेम्स स्टीफेन 1869 से 1872 ई. तक वायसराय की काउंसिल के सदस्य थे। उन्होंने 'विधि के शासन' के प्रभाव को इन शब्दों में नोट किया है –

"विधि–व्यवस्था का प्रणयन जो जनता के दैनिक जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंशों का नियमन करता है, स्वयं में उस भौतिक विजय से कहीं ज्यादा ठोस, स्थायी और गहरी नैतिक विजय को धारण किए हुए है जिसने इस (विधि–व्यवस्था) को लागू होने लायक बनाया। इसका जनता के मस्तिष्क पर बहुविध प्रभाव है और इसकी तुलना नये धर्म से की जा सकती है।"[6]

अगर इस तर्क को स्वीकार करें कि विधि–व्यवस्था ने आपसी संवाद, संघर्ष और सहमति का एक वैधानिक दायरा बनाया जो लोकवृत्त में फलीभूत हुआ तो इसकी तार्किक परिणति इस निष्कर्ष में होती है कि 'आधुनिकता' की हर संरचना सुदूर योरोप की परिघटना है और अंग्रेजी शासन के माध्यम से भारत में प्रत्यारोपित हुई। लेकिन, ऐसा कहना भारत में मौजूद लोकवृत्त के इतिहास की अनदेखी करना होगा। जैसा कि पिछले अध्याय में इंगित किया जा चुका है कि शासन की आलोचना और इस आलोचना को संभव बनाने वाली अवधारणा तथा संस्था ब्रिटिशपूर्व भारत में मौजूद थी। इन संस्थाओं ने बदली हुई स्थिति में नया रूप लिया। यह अलग बात है कि नया बदलाव पुराने से प्रेरणा ग्रहण कर रहा था – इसकी अंतर्वस्तु नये शासन के समाजशास्त्र के दबाव में बदल चुकी थी।

इतिहासकार सी.ए. बेली का मत है कि अंग्रेजों ने सिर्फ विधि आधारित शासन की ही स्थापना नहीं की बल्कि सार्वजनिक बहस की अपनी ओजपूर्ण परंपरा को भी भारत में प्रश्रय दिया।[7] पिछले अध्याय में सर सैयद के एक भाषण की चर्चा की गई थी। इसमें वे भारत में मौजूद योरोपीयन जनता, उसकी सदेच्छा और लंदन से भारत तक मौजूद उनके संगठनों का हवाला देकर कहते हैं कि इनसे सीखकर इन्हीं के तर्ज पर अपनी बात ब्रिटिश संसद तक पहुँचायी जा सकती है। पिछले अध्याय में ही भारतेंदु के एक नाटक 'भारत दुर्दशा' की चर्चा की गई थी। इसका एक पात्र ऍंग्लो–इंडियन एसोसिएशन की चर्चा करता है। इसी नाटक के एक पात्र एड्डीटर साहब कमिटी, स्पीच और अखबार की 'फौज–सेना–गोले' की चर्चा करते हैं।

बेली का निष्कर्ष सटीक है कि विधि–व्यवस्था के कारण ही शासन की आलोचना करना संभव हुआ और इस आलोचना की शुरुआत भारत में निवास कर रहे योरोपीय समुदाय के लोग कर चुके थे। बेली का कहना है कि भारतवासी योरोपीय समुदाय की संख्या बहुत कम थी। यह समुदाय पहले 'कंपनी' और बाद में 'क्राउन' पर बहुत ज्यादा निर्भर समुदाय था। लेकिन इस समुदाय के आपसी संवाद में भारतीय

मुद्दों की दखल थी। 'कंपनी राज' के समय जब–जब उसके चार्टर का पुनरावलोकन और नवीकरण होता था, स्वतंत्र व्यवसायी 'कंपनी' के एकाधिकार के खिलाफ आवाज उठाते थे। ऐसे अवसरों पर प्रेस और प्रकाशन में उनकी आवाज ज्यादा प्रबल हो जाती थी। मिशनरी भी कंपनी की देसी जनता के धर्म के मामले में राजकीय हस्तक्षेप की नीति से खफा थे। वे कंपनी की अहस्तक्षेप की नीति को बहुदेववाद का प्रतीक मानकर अपने प्रकाशनों में उसकी आलोचना करते थे।[8]

बेली ने सविस्तार दिखाया है कि भारतीयों के बीच बहस और संवाद की एक सुव्यवस्थित परंपरा मौजूद थी और भारतीयों के बीच मौजूद यह परंपरागत लोकवृत्त योरोपीय समुदाय के इस राजनीतिक संघर्ष के प्रति सचेत था। बेली ने भारत में मौजूद परंपरागत लोकवृत्त को मुगलकालीन संचार–व्यवस्था के संदर्भ में विकसित होता दिखाया है। अगर विधि–व्यवस्था की स्थापना के बीच शासन की आलोचना के शुरुआती प्रयासों के प्रति शासकीय नीति की छिटपुट चर्चा करें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी लोकवृत्त के पास अपनी बात कहने के लिए 'मॉडल' क्या था?

18वीं सदी के अंतिम दशकों में अंग्रेजी के कई समाचारपत्र निकले।[9] शुरुआत से ही पत्रकार और संपादक अपनी प्रधान भूमिका 'जनमत–निर्माण' समझते थे। वे प्रबोधन के इस दर्शन के हामी थे कि खुली और अबाधित चर्चा से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी सोच के तहत वे शासन के किसी कृत्य की चर्चा और जरूरत पड़ने पर उसकी आलोचना करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। संपादकों–पत्रकारों की इस सोच ने प्रेस की आजादी के लिए एक जुझारू संघर्ष को जन्म दिया।

मिसाल के तौर पर, 2 अप्रैल 1795 को 'इंडिया हेराल्ड' नामक पत्र हम्फ्रीज नामक एक अंग्रेज ने निकाला था। सरकार की इस पर कोपदृष्टि थी। सरकारी आरोप था कि इस पत्र ने शासन और प्रिंस ऑफ वेल्स के संबंध में अत्यंत अपमानजनक लेख प्रकाशित किए हैं। हम्फ्रीज को सजा के तौर पर जहाज से वापस 'विलायत' भेज दिया गया। इन योरोपीय पत्रकारों को अपने वाक्–स्वातंत्र्य के लिए उस वक्त बड़ी यातनाएँ सहनी पड़ती थीं, क्योंकि 'बर्तानिया सरकार इन सजातीय पत्रकारों के प्रति भी नितांत असहिष्णु थी।[10] हमेन्द्रप्रसाद घोष ने 19वीं सदी के शुरुआती दशकों के पत्रकारों की दशा पर टिप्पणी की है – "तत्कालीन सरकार समाचारपत्रों के प्रति शंकालु थी और हमेशा मामूली कारणों से उन पर सांघातिक चोट करने के लिए उद्यत रहती थी। दूसरी ओर प्रेस के संचालक सर्वदा ही ऐसे आक्रमणों से बचने के लिए सावधान रहा करते थे। ऐसे संचालक प्रायः एँग्लो–इंडियन थे अर्थात् भारत में रहने वाले योरोपीय, जो अधिकारियों की मर्जी पर कभी भी देश से निर्वासित किए जा सकते थे।"[11]

लार्ड वेलेज्ली के समय में प्रकाशित हो रहे पत्रों के नियमन के लिए पहला कानून बनाया गया था। इसके अंतर्गत पत्र के मुद्रक के लिए पत्र के अंत में अपना नाम

प्रकाशित करना, संपादक–संचालक का नाम–पता सरकार के सचिव को भेजना, रविवार के दिन पत्र का प्रकाशन करना और सरकारी अधिकारियों के निरीक्षण के पूर्व पत्र न प्रकाशित करना जैसे नियम शामिल थे।

लार्ड हेस्टिंग्स ने प्रकाशन–संबंधी नियमों को और स्पष्ट किया। इन नियमों में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स, ब्रिटिश सरकार के अधिकारी, काउंसिल के सदस्यों, सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश तथा कलकत्ता के बड़े पादरियों के सार्वजनिक कार्य अथवा प्रतिष्ठा के विरुद्ध खबरें न प्रकाशित की जाएँ। इनमें यह भी कहा गया था कि किसी के धार्मिक विश्वासों और भावनाओं पर चोट करने वाली तथा भारतीय प्रजा में आतंक की सृष्टि करने वाली बातों का प्रकाशन न किया जाय।[12]

इसी क्रम में 14 मार्च 1823 को 'कंपनी राज' ने समाचारपत्र तथा प्रेस से संबंधित कुछ कठोर कानून लागू किए।[13] इस कानून के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने 'हाईकोर्ट' में 'पेटीशन' प्रस्तुत किया था। अनुकूल परिणाम न निकलने के कारण उन्हें अपना 'मिरातुल अखबार' बंद कर देना पड़ा। राजा साहब ने उस वक्त जो तर्क दिया था, उससे स्पष्ट हो जाएगा कि किस तरह शासन की समीक्षा की भारतीय परंपरा को सामने रखकर अंग्रेजी शासन की 'न्यायप्रियता' पर अंगुली उठायी जा रही थी –

"मुगल सम्राटों के निरंकुश शासन के समय भी.... जो सम्राट बुद्धिमान और विवेकी होते थे वे अपने नवाबों के दरबार में दो तरह के संवाददाता बहाल करते थे.... अखबारनवीस जो हर घटना की तफ्सील लिखते थे और खुफियानवीस जो हर महत्त्वपूर्ण घटना का एक निजी और गोपनीय ब्यौरा भेजता था... इससे पता चलता है कि मुगल शासक भी, यद्यपि उनके शासनतंत्र में इससे बढ़कर और कोई अपने बात हो भी नहीं सकती थी, यह बात अपने मन में बैठा चुके थे कि यह देश जो इतना बड़ा है और प्रलोभनों से भरपूर है – यहाँ किसी न किसी तरह का संयम अत्यंत जरूरी है ताकि सत्ता के मद में होने वाले कदाचार से बचा जा सके।"[14]

मार्गरिट पेरनो ने 'दिल्ली उर्दू अखबार' से संबंधित अपने एक आलेख में सविस्तार दिखलाया है कि 'अखबारनवीस' की संस्था और 'अखबार' लिखने की मुगलकालीन व्यवस्था बाद में उर्दू अखबारों का आधार बनी। इस संस्था ने 'प्रिंट' के आगमन के बाद शुरुआती अंग्रेजी अखबारों की तर्ज पर समाचारपत्र निकाले। पेरनो का निष्कर्ष है कि नये प्रिंट माध्यम ने मेला, जुलूस और धार्मिक कर्मकांडों के जरिए व्यक्त होने वाले परंपरागत स्थानीय जनमत और नयी जनता के सार्वजनिक दायरे के बीच एक कड़ी का काम किया। यह नयी 'जनता' मौखिक संवाद पर आधारित समुदाय नहीं थी, बल्कि यह एक कल्पित समुदाय था जिसका आधार स्वयं प्रिंट था।[15] अंग्रेजी अखबारों को ही हिंदी–उर्दू अखबारों ने अपना 'मॉडल' बनाया और उसे शासन की समीक्षा की अपनी पुरानी परंपरा के विस्तार के रूप में देखा।

विधि–व्यवस्था ने अगर अधिकारों को परिभाषित करके उन अधिकारों के हनन की स्थिति में व्यक्ति को 'न्याय' देने का वादा किया था, तो इसी विधि–व्यवस्था ने इस संभावना को भी साकार किया कि वह 'सर्वजन' अथवा 'आम जनता' की भलाई के मुद्दे पर शासन के समक्ष मांगों को रखे, शासन को आगाह करे और तर्क–वितर्क के सार्वजनिक बहस के एक बड़े दायरे में लोगों के बीच इन मांगों के पक्ष में एकमत बनाने की कोशिश करे। विधि–व्यवस्था ने सार्वजनिकता को संभव बनाया था। उसने आपसी व्यवहारों और उनके अर्थ के सार्विक मानक को तैयार किया था। विधि द्वारा स्थापित बुद्धिजन्य संसार में तर्कबुद्धि से परिभाषित होने वाले मनुष्य का अपनी अपेक्षाओं–आकांक्षाओं को साकार करने के लिए सक्रिय होना, योजना बनाना और उस पर अमल करना संभव हो गया था।

'विधि–व्यवस्था' निर्वैयक्तिक सत्ता को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में कहें तो विधिजन्य संसार में परिभाषित नियम–कायदों के दायरे में ही किसी मानवीय कृत्य की कोई स्वीकृत अर्थवत्ता होती है। 'विधि' जीवन के हर पक्ष का नियमन करती है और इसी अर्थ में विधि–आधारित राजनीतिक–सामाजिक जीवन एक सांगठनिक जीवन होता है। ऊपर जेम्स स्टीफन के जिस कथन को उद्घृत किया गया है उसे इस आलोक में देखा जा सकता है। हिंदी–उर्दू का लोकवृत्त इस विधि–व्यवस्था के कारण ही संभव हुआ।

पिछले अध्याय में सर सैयद के एक भाषण का जिक्र किया गया था। अपने इस भाषण में वे एक जगह कहते हैं – "मुझे उम्मीद है कि देसी श्रोता मेरी इस सचबयानी का बुरा नहीं मानेंगे। आप इस बात को बखूबी जानते हैं कि सरकार के विभिन्न कामों की आप अपने घर–परिवार में भर्त्सना करते हैं और योरोपीय भद्रजनों से भेंट होने पर ऐसा जाहिर करते हैं कि ये काम न्यायसंगत और विवेकपूर्ण हैं तथा आप इनसे संतुष्ट हैं। यह दशा देश की भलाई के लिए बड़ी घातक है.... भारत के लिए बेहतर यही होगा कि उसकी प्रजा सरकारी काम के न्यायसंगत होने न होने के बारे में अपना मत खुलकर और पूरी ईमानदारी से जाहिर करे...।"

"जनाब जॉन स्टुअर्ट मिल ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर लिखी अपनी समर्थ कृति में बताया है कि 'किसी भी व्यक्ति और हरेक व्यक्ति के अधिकार तथा हित उसी सूरत में अवमानना का शिकार होने से बच सकते हैं जब वह व्यक्ति इन हितों के पक्ष में स्वभावतया उठ खड़ा हो। दूसरी बात यह कि जिस सीमा तक निजी प्रयत्न किया जा सकता है उसी सीमा तक जनसामान्य की समृद्धि बढ़ती और फैलती है।' मेरे दोस्तो! किसी दूसरे राष्ट्र की तरह ये सिद्धांत भारत के लोगों पर भी लागू होते हैं और अब यह आपके हाथ में है, आप पर निर्भर करता है कि इस पर अमल करें... मैं एक सरकारी सेवक की हैसियत से यहाँ आप सबको सार्वजनिक तौर पर कहता हूँ। आप सब में ज्यादातर इस बात को जानते हैं कि 'गदर' के दौरान सरकार से मेरा जुड़ाव

गहरा था। यह मेरा दृढ़ विश्वास है और इसे मैंने निजी और सार्वजनिक तौर पर दुहराया है कि भारतवासियों का सरकार पर जितना ही विश्वास होगा, सरकार की नींव उतनी ही गहरी होगी और आपकी अपने शासक से उतनी ही ज्यादा दोस्ती बढ़ेगी। हृदय से 'निष्ठा' रखें, अपनी सारी जिम्मेदारियों को सरकार की जिम्मेदारी मानें, अपने सारे शिकवे–शिकायत, उम्मीद और भय को खुलकर, ईमानदारी तथा सम्मानपूर्वक प्रकट करें और आप इस बात को लेकर पूरी तरह आश्वस्त हो सकते हैं कि इस आचरण से आप अपने सारे वैध अधिकारों का आनंद उठा सकेंगे – यह 'राज' के प्रति निष्ठा प्रकट करने का सच्चा तरीका है और इसे हर महत्त्वपूर्ण राज्याधिकारी स्वीकार करता है।[16]

यहाँ हम याद करें जुर्गेन हैबरमास का 'बुर्जुआ लोकवृत्त' का प्रस्ताव जिसमें उन्होंने माना कि लोगों के मिलने–जुलने, सभा–संगोष्ठी करने, संगठन बनाने और राज्य के कामकाज के बारे में सूचना पाने की कानूनी छूट होने की सूरत में ही 'लोकवृत्त' साकार हो पाता है। सन् 1857 ई. के बाद अंग्रेजी शासन ने देसी प्रजा के नुमाइंदों को शासन में एक स्तर तक भागीदार बनाना चाहा था। 'किसी 'विद्रोह' की संभावना से बचने के लिए उन्होंने 'जनमत' को सम्मान देना स्वीकार किया था। पत्रकारों–लेखकों को शासन ने जनता का प्रतिनिधि स्वीकार किया था। सर सैयद इसी बदली हुई स्थिति में ये बातें कह रहे थे।

अंग्रेजी शासन मात्र आर्थिक लूट और शोषण पर आमादा शासन नहीं था, जैसा कि रामविलास शर्मा का मंतव्य है।[17] इस शासन ने अपने औचित्य के तर्क सभ्यतागत पदों में प्रस्तुत किए थे। यह शासन एक सांस्कृतिक वर्चस्व पर टिका हुआ शासन था। अंग्रेजी शासन ने भारतीय समाज को नये सिरे से पुनर्परिभाषित किया। 'विधि' इसका एक साधन थी। अंग्रेजी शासन का तर्क था भारतीय समाज के बीच एक बुद्धिजन्य व्यवस्था को कायम करना। 'राज' अपने शासितों को एक सांगठनिक रूप देना चाहता था, क्योंकि उसकी नजर में भारतीय 'समाज' अव्यवस्था का प्रतीक था।[18] अंग्रेजी शासन ने विधि–व्यवस्था, संचार के नये साधन, मसलन डाक, तार, रेल आदि, शिक्षा–व्यवस्था तथा नौकरशाही के नये स्वरूप द्वारा भारतीय समाज को एक सांगठनिक रूप दिया।[19]

रामस्वरूप चतुर्वेदी अंग्रेजी शासन की इस विशेषता की पहचान करते हुए भारतीय पुनर्जागरण की विशेषता इन शब्दों में बताते हैं – "'विरुद्धों का सामंजस्य' जिसे हमने भारतीय मानस की एक प्रमुख विशेषता कहा है उसका व्यावहारिक निदर्शन इस अवधि (19वीं सदी का उत्तरार्द्ध) में बहुत अच्छे ढंग से किया जा सकता है। राजा राममोहन राय ने अपना चिंतन उपनिषदों से ग्रहण किया, पर हिंदू आराधना शैली की परंपरागत एकांतिक पद्धति को छोड़कर उन्होंने योरोपीय चर्च का संगठन स्वीकार किया जिसमें पूजन की सामूहिक पद्धति प्रचलित थी। ब्रह्म समाज की स्थापना उन्होंने 1828 में की, जिसकी प्रेरणा से फिर महाराष्ट्र में 'प्रार्थना' समाज (1867) का जन्म हुआ। हिंदी क्षेत्र में दयानंद ने 1875 ई. में आर्य समाज की नींव डाली। यह सिर्फ संयोग नहीं था

कि इन संस्थाओं के नामकरण के उत्तर–पक्ष में 'समाज' पर विशेष बदल दिया गया। हिंदू एकांतिक जीवन–पद्धति के विरुद्ध उसे समाज के रूप में गठित करने का यह प्रयास बड़े सजग रूप में पुनर्जागरण के मनीषियों ने किया... उपनिषद और गीता इनके चिंतन के केंद्र में है, संगठन का ढाँचा ये ईसाई स्वीकार करते हैं। भारतीय हिंदू विचारधारा और पाश्चात्य ईसाई संगठन का सामंजस्य यह इनके आंदोलन का मूलमंत्र है। अध्यात्म को पुनर्जागरण पहलें लोकसेवा से जोड़ता है और फिर लोकसेवा को क्रमशः राष्ट्रीय भावना से।"[20]

चतुर्वेदी जी का यह विवेचन 'पुनर्जागरण काल' में हिंदू धर्म के सांगठनिक स्वरूप की पहचान करने के कारण महत्त्वपूर्ण है लेकिन इस विवेचन की अनैतिहासिकता भी बड़ी मुखर है। 'भारतीय हिंदू विचारधारा और पाश्चात्य ईसाई संगठन' जैसे पदों का प्रयोग यह मानकर चलता है कि मध्ययुगीन ईसाई जगत अंग्रेजी शासन के समय तक अपरिवर्तित रहा। ईसाई धर्म ठीक उन्हीं अर्थों में सांगठनिक था जिन अर्थों में कोई भी सामी धर्म, लेकिन राज्यसत्ता और चर्च के अलगाव के बाद ईसाई धर्म के संगठन का स्वरूप बदला था। आधुनिक राज व्यवस्था ने इसे नया अर्थ और 'संगठन' का नया ढाँचा प्रदान किया था। तलल अशद ने अपनी पुस्तक 'जिनियोलॉजी ऑफ रेलिजन' में सप्रमाण तर्क दिया है कि 'धर्म' की अवधारणा के सार्वभौमिकरण का गहरा संबंध योरोप में आधुनिकता के उदय तथा शेष विश्व पर योरोप के आधिपत्य के विस्तार के साथ है। 'धर्म' के आधुनिक और पाश्चात्य समझ के प्रभावी होने और उसे एक सार्विक प्रत्यय के रूप में लागू करने के तरीकों की अनदेखी नहीं की जा सकती।[21] आधुनिकता की परियोज़ना विश्व भर में उपनिवेशवादी प्रभुत्व का आधार बनी। उसी ने विचार–विवेचन की नई कोटियाँ और ढाँचा प्रदान किया जिसके दायरे में उपनिवेश स्थापित करने को आतुर शासकों और 'नई रोशनी' से हतप्रभ शासितों ने अपने तथा अपने राजनीतिक–सामाजिक जीवन को समझा।

धर्म की अवधारणा की ऐतिहासिकता का रेखांकन करते हुए सन् 1962 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'द मीनिंग एंड ऐण्ड ऑफ रेलिजन' में विल्फ्रेड कांटवेल स्मिथ ने बताया है कि धर्म का सार्विक प्रत्यय एक योरोपीय और पाश्चात्य निर्मिति है। उन्होंने लिखा है कि एकवचन के अर्थ में धर्म को पहले–पहल रोमनों से ग्रहण किया गया तथा ईसाई धर्म और योरोपीय प्रबोधन के प्रभाव में इसका विस्तार–विकास हुआ।[22]

रोमनों के विपरीत, जो धर्म को प्रथा, परंपरा और कर्मकांड के अर्थ में यानी एक बाहरी कृत्य के रूप में देखते थे, शुरुआती ईसाइयों ने प्रवृति और विश्वास पर बल दिया। लेकिन हृदय की वृत्ति मानने की शुरुआती समझ पर एक लंबी प्रक्रिया में धर्म का बाहरी पक्ष अर्थात् उसकी वस्तुगत पहचान हावी होती चली गई। पूरे औपनिवेशिक काल में योरोपीय समुदाय ने धर्म को एक ऐसी धारणा के रूप में ग्रहण किया जो मत, सिद्धांत अथवा विश्वास के रूप में लिखित दस्तावेज में अभिव्यक्त होता है। यह बात भी

स्वीकार की गई कि धर्म का एक मूल स्रोत होता है एक आधारभूत धर्मग्रंथ, एक लिखित दस्तावेज जिसे सदाचरण बरतने वाले और प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति जैसे पादरी, धर्मवेत्ता आदि ही पढ़–समझ सकते हैं। 'प्रबोधन' के दौरान 'धर्म' को एकदम वस्तुगत यथार्थ के रूप में ग्रहण किया गया – एक ऐसी वस्तु के रूप में जिसकी वैज्ञानिक परीक्षा संभव हो। धर्म अब एक 'तंत्र' था। इसके धर्मवेत्ता, दार्शनिक और पुरोहित थे, इसकी संस्थाएँ और इसके लोग थे। धर्म का आकार और उसकी सीमा भी तय हुई, ठीक–ठीक प्राकृतिक वस्तुओं के समान। 'धर्म' को अब सच और झूठ, कम उपादेय या ज्यादा उपादेय जैसे पदानुक्रम में अन्य वस्तुओं के साथ तुलनात्मक रूप में बैठाया जा सकता था।[23]

ब्रिटेन में ज्यादातर प्रोटेस्टेंट मिशनरी सोसायटियों की स्थापना सन् 1699 से सन् 1843 ई. के बीच हुई।[24] 'चर्च ऑफ इंग्लैंड सोसायटी फॉर द प्रोमोशन ऑफ क्रिश्चियन नॉलेज' की स्थापना 1699 ई. में हुई थी और इसके दो साल बाद स्थापित हुआ 'सोसायटी फॉर द प्रोपेगेशन ऑफ द गॉस्पल'। 18वीं सदी में ऐसे बहुत से 'संगठन' बने जिन्होंने उपनिवेशों में 'सुधर्म–प्रचार' को अपना मिशन बनाया। भारत में सक्रिय महत्त्वपूर्ण ईसाई संगठनों में बैपटिस्ट मिशनरी सोसायटी, लंदन मिशनरी सोसायटी तथा चर्च मिशनरी सोसायटी का नाम लिया जाता है। इनकी स्थापना क्रमशः 1792 ई., 1795 ई. तथा 1799 ई. में हुई थी। भारत में काम करने वाले अधिकांश प्रोटेस्टेंट मिशनरी सुधर्म–प्रचार की सोसायटियों की तरफ से बहाल किये जाते थे। इन सोसायटियों की स्थापना का समय वही है जो इंगलैंड में 'पब्लिक स्फीयर' के उदय का काल। चर्च और राज्य के अलगाव ने 'धर्म' को विधि–व्यवस्था के दायरे में नियमित किया था और इन सोसायटियों का गठन सार्वजनिक नियमों के तहत किया गया था।

इस छोटे से अवलोकन से रामस्वरूप चतुर्वेदी जी के तर्क की चूक स्पष्ट हो जाती है। "ईसाई चर्च का संगठन" प्रबोधन की ज्ञानमीमांसा के भीतर बदल चुका था। वह भी अब बुद्धिजन्य व्यवस्था का एक हिस्सा था। 'ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना समाज' अथवा 'आर्य समाज' ने ईसाई चर्च का संगठन ग्रहण नहीं किया था बल्कि इन सबने इहलौकिक राजसत्ता की 'बुद्धिसंगत' व्यवस्था के भीतर उपयोगितावादी दर्शन को आत्मसात् किया था। 'आर्य समाज' का ही उदाहरण लें। रामस्वरूप चतुर्वेदी का मानना है कि भारतीय 'पुनर्जागरण' के दौरान बने 'समाजों' की साझी विशेषता यह है कि वे 'निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, हिंदू समाज के दो पिछड़े समूहों नारी और शूद्र की शेष उच्चवर्गीय पुरुषों के साथ समानता देते हैं।[25] चतुर्वेदी जी के तर्क से यह मानना पड़ेगा कि 'समाजों' का ऐसा कर पाना 'ईसाई चर्च का संगठन' स्वीकार कर पाने के कारण संभव हुआ। मगर ऐसा है नहीं। भारत में सक्रिय मिशनरी संगठनों ने तर्कबुद्धिवादी आधार पर अपना संगठन तैयार किया था। आर्य समाज के साथ ही यही बात थी।

20वीं सदी में राजनीतिक हिंदुत्व के उभार के ऐतिहासिक कारणों की पड़ताल करते हुए जॉन जाओस ने लिखा है कि दयानंद सरस्वती के समाज सुधार का बुनियादी आधार स्वयं 'आर्य समाज' की सांगठनिक संरचना थी।[26] दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना बंबई में सन् 1875 ई. में की थी, लेकिन इस संगठन का सर्वाधिक प्रभाव पंजाब में हुआ। दयानंद सन् 1877 ई. में पंजाब पहुँचे और उनके पंजाब आगमन के दो महीने के अंदर 'लाहौर समाज' की स्थापना हो गई। इसके सदस्यों में व्यापार से संबंधित अरोड़ा और खत्री आदि जातियों के लोग बहुसंख्या में थे। लेकिन इन व्यापारिक जातियों की एक खासियत यह थी कि पंजाब में 'मध्यवर्ग' इन्हीं से बन रहा था। अंग्रेजी में शिक्षित इन जातियों के सदस्य सरकार की नौकरशाही, न्यायपालिका और शिक्षा–प्रणाली में अपनी जगह बना रहे थे।

सन् 1880 और 1890 के दशक में 'लाहौर समाज' ही पूरे पंजाब में 'आर्य समाज' के विस्तार का बुनियादी केंद्र रहा। युक्त प्रांत में आर्य समाज के विस्तार का आधार पंजाब साबित हुआ। 'आर्य–समाज' की संरचना का बुनियादी तत्व था इसकी स्थानीय शाखाएँ खोल सकना। कोई भी नौ व्यक्ति (स्त्री या पुरुष), जिन्हें इसके 'दश नियम' स्वीकार हों, शाखा खोल सकते थे। विस्तार का एक कारण यह भी था कि 'दश नियम' भी स्वयं बहुत बाध्यकारी नहीं थे। आप परंपरागत हिंदू धर्म के सामाजिक आचारों का पालन करने के बावजूद 'आर्य समाजी' हो सकते थे। इसका अर्थ यह कि 'आर्य समाजी' होने के बावजूद जाति व्यवस्था के भीतर अपनी पहचान सुरक्षित रखी जा सकती थी।

दयानंद सरस्वती के 'दश नियम' अंगागिभाव से जुड़े हैं। लेकिन इसका तीसरा 'नियम' स्वयं 'आर्य समाज' के विस्तार में इसकी सांगठनिक संरचना की केंद्रीयता को चिह्नित करता है। इस नियम में कहा गया है कि समस्त सत्य ज्ञान का आदि स्रोत तो वेद हैं लेकिन आर्यजनों का जरूरी कर्त्तव्य यह होगा कि वे वेदों को पढ़ें, दूसरों को पढ़ाएँ, पढ़कर सुनाएँ और दूसरों से पढ़वाकर सुनें।[27] इस नियम के पहले हिस्से पर तो जोर दिया जाता है लेकिन इसके दूसरे भाग, यानी 'समस्त आर्यजनों के जरूरी कर्त्तव्य' पर ध्यान नहीं दिया जाता। दयानंद सरस्वती का हिंदू धर्म 'पाठाधारित' था। उसमें 'वेद' का दर्जा वही है जो 'बाइबिल' का। नियम का दूसरा हिस्सा पाठाधारित हिंदू धर्म को एक सर्वसमावेशी क्षेत्र बना देता है। वेद अब कोई भी पढ़ सकता था और 'वैदिक संदेश' आर्यजन कहीं भी पहुँचा सकते थे।

दूसरे, आर्य समाज की स्थानीय शाखा की मुख्य सांस्थानिक इकाई के रूप में समाज मंदिरों ने आर्य समाज के विस्तार में प्रमुख भूमिका निभायी। समाज मंदिर हर स्थानीय शाखा की गतिविधियों के प्रधान केंद्र हुआ करते थे। साप्ताहिक आयोजनों के रूप में यहाँ वेद–पाठ, स्तुति–गायन, प्रार्थना और उपदेश आदि होते थे। इनमें कोई भी भाग ले सकता था। इसके अतिरिक्त 'मंदिर' में आर्य समाज की समितियों की बैठक

होती थी और समिति का चयन भी किया जाता था। 'मंदिर' का इस्तेमाल विवाह जैसे आयोजन और कक्षाओं को चलाने में भी हुआ। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं हिंदी और संस्कृत की कक्षाएँ। सिद्धांततः आर्य समाज की हर शाखा को अपने सदस्यों के लिए, अगर वे इन भाषाओं को न जानते हों... इन दो प्रधान भाषाओं की कक्षाएँ आयोजित करना अनिवार्य था। वस्तुतः, समाज–मंदिर ने 'चर्च' के समान अपनी सांगठनिक संरचना बनायी थी। लाला लाजपत राय ने इसे 'चर्च' की संज्ञा भी दी।[28]

यहाँ, यह ध्यान देना जरूरी है कि स्वयं 'चर्च' ने उपर्युक्त विशेषताएँ प्रबोधनकालीन योरोप में ग्रहण की। ज्योफ्री ए. ओडी ने अपनी पुस्तक 'इमेजिन्ड हिंदुइज्म' में हेनरी वेन को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि 'सुधर्म के प्रचारक मिशनरी दूसरे ईसाइयों से धर्म–मत के सैद्धांतिक प्रतिपादन के मामले में उतने भिन्न नहीं हैं जितने कि ईसाई धर्म–तंत्र के एक खास भाग पर जोर देने के मामले में।'[29] हेनरी वेन सन् 1799 में इंगलैंड में स्थापित चर्च मिशनरी सोसायटी के सचिव थे। ओडी ने सुधर्म–प्रचारकों की चार विशिष्टताएँ बतायी हैं। वे थीं – 1. धर्म–परिवर्तन, अर्थात् यह विश्वास कि जीवन को बदला जा सकता है। 2. बाइबिल के प्रति समर्पण अर्थात् उसे ज्ञान का आदि स्रोत मानना 3. ईसा के प्राण–त्याग की घटना पर जोर 4. धार्मिक सक्रियता, अर्थात् उपदेश और प्रचार का कार्य।[30] 'सुधर्म–प्रचारक' इन विशिष्टताओं के आधार पर अन्य ईसाइयों से अलग थे। इन विशेषताओं का कारण था इनका तर्कबुद्धिवादी संगठन। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि हेनरी वेन कोई पुरोहित–पादरी नहीं, 'सोसायटी' के 'सचिव' थे।

आर्य समाज में भी कमोबेश ये विशेषताएँ मिल जाती हैं। भारत के आधुनिक धार्मिक आंदोलनों और उससे संबंधित राष्ट्रवाद के एक अध्येता पीटर फॉन डे फीर की टिप्पणी है कि उन्नीसवीं सदी के पुनरुत्थानवादी आंदोलन, मसलन 'आर्य समाज' आदि ने हिंदू धर्म के भीतर एकेश्वरवादी भावधारा की प्रतिष्ठा की, एक पुस्तक और सामूहिक पूजा की प्रधानता को स्थापित किया। यह एक मूलगामी परिवर्तन था, क्योंकि पुराने हिंदू धर्म ने विविध धर्मग्रंथों की बहुदेववादी परंपरा के भीतर आकार ग्रहण किया था। कोई एक परंपरा ज्यादा प्रभावी नहीं थी और पूजा की पद्धति एकांतिक थी। फीर का तर्क है कि ये पुनरुत्थानवादी आंदोलन एक नये हिंदू धर्म की रचना कर रहे थे जो धर्म की एकवचनीयता पर जोर देने के कारण "आधुनिक विश्व की नजर में सम्मानजनक (एकेश्वरवादी और पुस्तक आधारित) हो और जो एक इहलौकिक संसार–व्यवस्था में कर्म की नैतिकता का आधार बने।"[31] फीर के अनुसार एकवचन का अर्थबोधक 'धर्म' स्वयं एक आधुनिक प्रत्यय है और यह ईसाई धर्म पर भी उतना ही लागू होता है जितना औपनिवेशिक परिवेश में हिंदू धर्म पर। एक मुख्य भेद यह है कि कांट के बाद ईसाई धर्म को पश्चिमी आधुनिकता का तर्कबुद्धिसंगत धर्म मान लिया गया, जबकि हिंदू धर्म को 'पौर्वात्य प्रज्ञा' के रूप में अतार्किकता और अव्यवस्था का तमगा मिला –

साम्राज्यवादी विस्तार के क्रम में उत्पन्न ऐतिहासिक संक्रमण के दायरे में ही 'धर्म' ने यह महत्त्व धारण किया था।

तर्कबुद्धिसंगत व्यवस्था सिर्फ 'निर्गुण' पर जोर देने वाले 'समाजों' की विशिष्टता नहीं थी, जैसा कि रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने मान लिया है। 'सगुण' पर ज़ोर देने वालों और वीरभारत तलवार की नजर में प्रतिगामी[32] 'काशी धर्म–सभा' को भी तर्कबुद्धिसंगत संगठन के ही रूप में खड़ा किया गया था। इसकी संरचना में 'अध्यक्ष' और 'सचिव' का पद इस बात का साक्ष्य है। इसकी लिखित कार्यविधियाँ इसकी गवाह हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र 'काशी धर्मसभा' के सचिव थे तो काशी–नरेश इसके अध्यक्ष। सनातन धर्म के आधिकारिक विद्वान और पंडित बालशास्त्री, पंडित बस्तीराम, बापूदेव शास्त्री, राजाराम शास्त्री और सखा राम वर्मा आदि इसके सदस्य थे। अध्यक्ष, सचिव और सदस्य की यह व्यवस्था किसी आधुनिक संगठन की सूचना देती है।

तर्कबुद्धिपरक संगठन सिर्फ धार्मिक 'समाजों' की विशेषता नहीं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा स्थापित अनेक संस्थाओं में एक 'पेनी रीडिंग' क्लब कोई धर्म सुधार की संस्था नहीं थी। 'हश्चिंद्र मैगजीन' में छपे प्रायः "सब ही लेख उस क्लब में पढ़े गये थे। उस के द्वारा भी हिंदी का बहुत कुछ उपकार हुआ था। पठन–पाठन के अतिरिक्त उस क्लब में गाने–बजाने का भी आनंद होता था।"[33] इस क्लब के आठ नियमों से यह सिद्ध हो जाता है कि गैर–धार्मिक संस्थाओं का गठन भी तर्कबुद्धिपरक सिद्धांतों पर किया जा रहा था। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का समय तर्कबुद्धिपरक संगठन का समय था। यह उस युग का सर्वव्यापी मुहावरा था। भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत 'स्वर्ग में विचारसभा' के बारे में भारतेंदु के एक जीवनीकार बाबू शिवनंदन सहाय ने जो लिखा है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है :

"यह लेख स्वामी दयानंद और केशवचंद्र सेन के परलोकगमन पर (को विषय बनाकर) लिखा गया था... इस लेख में इस बात का विचार कराया गया है कि पूर्वोक्त दोनों महाशय स्वर्ग में स्थान पाने के अधिकारी हैं या नहीं। स्वर्ग में स्वर्गीय लोगों का कंसर्वेटिव और लिबरल दो दल नियत कराया है... फिर सिलेक्ट कमिटी हुई है जिसमें राजा राममोहन राय, व्यासदेव आदि सभासद हुए हैं। मुसलमानों के एक इमाम, कृस्तानों से लूथर, जैनों से पारसनाथ... एक्स ओफिशियो मेम्बर बने हैं। रोम के हरक्यूलियस... आदि कारेसपांडिंग ऑनरेटी मेम्बर बनाये गये हैं। इन लोगों ने एक रिपोर्ट ईश्वर के पास भिजवाया है और लिखा है कि इस रिर्पोट पर क्या आज्ञा हुई...."[34]

स्पष्ट ही है कि विधि–व्यवस्था ने बुद्धिजन्य राजव्यवस्था को संभव बनाया था और इस व्यवस्था के भीतर 'सार्वजनिकता' का उदय हुआ। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के समय में बनी संस्थाओं को विधि–व्यवस्था एक विशेष चरित्र प्रदान कर रही थी। इसका प्रमाण है सन् 1860 ई. का सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट (सन् 1860 की अधिनियम सं.21) जिसमें 'साहित्यिक, वैज्ञानिक अथवा धमार्थ–दानार्थ चलाये जा रहे संगठनों के

पंजीकरण' के संबंध में प्रावधान निर्धारित किए गए हैं। अधिनियम के भीतर 'साहित्य, विज्ञान, ललित कला अथवा उपयोगी ज्ञान (राजनीतिक शिक्षा के प्रचार–प्रसार) और धमार्थ' चलायी जा रही संस्थाओं के कामकाज और संगठन के संबंध में पूरी क्रियाविधि तय की गई थी। इसके पहले ही प्रावधान में कहा गया है – 'कोई भी सात या इससे अधिक व्यक्ति जो साहित्य, विज्ञान अथवा दानार्थ कार्यों के लिए इकट्ठे हों, अथवा इस अधिनियम के उपखंड–20 में वर्णित किसी उद्देश्य के लिए आपस में जुड़ें हों – वे अपने नाम के साथ इस आशय का एक मेमोरेंडम प्रस्तुत करके 'समाज' का गठन कर सकते हैं। इसके बाद 'समाज' बनाने के लिए जरूरी विस्तृत निर्देश दिए गए हैं जिसमें 'समाज' के संचालकों, परिषद्, निदेशक, समिति तथा प्रबंध आदि के बारे में व्यवस्था दी गई है।[35]

अगर विधि–व्यवस्था आलोच्य काल के 'समाजों' का नियमन कर रही थी तो यहाँ यह सवाल पूछना लाजिमी हो जाता है कि क्या इस नियमन का स्वयं 'समाजों' के आत्मबोध से कोई रिश्ता बन रहा था? दूसरे शब्दों में, क्या 'रूप' का बदलाव 'अंतर्वस्तु' के बदलाव को भी तय कर रहा था। विधि–व्यवस्था के भीतर उत्पन्न 'सार्वजनिकता' का चरित्र प्रधानतया धार्मिक था और आलोच्य काल का हिंदी लोकवृत्त धर्म के दायरे में ही प्रश्न–प्रतिप्रश्न और वाद–विवाद–संवाद के माध्यम से हिंदू धर्म का अलग–अलग आख्यान प्रस्तुत करके भावी राष्ट्रीयता की नींव तैयार कर रहा था। आगे की चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

भारतीय ज्ञान–परंपरा का अधिग्रहण और पुनर्व्याख्या

विधि–व्यवस्था के माध्यम से औपनिवेशिक 'राज' ने हिंदू धर्म की अवधारणा पर गहरा प्रभाव डाला। इतिहासकार रोमिला थापर लिखती हैं – "पूर्व–आधुनिक काल का हिंदू धर्म कोई एक रूप और एकाश्मिक धर्म नहीं था, यह अपनी प्रकृति में नमनशील कई धर्म–संप्रदायों का आपसी रचाव था।"[36] 19वीं सदी के दौरान हिंदू धर्म को इकहरी धर्म–परंपरा के रूप में गढ़ने और उसे विश्व के अन्य 'धर्मों' के तुल्य साबित करने के आंदोलन चले। इन आंदोलनों ने पाठाधारित हिंदू धर्म का प्रतिमान गढ़ा। इसमें पौर्वात्यवादी इतिहासबोध और भाषाबोध की विशेष भूमिका थी। यह सारा कुछ विधि–व्यवस्था के दायरे में ही संपन्न हुआ।

भारत और विश्व के अन्य भागों में योरोपीय प्रभुत्व के विस्तार के साथ औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने शासितों के बारे में एक विशाल ज्ञानराशि की रचना की। इसका उद्देश्य था प्रशासनिक कामकाज को सुचारु रूप से चलाना और किसी प्रतिरोध की चिंता से मुक्त होकर अनवरत् आर्थिक शोषण को जारी रखना। इस ज्ञानराशि ने विदेशी शासन को विचारधारात्मक आधार पर उचित साबित करने का भी काम किया। भारतीय यथार्थ को प्रशासनिक जरूरतों के मद्देनजर सार–रूप में संग्रहित करने के काम ने (ताकि नये प्रशासक भारतीय यथार्थ पर अपना नियंत्रण स्थापित कर

सकें) विद्वानों के एक समूह को तैयार किया। इस विद्वत–समूह को 'पौर्वात्यवादी' कहा जाता है। इस दिशा में पहला प्रयास सन् 1772 ई. से शुरु होता है और इसका श्रेय जाता है भारत के गवर्नर जेनरल सर वारेन हेस्टिंग्स को। उन्होंने 'कंपनी' के कुछ युवा अधिकारियों को भारत की शास्त्रीय भाषाओं संस्कृत, फारसी और अरबी पढ़ने तथा इन विषयों में लिखे ग्रंथों को अनूदित करने के लिए प्रेरित किया।

भारतीय अतीत के आधुनिक ऐतिहासिक ज्ञान की एक विडंबना यह है कि यह पिछले 200 सालों में विकसित व्याख्याओं पर आधारित है और इसका आधार मुख्यतया पौर्वात्यवादियों द्वारा तैयार किए हुए ग्रंथ हैं। पौर्वात्यवादियों ने भारतीय ज्ञानराशि का अधिग्रहण करके उसे 'प्रबोधन' की ज्ञानमीमांसा के भीतर पुनर्निमित किया था। इसका उद्देश्य था औपनिवेशिक शासन को फायदा पहुँचाना। एक तरह से उन्होंने 'देसी जनता' को उनका ही इतिहास अपने हाथों और अपनी जरूरतों के मद्देनजर लिखकर पेश कर दिया। मान लिया गया कि 'देसी प्रजा' अपने अतीत के सुव्यवस्थित ज्ञान से वंचित है। ब्रिटिश पौर्वात्यवादी, इतिहासलेखन में दस्तावेजी साक्ष्य पर सबसे ज्यादा जोर देते थे। वे दस्तावेजी साक्ष्य को सबसे ज्यादा प्रामाणिक भी मानते थे। उनकी नजर में जो दस्तावेज जितना ही पुराना हो, प्रामाणिकता के लिहाज से उसकी अहमियत उतनी ही ज्यादा थी। दस्तावेज के पुरानेपन की पहचान यहाँ नवविकसित भाषाविज्ञान के आधार पर की जाती थी। ब्रिटिश पौर्वात्यवादियों ने कुछेक लिखित दस्तावेजों को भारतीय इतिहास की अपनी पुनर्व्याख्या में ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना। भारत में ब्रिटिश राज के शुरुआती दशकों में अंग्रेजी प्रशासन ने समुचित कानून लागू करने के लिहाज से कुछेक सुनिश्चित शास्त्रों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। हिंदू कानून के लिए 'श्रुति, स्मृति और धर्मशास्त्र को आधार माना गया। इन पर की गई टीकाओं और व्याख्याओं को अहमियत दी गई। पाठाधारित कानून और मौखिक परंपरा में मौजूद रिवाजों की आपसी अंतःक्रिया से एक नये यथार्थ का जन्म हुआ। यह यथार्थ एक पाठाधारित हिंदू धर्म था।

वारेन हेस्टिंग्स ने बंगाल में प्रशासन को प्रभावकारी बनाने के लिए एक योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना का उद्देश्य था विदेशी धरती पर कंपनी के शासन को आधिकारिक स्तर पर मान्यता दिलाना। 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' को लिखे एक पत्र में उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि 'कंपनी का शासन स्थानीय निवासियों के प्राचीन रीति–रिवाजों तथा परंपरागत संस्थाओं के अनुसार यथासंभव चलाने की कोशिश की जाएगी।'[37] योजना में स्पष्ट किया गया था कि स्थानीय रीति–रिवाजों को एक व्यवस्थित विधिक रूप दिया जाएगा। कंपनी की आरंभिक 'अहस्तक्षेप नीति' के अनुसार ही यह योजना बनी थी। व्यापारिक हितों से जुड़ी एक कंपनी के लिए यह आवश्यक भी था कि वह धन–संपत्ति से संबंधित विधानों को एक सुनिश्चित रूप दे। दूसरे, इससे 'कंपनी' अपने शासन को सुचारु बनाये रख सकती थी। इस क्रम में वारेन हेस्टिंग्स ने बंगाल और प्रकारांतर से देखें तो पूरे उत्तर भारत को जिस नजरिए से देखा उसमें यह

बात निहित थी कि भारत में 'रीति–रिवाज और प्राचीन संस्थाएँ' विधि का काम करती हैं और उनकी निरंतरता सतत् कायम है। आचार–संहिता के मामले में यह बात और भी ज्यादा प्रकट थी क्योंकि मुगलकाल से ही 'जहाँदारी–दीनपनाही' का विभाजन चला आ रहा था।[38] विधि–निर्माण की प्रक्रिया में विवाह–तलाक, उत्तराधिकारी और संपत्ति धारण करने अथवा उससे वंचित होने के नियमों को शास्त्रों में निहित माना गया।

हेस्टिंग्स और उनके अधिकारियों के सामने समस्या यह थी कि इन नियमों की कोई 'मानक पुस्तक' मौजूद नहीं थी। ये नियम परंपरा से 'पंडितगण' की स्मृति–पूँजी थे। इसे मौखिक परंपरा से ही ब्राह्मणी व्यवस्था में ग्रहण और वहन किया जाता था। इस क्रम में शास्त्रीय ग्रंथों के साथ–साथ महाकाव्यों, पुराणों, स्मृतियों, आगमों और स्थानीय रीति–रिवाज – 'पंडितगण' विवाद के निपटारे में सबको घुला–मिलाकर अपने विवेक से प्रयोग करते थे। पुस्तक प्रधान नहीं थी, बल्कि इन पुस्तकों पर आधारित शिक्षण–परंपरा प्रधान थी और यही विधिक मामलों में 'पंडितगण' को निपटारे का अधिकार प्रदान करती थी। इसके साथ ही स्थानीय पंचायतों का विवाद के निपटारे में अपना हस्तक्षेप था। पंचायतें 'पंडितगण' के अधिकार को कमोबेश नियंत्रित किया करती थीं।

आरंभ में अंग्रेजी अदालतों ने दीवानी मुकदमों के (हिंदुओं के संदर्भ में) निपटारे में 'पंडित' द्वारा दी गई व्यवस्था पर निर्भर किया। यह 'व्यवस्था' जिन पुस्तकों के आधार पर दी जाती थी वे पुस्तकें अंग्रेज न्यायाधीशों की पहुँच से बाहर थीं। अंग्रेज न्यायाधीशों के पास इस 'व्यवस्था' को स्वीकार करने के सिवा कोई चारा न था। एक तरह से कंपनी के अधिकारियों और पंडितगण के बीच मौन लड़ाई ठन गई। सत्ताधारी कंपनी की धारणा यह बनी कि 'पंडितगण' द्वारा विवाद के निपटारे में दी गई 'व्यवस्था' कंपनी के राज्याधिकार के विरुद्ध स्थानीय प्राधिकार का प्रतीक है।[39]

हेस्टिंग्स की योजना के लागू होने के तुरंत बाद से 'कंपनी' ने 'पंडितगण' के 'प्राधिकार' से छुटकारा पाने की कोशिश शुरु कर दी थी। कंपनी की अदालतों में 'पंडितगण' को लगातार शक की नजर से देखा जाने लगा। एक तरफ पंडितों को शास्त्रों का विद्वान माना जाता था तो दूसरी तरफ यह भावना भी घर कर रही थी कि 'व्यवस्था' देने वाले पंडित अपने हितों के अनुकूल इसमें तोड़–मरोड़ करते हैं। यह विश्वास कंपनी के अंदर गहरे पैठ गया कि कोई 'संविदा' पाठरूप में है जरूर, परंतु इसे अपनी शक्ति बनाए–बचाए रखने के लिए 'पंडितगण' सामने नहीं लाते। साथ ही इस विश्वास ने भी बल पकड़ा कि 'विधि–संहिता' के मूल पाठ की कई टीकाएँ हैं जिससे सही व्याख्या सामने नहीं आ पाती। 19वीं सदी के आरंभिक दशकों में, प्राचीन से प्राचीन 'पाठ' खोजने पर जोर देने के कारण ही संस्कृत अथवा फारसी के अध्ययन पर जोर दिया गया। इस सिलसिले में बनारस में स्थापित संस्कृत कॉलेज (स्थापित 1794 ई.) में धर्मशास्त्र की पढ़ाई महत्त्वपूर्ण बनी।

पौर्वात्यवादी विद्वानों में सर विलियम जोन्स को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सर विलियम जोन्स सन् 1783 ई. में कलकत्ता 'सुप्रीम कोर्ट' के न्यायाधीश नियुक्त हुए थे और मृत्युपर्यंत (1794 ई.) इस पद पर रहे। 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' के अध्यक्ष के रूप में जोन्स और उनके सहकर्मियों ने भारतीय इतिहास के अध्ययन की एक पद्धति तैयार की। जोन्स का दृढ़ विश्वास था कि भारत में मौजूद पुराणकथाओं, महाकाव्यों और धर्मग्रंथों से प्राचीन भारत का एक ऐतिहासिक वृत्तांत तैयार किया जा सकता है। जोन्स मानते थे कि सबसे महत्त्वपूर्ण काम है भारतीय कानूनों की एक संहिता तैयार करना। इतिहास–अध्ययन की उनकी पद्धति अनिवार्य रूप से 'विधि' को 'धर्म' का ही पर्याय मानने को बाध्य करती थी। हिंदू कानूनों से संबंधित अपने अध्ययन में पौर्वात्यवादी इतिहास–दृष्टि और उसके अनुकूल हिंदू कानूनों की संहिता तैयार करने के प्रयासों पर टिप्पणी करते हुए वेरनर एफ. मेन्स्की ने लिखा है कि पौर्वात्यवादियों ने हिंदू कानूनों को 'प्रकाशना' पर आधारित कानून माना – "पौर्वात्यवादियों ने साहित्यिक अभिव्यक्तियों को सामाजिक यथार्थ का पर्याय मान लिया और ऐसे में हिंदू जीवन–जगत् की सच्चाइयों की अनदेखी की गई। गैर–पाठगत विधि–विधानों के व्यावहारिक महत्त्व को नकारा गया। यह परंपरा (पौर्वात्यवादी) मूल पाठ, उसके अनुवाद और परवर्ती टीकाओं को सबसे ज्यादा महिमावान मानती थी क्योंकि इन्हें सांस्कृतिक सत्य की अभिव्यक्ति का प्रामाणिक स्रोत मान लिया गया... पौर्वात्यवादी विद्वानों ने 'धर्म' को कानून बनाकर प्रस्तुत किया और मान लिया कि हिंदू कानूनों के आधारभूत नियम ठीक उसी तरह संहिताबद्ध हैं जैसे रोमन कानून अथवा नेपोलियन द्वारा प्रस्तुत फ्रेंच 'सिविल कोड'। जिसे 'धर्मशास्त्र' माना गया उसे ही कानून की संहिता भी, और मनुस्मृति 'लॉ ऑफ मनु' बन गयी...।[40]

जोन्स इस मान्यता के तहत काम कर रहे थे कि शास्त्रीय विधि–विधान दरअसल प्राचीन भारत में कानून का काम करते थे और ये विधि–विधान हिंदू धर्म के अनिवार्य घटक थे। उनकी मान्यता थी कि प्राचीन भारत में साधारण जनता ऐसे ही विधि–विधानों के माध्यम से न्याय प्राप्त करती थी। उनकी धारणा यह भी थी कि 'सामूहिक स्मृति में सुरक्षित विधि' व्याख्या के लिए गुंजाइश पैदा करती है। व्याख्या का अर्थ होता है भटकाव की संभावना। अतः 'पाठ' पर निर्भर रहना ज्यादा जरूरी है और पाठ की प्रामाणिकता की सिद्धि उसकी प्राचीनता से होती है।

इस प्रकार विधि की सुसम्बद्ध व्यवस्था कायम करने के प्रयास में प्राच्यविद्याविदों तथा कंपनी सरकार ने एक ऐसी धर्म–परंपरा खोज निकाली जो प्राचीनतम पुस्तकों पर आधारित थी। इन प्राचीनतम पुस्तकों को 'आर्यजाति' से जोड़ा गया और आर्य जाति को स्वर्णयुग से। स्वयं जोन्स के ही शब्दों में – "इस जाति की धन–संपदा के स्रोत अभी भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं; हालाँकि बहुत–सी क्रांतियाँ और अनेक विजय–अभियान हो चुके हैं। सूती वस्त्रों के उत्पादन में विश्व भर में इनका कोई सानी नहीं था और इनका आकार–प्रकार डायनोसियस (जोंस ने इस ग्रीक कवि की भारत विषयक कविता

उद्धृत की है) के जमाने से आज तक अपरिवर्तित रहा है। आज भले ही हिंदू पतित और अवमानित लगते हों, परंतु इस बात पर कोई शक नहीं कर सकता कि कभी पुराने वक्त में शस्त्र और शास्त्र में उनका कोई सानी नहीं था, शासन के मामले में खुशहाल और विधि–व्यवस्था के विद्वान ये लोग विविध विधाओं में निष्णात थे। किंतु, 18वीं सदी के मध्य से आज दिन तक छोड़कर इनका जनजीवन हम तक मात्र किंवदंतियों से ही पहुँच पाता है। हमारे पास स्वयं को इस विषय में संतुष्ट करने के लिए महज चार साधन वर्तमान हैं – पहला भाषा, दूसरा इनका दर्शन और धर्म, तीसरा मूर्तिशिल्प और वास्तुशिल्प के वास्तविक अवशेष और चौथा विज्ञान कला विषयक इनके लिखित ग्रंथ।"[41]

जोन्स ने संस्कृत को योरोपीय भाषाओं से जोड़ा तथा भारतीय योरोपीय सभ्यता में बहुत सारी समानताएँ ढूँढीं – "संस्कृत चाहे जितनी भी प्राचीन हो, यह ग्रीक से ज्यादा पूर्ण, लैटिन से ज्यादा शब्द–समृद्ध और इन दोनों से कहीं ज्यादा परिष्कृत है, फिर भी 'धातुओं' और व्याकरण के आधार पर इन दोनों भाषाओं से इसका (संस्कृत का) गहरा जुड़ाव है – यह जुड़ाव इतना गहरा है कि कोई भाषाविज्ञानी इन तीनों भाषाओं का अध्ययन बगैर इस विश्वास के नहीं कर सकता कि इनकी उत्पत्ति एक ही स्रोत से हुई जो संभवतः अब कायम नहीं है।"[42] यह एक महत्त्वपूर्ण बात साबित हुई। 'आर्य–सभ्यता' इस तरह मानक 'हिंदू धर्म' का पर्याय बन गई। इसके बाद की विरासत को पतन का सूचक माना गया। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी लोकवृत्त के भीतर विकसित राष्ट्रीयता ने इस इतिहास बोध को अपना आधार बनाया। दयानंद सरस्वती अगर आर्य धर्म की खोज करते हुए संस्कृत की अंगुली थाम 'वेद' तक पहुँचे तो भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'वैष्णवता' की प्राचीनता सिद्ध करके महिमावान प्राचीन भारत को राष्ट्रीय अस्मिता का वाचक सिद्ध किया।[43]

सर विलियम जोन्स ने ही 'हिंदी' के आधार पर 'हिंदू' और हिंदुस्तान की वैचारिक निर्मिति के लिए आधार–स्थापना रखी थी – "भारत से मेरा आशय उस विशाल भू–भाग से है जिसमें हिंदुओं का प्राचीन धर्म और भाषा आज दिन तक कमोबेश प्राचीन शुद्धता के साथ प्रचलित है और जिसमें (धर्म और भाषा में) नागरी लिपि अब भी अपने मूल रूप से थोड़े ही बदले रूप में प्रयोग की जाती है।"[44] आगे के अध्याय–चार में यह बात स्पष्ट की जाएगी कि हिंदी भाषा का आंदोलन मुख्यतः नागरी लिपि का आंदोलन था और इसने अपने 'अन्य' के रूप में फारसी लिपि को ग्रहण किया था।

जोन्स के जीवनीकार सर जॉन शोर ने लिखा है कि विलियम जोन्स 'बहुभाषिक और निष्णात भाषाविज्ञानी' ही नहीं थे। ऐसा कहना उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की उपेक्षा करना होगा। वे भारत की 'प्रकृति को ध्यान में रखकर वहाँ एक न्यायपूर्ण और कल्याणकारी शासन' को संभव बनाने आए थे और वे इंगलैंड की सेवा के क्रम में 'भारत के समाज तथा संस्कृति के संबंध में 'सत्य' और ज्ञान' का संधान कर रहे थे।[45] लेकिन

यह जोन्स भारत को 'बर्बरता' और 'असभ्यता' का प्रतीक मानते थे। उनकी धारणा थी कि 'निरंकुशता की निरंतरता के प्रभाव में' एशियाई समाजों के भीतर से 'वह सारे गुण समाप्त हो गए हैं जिनके आधार पर मनुष्य और झुंड में फर्क किया जाता है' और इसी आधार पर उनका निष्कर्ष था कि 'अधिकांश एशियाई राष्ट्र चाहे प्राचीन हों या आधुनिक निश्चित ही योरोप की तुलना में हीनतर' हैं। जोन्स की भारत विषयक ग्रंथि उनकी इन पंक्तियों में सबसे ज्यादा मुखर है – "कोई भारत का भ्रमण करे और यहाँ की साहित्य–राशि से परिचित हो तो स्वभावतया वह योरोपीय प्रतिभा की श्रेष्ठता को लक्ष्य किए बगैर नहीं रहेगा। यह बात तो सिकंदर के जमाने से ही स्वीकृत चली आ रही है और हम भले ही इस महत्त्वकांक्षी सम्राट के ऋषितुल्य उपदेशक की इस बात से सहमत न हों कि एशियाई जन्मना गुलाम होते हैं तो भी यह एथेंसवासी कवि उस जगह बिलकुल सटीक जान पड़ता है जहाँ वह योरोप को संप्रभु साम्राज्ञी और एशिया को उसकी दासी के रूप में चित्रित करता है।"[46]

तेजस्विनी निरंजना ने ठीक चिह्नित किया है कि विलियम जोन्स का काम (1) योरोपीय समुदाय के लिए अनुवाद के माध्यम से भारत का ज्ञान प्रस्तुत करना था क्योंकि देसी व्याख्याताओं को वे विश्वासयोग्य नहीं मानते थे। वे (2) जोन्स भारत का विधि–दाता बनकर 'अवतरित' हुए थे और भारत के लोगों को उनके ही 'नियम' सुधार – बनाकर प्रस्तुत करना चाहते थे तथा उनके भीतर (3) भारतीय संस्कृति का शुद्धीकरण करने और उसका आधिकारिक प्रवक्ता बनने की इच्छा थी। इन तीनों बातों ने आपस में मिलकर एक संबंध की रचना की जिसमें योरोप 'सुधारक और शिक्षादाता था' तो 'भारत की शासित प्रजा अनुगत शिष्य।'[47]

उपयोगी ज्ञान और समाज–सुधार

'सुधारक' और 'शिक्षादाता' होने का भाव लार्ड विलियम बेंटिक के गवर्नर जेनरल (1828) बनने के बाद अपने चरम पर पहुँचा। स्वतंत्र व्यवसायी, सुधर्म–प्रचारक और उपयोगितावादी 'कंपनी' ने साम्राज्यवादी शासन की एक विशिष्ट विचारधारा तैयार की जिसका आधार था 'उदारवाद'। एरिक स्टॉक के अनुसार लार्ड बेंटिक से लार्ड डलहौजी (1848–56) के समय तक 'सुधार' का यह भाव भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का केंद्रीय भाव रहा।[48]

उदारवाद ने औद्योगिक क्रांति के बरक्स जन्मी नयी नैतिकता को दार्शनिक आधार प्रदान करने का काम किया था और इसमें नेपोलियन से युद्ध के बाद विश्वव्यापी बने ब्रिटिश साम्राज्य के औचित्य–निरूपण की शक्ति थी। उदारवाद ने सिर्फ साम्राज्य को ही सुसंरचित रूप देने की कोशिश नहीं की बल्कि, एडम स्मिथ और जेरेमी बेंथम की स्थापनाओं से संबुद्ध होकर इसने ब्रिटेन के राज–प्रशासन को भी नया रूप दिया। इतिहासकार थॉमस आर. मेटकॉफ का कहना है कि राज–प्रशासन के जो परिवर्तन ब्रिटेन में किए गए, भारत उसके लिए एक प्रयोगशाला बना था।[49] ब्रिटेन में सन् 1832

के 'रिफार्म एक्ट' के तहत नयी व्यवस्था कायम की गई। प्रशासनिक सुधारों से जुड़े इस अधिनियम का कई वर्गों ने विरोध किया। इसके विपरीत, भारत में विजितों के पास ऐसा कोई वैधानिक साधन न था कि वे अपना प्रतिरोध दर्ज कर पाते। इसी कारण 'भारत, उदारवादी राजकीय प्रशासन की पहलकदमी के लिए एक प्रयोगशाला बना – इस प्रयोग के बाद ही उदारवादी प्रशासन के तत्व मसलन राजकीय नियंत्रण वाली शिक्षा, कानूनों का संहिताकरण अथवा प्रतिस्पर्धात्मक आधार पर चुनी गई नौकरशाही ने ब्रिटेन में अपना रास्ता अख्तियार किया।'[50]

उदारवाद कोई सुसंगठित विचारधारा नहीं है। इसके अंतर्विरोध और भेद–प्रभेद भी बड़े प्रकट हैं, परंतु उस वक्त के सभी ब्रिटिश उदारवादी कुछ बातों को लेकर आपस में सहमत थे। मनुष्य की प्रकृति को उदारवादी एक कोरी स्लेट के रूप में देखते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य की प्रकृति सर्वत्र एक जैसी होती है और उसे पूरी तरह से बदला जा सकता है। अगर 'सुधर्म–प्रचारक' मनुष्य की प्रकृति को 'दीक्षा' से बदलना चाहते थे तो उदारवादी उसको कानून, शिक्षा और मुक्त व्यापार के माध्यम से। उदारवादियों में सुधार की गति और उसके तरीकों, मसलन सुधार कानून के जरिए हो अथवा शिक्षा के जरिए, को लेकर मतभेद थे। परंतु वे इस बात पर राजी थे कि 'व्यक्ति–मानव' को पंडे–पुरोहित, निरंकुश राजा, सामंती अभिजन आदि की सदियों पुरानी गिरफ्त से छुड़ाना है ताकि 'व्यक्ति' एक तर्कबुद्धि–संपन्न अस्तित्व बने, चिंतन–मनन और बहस–मुबाहिसे का ज़ीवन जीए और स्वतंत्र भाव से अपने विकल्पों का चयन कर सके। उदारवाद की मान्यता थी कि सभ्य समाज का आकार बनता है स्व–निर्भर व्यक्ति और उसके गुणों से। संरक्षण और हैसियत के आधार पर व्यक्ति को पुरस्कार या दंड देने वाला समाज 'सभ्य' कहलाने का हकदार नहीं है। उदारवाद के भीतर घनघोर आशा थी कि समाज का बदलाव संभव ही नहीं सुनिश्चित भी है। भारत में सुधार की एक योजना के रूप में उदारवाद ने सुधर्म–प्रचारकों, विधिवेत्ताओं, शिक्षाविदों और उपयोगितावाद के सिद्धांतकारों को एक कर दिया था।

उदारवाद की भारत विषयक मान्यता की संपूर्ण अभिव्यक्ति जेम्स मिल की 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' में हुई। यह पहली बार सन् 1818 ई. में प्रकाशित हुई थी। 18वीं सदी के पौर्वात्यवादियों ने शासन की सुविधा के अनुकूल भारतविषयक 'ज्ञान' का सृजन कर दिया था, लेकिन औपनिवेशिक शासन की श्रेष्ठता को साबित करने लायक भारत विषयक 'ज्ञान' मिल की इस पुस्तक ने प्रदान किया। मिल की पुस्तक के शीर्षक में आया शब्द 'ब्रिटिश इंडिया' इस बात की गवाही देता है। इस पुस्तक ने औपनिवेशिक भारत में 'कंपनी' की राजशक्ति को एक समाजशक्ति के रूप में परिवर्तित करने का काम किया। इस पुस्तक का महत्त्व इसी बात से आँका जा सकता है कि जेम्स मिल 'इंडिया हाऊस' के 'चीफ एक्ज़ामिनर' बनाये गये जो उस वक्त के इंगलैंड में औपनिवेशिक शासन के लिहाज से सबसे ज्यादा कमाऊ पद था। भारत से संबद्ध मिशनरी, प्रशासक, विधिवेत्ता और व्यवसायी सभी इस पुस्तक के पाठक थे।

जेम्स मिल को यों तो जेरेमी बेंथम के उपयोगितावादी दर्शन की कथा का प्रधान चरित्र माना जाता है जिसने इस दर्शन को शासन के नियम के रूप में सुसम्बद्ध करने का काम किया, परंतु यह बात कम ही कही जाती है कि जेम्स मिल अपने आरंभिक जीवन में 'सुधर्म–प्रचारक' थे और एक धर्म–संप्रदाय 'कैपहम सेक्ट' से उनका गहरा रिश्ता था। वे बिल्बरफोर्स के भी सहयोगी रहे। इन्हीं बिल्बरफोर्स के कारण कंपनी ने ईसाई मिशनरियों को अपना काम–काज करने की वैधानिक मान्यता दी थी। वे विलियम बेंटिक और थॉमस बैविंग्टन मैकाले के भी प्रशंसक थे। अपने 'ब्रिटिश इंडिया' की रचना में उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेजों और पौर्वात्यवादियों के अनुवादों को आधार बनाया। पौर्वात्यवादी 'आर्य भारत' की खोज में जुटे थे। तत्कालीन भारत की 'हीन' सांस्कृतिक दशा के सुधार के लिए वे इस 'आर्य भारत' के मॉडल को जिलाना–जगाना चाहते थे। पौर्वात्यवादियों के विपरीत जेम्स मिल ने 'आर्य भारत' और प्राचीन 'भारतीय सभ्यता' को भी अपने सांस्कृतिक–नैतिक प्रतिमानों के आधार पर 'पतनशील' सिद्ध किया।

मिल ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को भारत पर विदेशी शासन की एक कड़ी के रूप में देखा था। उनके अनुसार, भारत पर लगातार विदेशियों के हमले हुए। मुगल शासन को उन्होंने मुसलमानी और विदेशी शासन का दर्जा दिया। इस निरंकुश शासन की वजह से ही, मिल के अनुसार, हिंदुओं पर नैतिक दुष्प्रभाव पड़ा। मिल ने ठीक इसी कारण से अंग्रेजी शासन को भारत के लिए अनिवार्य और उचित साबित किया। मिल के अनुसार, अंग्रेजी शासन तर्कबुद्धि पर प्रतिष्ठित सभ्य शासन था। मिल ने 'ब्रिटिश इंडिया' के पहले अध्याय में अंग्रेजी शासन की स्थापना के इतिहास को ऐसे प्रस्तुत किया है मानो वह सीधा–सादा और अपनी प्रकृति में कतई निर्दोष 'व्यापार' के फलने–फूलने का इतिहास हो। व्यापार के इस इतिहास में लूट–खसोट और यहाँ तक कि गुलामों के व्यापार को भी जगह नहीं दी गई है। मुस्लिम शासकों को उन्होंने 'निरंकुश और अत्याचारी' जरूर साबित किया है। मिल ब्रिटिश शासन को भारत में स्वयं भारतीयों की मर्जी से स्थापित हुआ साबित करते हैं – "शाह का फरमान और आज्ञा–पत्र, जिसमें विशेषाधिकार दिए हुए थे, 11 जनवरी 1643 ई. को प्राप्त हुआ और इस भारतीय उपमहाद्वीप में अंग्रेजी राज की स्थापना की अनुमति मिली।"[51] स्पष्ट ही, मिल के इतिहास का प्रधान उद्देश्य भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना को जायज ठहराना और उसको बढ़ावा देना था।

अपने इस लक्ष्य को साधने के लिए मिल ने शासितों अर्थात् भारतीय लोगों को विशिष्ट सांस्कृतिक भूमिकाओं में बाँध कर प्रस्तुत किया है। उनके इतिहास का प्रत्येक खंड भारत का एक विशिष्ट सामाजिक और नैतिक इतिहास प्रस्तुत करता है। इसकी शुरुआत होती है सबसे बड़े अध्याय "Manners, morals and customs of the Hindus" से। मिल का पूरा इतिहास सभ्यतागत पदों में नैतिक–सांस्कृतिक फैसले सुनाता है और औपनिवेशिक शासन के विकास की दिशा तय करता है। जेम्स मिल की मान्यता थी कि

किसी देश की सभ्यता को सोपान–क्रम में सजाकर उसकी हीनता अथवा उच्चता को 'वैज्ञानिक शुद्धता' के साथ मापा जा सकता है। मिल ने भारतीयों की सांस्कृतिक अवस्था की 'सच्ची जानकारी' प्रदान करने का काम अपने हाथ में लिया था और वे 'सभ्यता के सोपानक्रम' पर भारत का स्थान निर्धारित करना चाहते थे। बेंथम के दर्शन का अनुगमन करते हुए उन्होंने भी सामाजिक प्रगति का पैमाना 'उपयोगिता' को बनाया। उन्होंने लिखा है कि 'जिस सीमा तक उपयोगिता किसी मानवीय प्रयास का तत्व होती है उसी सीमा तक हम किसी राष्ट्र को सभ्य कह सकते हैं।' भारतीय कला, साहित्य, धर्म और कानून की परीक्षा करने के बाद मिल ने विलियम जोन्स के निष्कर्ष कि भारत में कभी उच्चकोटि की सभ्यता विद्यमान थी – को खारिज करते हुए फैसला सुनाया कि 'हिंदुओं ने कभी 'उच्च कोटि की सभ्यता' हासिल नहीं की।' मिल के अनुसार हिंदू 'असंस्कृत' थे और सभ्यता की तरफ कुछ ही शुरुआती कदम' बढ़ा सके थे। उन्होंने न्यायाधीश के तेवर में लिखा है कि 'भारत में एक भयानक समाज विद्यमान था' जो योरोप के सामंतशाही वाले दौर के समाज से भी गया–गुजरा था। निरंकुश राज्य और पंडे–पुरोहितों के बंधन में पड़े हिंदू अंधविश्वासों और भ्रांत धारणाओं के चंगुल में मानव जाति के सबसे गुलाम हिस्से' के रूप में तब्दील हो गये" – मिल का यह दो टूक फैसला था।[52]

भारत को इस 'जड़ता' से निकालने और उन्नति के रास्ते पर लगाने के लिए मिल ने उपाय सुझाए। उनके जानते सबसे जरूरी था कानूनों की संहिता तैयार करना, जो व्यक्ति की ऊर्जा को परंपरा के बंधन से बाहर निकाले। मिल के अनुसार 'थोड़े से कर और अच्छे कानून बस ये ही इस देश की सभ्यता को राह पर लगाने के लिए सर्वाधिक जरूरी थे। मिल के इन उपायों पर इतिहासकार थॉमस आर. मेटकॉफ की टिप्पणी है कि कानूनों की वैज्ञानिक संहिता के जरिए व्यक्तिगत संपदा अधिकार को लागू करने की इस योजना ने भारतीय समाज में क्रांतिकारी प्रभाव डाला। मिल के लिए यह बात कोई खास मायने नहीं रखती थी कि भारत का तत्कालीन 'राज' प्रातिनिधिक चरित्र वाला नहीं है। मिल भी अपने प्रेरणा–पुरुष बेंथम की तरह मानते थे कि 'अधिकतम लोगों का अधिकतम आनंद' शासन का लक्ष्य है, न कि आजादी। दोनों ही मानते थे कि संपदा का अधिकार सुरक्षित हो जाय तो भारतीय अपने उद्यम के बल पर सभ्यतागत श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेंगे। मिल के अनुसार भारत में शासन का काम 'अच्छी तरह और कम खर्चे में चल रहा है' तो 'यह बात कोई खास मायने नहीं रखती कि शासन चलाने वाले लोग कौन हैं।' इसी विचार के आलोक में ब्रिटिश प्रशासन इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि ब्रिटिश विशेषज्ञ ही सुशासन स्थापित कर सकते हैं।[53]

यहाँ थोड़ी चर्चा जॉन स्टुअर्ट मिल की भी आवश्यक है। वे जेम्स मिल के पुत्र थे और उपयोगितावादी दर्शन उन्होंने विरासत में पिता से प्राप्त किया था। सन् 1823 ई. में वे अपने पिता के सहायक के तौर पर नियुक्त हुए और ईस्ट इंडिया कंपनी से सन् 1858 ई. तक उनका जुड़ाव रहा। वे भी कालक्रम में 'एक्जामिनर' के पद पर

पहुँचे। अपने पिता की तरह वे भी भारत का 'सभ्यता के सोपानक्रम' पर स्थान नियत करना चाहते थे। उनकी प्रविधि थोड़ी अलग थी। जॉन स्टुअर्ट मिल को उनके 'ऑन लिबर्टी' के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। इस पुस्तक में उन्होंने अपने पिता के विरुद्ध तर्क दिया था कि स्वतंत्रता स्वयं में साध्य है, वह 'आनंद' का साधन–मात्र नहीं। लेकिन अपनी पुस्तक 'रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेंट' में उन्होंने स्पष्ट किया कि यह 'एक आदर्श नीति' है और हर तरह के लोगों के लिए इसको अनुकूल नहीं माना जा सकता। स्टुअर्ट मिल का तर्क था कि जो लोग इस 'आदर्श नीति' के 'लायक' हों वही प्रतिनिधित्व आधारित शासन के हकदार हैं, बाकी लोगों के लिए तो कोई 'विदेशी सत्ता' अथवा 'एक सीमा तक निरंकुश' शासन ही ठीक है।[54]

स्टुअर्ट मिल ने समाजों को विभिन्न कोटियों में बाँटकर देखा और उनके बीच एक सोपानक्रम स्थापित किया। उनके अनुसार विभिन्न समुदायों की अवस्था संस्कृति और विकास के लिहाज से अलग–अलग होती है और अपनी हीनतर अवस्था में कोई समुदाय 'निरा बर्बर' होता है। इस अवस्था में उस पर किसी निरंकुश शासक का शासन होता है, जिसकी आज्ञा का उसे पालन करना पड़ता है। इससे तनिक ऊपर होता है गुलामी का प्रथा वाला समाज, जिसमें लोगों को निरंतर परिश्रम करने की सीख दी जाती है। इसके ऊपर होता है पितृभाव से संरक्षण करने वाला शासन। इसमे व्यक्तियों को अपने तईं बहुत कुछ करने की आजादी होती है, लेकिन शासन एक निरीक्षणकर्ता की हैसियत से निगाह जमाये रहता है। स्टुअर्ट मिल ने भारत, चीन और मिस्र के बारे में फैसला दिया कि प्राचीन काल में ये समाज इसी तीसरी दशा तक पहुँचे हुए थे। उनकी टिप्पणी है कि 'ये पूरबी समुदाय मानसिक स्वतंत्रता और व्यक्तिवादिता के अभाव में स्थायी जड़ता का शिकार हुए जबकि यही (मानसिक स्वतंत्रता और व्यक्ति–वादिता) सुधार के लिए जरूरी हैं और जिन संस्थाओं के बूते ये (भारतीय और चीन देशवासी) एक हद तक पहुँचे थे उन संस्थाओं ने इन्हें पूरी तरह से इन गुणों के नाकाबिल बना दिया।' स्टुअर्ट मिल ने इसी आधार पर यह सिद्धांत रखा कि जिन समाजों के भीतर स्वयं को सुधारने की शक्ति नहीं है वहाँ कोई 'बाहरी शासन' अपने नेतृत्व के बूते पुरानी संस्थाओं की जकड़बंदी तोड़कर सुधार योजना लागू कर सकता है। स्टुअर्ट मिल मानते थे कि विदेशी शासन का नेतृत्वकारी हाथ जड़ता में पड़े समाज के कुछ लोगों को धीरे–धीरे प्रशिक्षण दे ताकि वे स्वयं सुधार और उन्नति के पथ पर चल पड़ें। प्रशिक्षण से स्टुअर्ट मिल का आशय मात्र इतना नहीं था कि कानूनों को संहिताबद्ध कर दिया जाय। अपने पिता के समान वे यह नहीं मानते थे कि मनुष्य स्वार्थी होता है और मात्र कानून के भय से ही सही रास्ते पर चल सकता है। स्टुअर्ट मिल का विचार था कि मनुष्यों को 'सर्वजन की भलाई' की बातें सिखायी जा सकती हैं और उसके भीतर खुदमुख्तार चरित्र विकसित किया जा सकता है। स्टुअर्ट मिल का तर्क था कि 'सुशासन' और शिक्षा भारतीयों को इस सीमा तक बदल सकती है कि अंत में स्वतंत्रता की उनकी मांग नकारी नहीं जा सकेगी।[55]

इस अध्याय के शुरुआती हिस्से में सर सैयद के एक भाषण का हवाला दिया गया था। सर सैयद इन्हीं जॉन स्टुअर्ट मिल को अपने भाषण में उद्धृत कर रहे थे। 'सभ्यता' और 'शिक्षा' का उदारवादी मुहावरा हिंदी–उर्दू भाषा के भीतर विकसित लोकवृत्त की एक टेक बन गया। सर सैयद ने अलीगढ़ में बनी साइंटिफिक सोसायटी के सचिव को लंदन से भेजे गए एक पत्र में (15 अक्टूबर 1869) लिखा कि लंदन पहुँचने के बाद गुजरे छः महीनों में मैंने बहुत कुछ देखा है। लार्ड और ड्यूक के संग–साथ रात्रि–भोज में गया हूँ और जिस मध्यवर्ग का मैं सदस्य हूँ उस वर्ग के साथ भी यहाँ लंदन में अच्छा–खासा वक्त गुजारा है। मैं कुलीन स्त्रियों से भी मिला और उच्चतम श्रेणी की शिक्षा को भी देखा। समाज के ऊँचे और नीचे तबके के लोगों के रहन–सहन और व्यवहार–बरताव को भी मैं परख चुका हूँ। इस अवलोकन के बाद सर सैयद एक हृदयविदारक निष्कर्ष पर पहुँचे थे। सर सैयद का यह निष्कर्ष उस वक्त के मध्यवर्ग की आत्महीनता को बड़े मुखर ढंग से व्यक्त करता है –

"मैं भारतवासी अंग्रेजों को अभद्रता का अपराधी पाता हूँ कि वे देसी लोगों को घृणा का पात्र तथा जानवर समझते हैं और मेरा ख्याल है कि वे ऐसा हम लोगों को ठीक से न समझ पाने के कारण करते हैं और मुझे जान पड़ता है कि यह बात मुझे स्वीकार करनी चाहिए कि हमारे बारे में उनकी राय गलत नहीं है। बगैर अंग्रेजों की स्तुति–वंदना किए, मैं सचमुच कह सकता हूँ कि भारतवासी, चाहे ऊँचे हों या नीचे, बड़े महाजन हों या छोटे दुकानदार, अशिक्षित हों या शिक्षित – अंग्रेजों से शिक्षा, व्यवहार–बरताव और कायदे–कानूनों की पाबंदी के मामले में तुलना करने पर ठीक वैसे ही साबित होंगे जैसे एक काबिल और सुदर्शन पुरुष के सामने कोई जानवर। क्या तुम जानवर के साथ सम्मान से पेश आने की बात सोच सकते हो।"[56]

बालकृष्ण भट्ट इस बात को सन् 1880 ई. में अलग ढंग से कह रहे थे – "इन दिनों सभ्य जाति वाले हम लोगों पर परिवर्तनविमुखता का कड़ा दोष लगाते हैं यह नहीं समझते कि सूरदास की काली कामरि चढ़ै न दूजा रंग।" भट्ट जी को इस बात का गहरा मलाल है कि "हजारों वर्ष बीत गये यथास्थिति जैसे का तैसा लादे भैंस के समान एक चाल से (हिंदुस्तान) चला जा रहा है।" भट्ट जी 'सभ्यता' को नित नएपन से जोड़कर देखते हैं और उसे मूलतः भौतिक प्रगति का वाचक मानते हैं – "विविध प्रकार का कम्बलास्तरण कालीन आदि सब हैं पर मजहबी काम के लिए उसी कुशासन का बिछौना छोड़ दूसरा न जारी हुआ।... अनेक प्रकार के सोने–चाँदी के पात्र चाहे मौजूद हों पर श्राद्ध में पितरों की तृप्ति पत्ते के दोनों में ही समझी गई। बिगुल फ्लूट हारमोनियम आरगन प्रभृति कितने प्रकार के नये–नये बाजन निकाले गए हम लोगों के पुराने समय के शंख और पिथौरा के राज्य के ढोल और ताशा में चाउर बराबर भी तरक्की न हुई... योरोप में विज्ञानविद् सौ के लगभग Elementary Substance रूढ़ पदार्थ प्रगट कर चुके हैं। हमारे यहाँ के दार्शनिक घोर–मचोर इसी परिवर्तनविमुखता के कारण पाँच तत्व के आगे न बढ़े।[57]

बहरहाल, भट्ट जी सभ्यता के आतंक में होने के बावजूद इस सभ्यता की एक नैतिक–आलोचना तैयार करते हैं – "आधुनिक सभ्यता विदेश से यहाँ आयी है, वह हमारे किसी बात के अनुकूल नहीं किंतु इससे प्रतिदिन हमारी क्षीणता होती जाएगी। भोग–विलास आधुनिक सभ्यता का प्रधान अंग है।[58] भट्ट जी का अपना मंतव्य है कि भारत की "पुरानी सभ्यता का उद्देश्य Simple Living and High Thinking साधारण जीवन और उच्च विचार था... उस समय की सभ्यता का लक्ष्य केवल बाहिरी उन्नति पर इतना न था वरन् भीतर की उन्नति पर जिसे आध्यात्मिक उन्नति कहते हैं – हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बिना बाधा पड़े Material बाह्य उन्नति उस समय स्वीकृत थी–इस समय 'मेटेरियल' भौतिक उन्नति पर जोर दिया जाता है जिसका परिणाम देखने में आ रहा है कि हम आध्यात्मिक विषय में दिन–दिन गिरते जाते हैं....।[59]

सर सैयद की भी समस्या लगभग इसी से मिलती–जुलती है। सन् 1857 के बाद अंग्रेजों की नजर में मुसलमानों की विश्वसनीयता बहाल करने के प्रयास करने वाले सर सैयद अहमद खान ने 19वीं सदी के अंतिम तीन दशकों में अपने तईं यह बताने के प्रयास किए थे कि मुसलमानों का हित अंग्रेजों से जुड़े रहने में है। उनके हिसाब से अंग्रेज 'इस्लाम रक्षक सुल्तान' की भूमिका निभा रहे थे। सन् सत्तावन के 'गदर' के बाद उन्होंने अपनी सारी बौद्धिक ऊर्जा इस्लाम धर्म तथा विज्ञान के तनाव को मिटाने पर लगायी। लाहौर की एक मज़लिस में सन् 1884 ई. में उन्होंने कहा था – "हम लोग पहले की भांति (जब इस्लाम ग्रीक–विचारों के निकट संपर्क में आया थ) इस बार भी नए इल्म–ओ–क़लम की जरूरत से दरपेश हैं जिसके सहारे हमें या तो नये विज्ञान के सिद्धांतों का खंडन करना होगा, उसकी नींव हिलानी होगी अथवा साबित करना होगा कि इस विज्ञान के सिद्धांत इस्लामी स्थापनाओं के अनुकूल ही हैं।"[60]

अपनी पुस्तक 'द नेशन एंड इट्स फ्रैग्मेंट्स' में पार्थ चटर्जी ने औपनिवेशिक भारत में 'निजी' और 'सार्वजनिक' के उदय के बारे में एक विचारोत्तेजक प्रस्ताव रखा है। पार्थ चटर्जी का तर्क है कि भारतीय राष्ट्रवाद ने अपना एक स्वायत्त जगत रचकर साम्राज्यवाद से लड़ाई लड़ी और यह स्वायत्त जगत स्वयं औपनिवेशिक समाज के भीतर तैयार हुआ था। आरंभिक राष्ट्रवादियों ने सामाजिक संस्थाओं और आचार–व्यवहार को 'भौतिक' और 'आध्यात्मिक' नाम से दो हिस्सों में बांट लिया था। 'भौतिक जगत' को वे अपने 'आत्म' से बाहर की दुनिया समझते थे। यह अर्थव्यवस्था और राजकाज की दुनिया थी, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की दुनिया और इस दुनिया में 'पश्चिम' का प्रभुत्व था और यह प्रभुत्व उन्होंने स्वीकार कर लिया था। इसके ठीक उलट था वह अंतर्जगत, जिसे इन राष्ट्रवादियों ने 'अध्यात्म' का जगत समझा। यह 'अंतर्जगत' अनिवार्य रूप से धर्म और संस्कृति का जगत् था, सांस्कृतिक पहचान और स्वत्व–बोध का जगत् था। इन दो क्षेत्रों के आपसी द्वैध को आरंभिक राष्ट्रवादियों ने अंतर्जगत्/बर्हिजगत्, निजी/सार्वजनिक, भारतीय/ पश्चिमी, परंपरा/आधुनिकता तथा राजनीतिक/ सांस्कृतिक के द्वन्द्वपरक मुहावरों में देखा–गढ़ा। बर्हिजगत् के तहत अंग्रेजी सभ्यता थी

और उसकी सर्वोच्चता को स्वीकार कर लिया गया। आधुनिकता के आदर्श और उसके सांस्थानिक रूप स्वीकार कर लिए गए। औपनिवेशिक प्रक्रिया में प्रस्थापित सार्वजनिकता के क्षेत्र में 'राष्ट्रवाद' ठीक–ठीक पश्चिमी आधुनिकता की वैचारिक कोटियों को अपनाकर आगे बढ़ा और इस तरह से आधुनिकता की वैचारिक कोटियों की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली गई। राष्ट्रवादी प्रयासों का लक्ष्य यहाँ किसी भारतीय वैचारिक कोटि से पश्चिमी आधुनिकता की वैचारिक कोटि का विरोध करना नहीं था। इस क्षेत्र में तो पश्चिमी आधुनिकता को आत्मसात् करने के प्रयास हुए और इस तरह से सर्वतोभावेन स्वयं को अंग्रेजी राजकाज के लायक साबित करने के प्रयास किए गए। आरंभिक राष्ट्रवादियों ने 'अध्यात्म के अंतर्जगत' में राष्ट्र की स्वायत्तता घोषित की – सांस्कृतिक विशिष्टता का रेखांकन किया। पार्थ चटर्जी के अनुसार अध्यात्म के अंतर्जगत में औपनिवेशिक 'राज' को प्रवेश करने से रोका गया और इसी अंतर्जगत से राष्ट्रवादियों ने नयी राष्ट्रीय संस्कृति की रूपरेखा तैयार की जो 'आधुनिक तो थी लेकिन पश्चिमी नहीं।'[61]

चटर्जी का यह प्रस्ताव हिंदी भाषा में विकसित लोकवृत्त के लिए भी पहली नजर में ठीक जान पड़ता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के बलिया वाले भाषण का एक अंश इसकी पुष्टि करता है – "सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबके पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो! अंगरेजों की धर्मनीति और राजनीति परस्पर मिली हुई है... तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति, समाज–गठन, वैधक आदि भरे हुए हैं...। तिहवार ही तुम्हारी मानो म्युनिसिपालिटी है... उन लोगों ने (ऋषि–मुनियों ने) धर्मनीति और समाज–नीति को दूध पानी की भांति मिला दिया है.... इसका लोगों ने मतलब नहीं समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया... भाईयों, वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरण–कमल का भजन है... ये सब तो समाजधर्म हैं जो देशकाल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं... अब एक बेर आँख खोलकर देख लीजिए कि फलानी बात उन बुद्धिमान ऋषियों ने क्यों बनायी और उनमें देश और काल के जो अनुकूल और उपकारी हो उसको ग्रहण कीजिए, बहुत सी बातें जो समाज–विरुद्ध मानी गई है किंतु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा–विवाह आदि।[62] भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भारतीय राष्ट्रीयता की परिकल्पना 'वैषणवता' के आधार पर की। उनके एक निबंध का शीर्षक ही 'वैष्णवता और भारतवर्ष' है।

चटर्जी ने औपनिवेशिक भारत में 'निजी' और 'सार्वजनिक' का विभाजन भारतीय राष्ट्रवाद की रणनीति को स्पष्ट करने के लिए किया है। नामवर सिंह ने इस बात को दूसरे शब्दों में इस तरह रखा है – "यह बात कम मूल्यवान नहीं कि राजनीतिक मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध पाकर नवजागरण के उन्नायक हाथ पर हाथ धरकर बैठ नहीं गए बल्कि उन्होंने स्वत्व–रक्षा के अन्य मोर्चों पर संघर्ष जारी रखा। यह संघर्ष था – सांस्कृतिक मोर्चे का – सांस्कृतिक मोर्चे पर औपनिवेशिक मानसिकता और दिमागी गुलामी के खिलाफ संघर्ष।"[63] लेकिन, चटर्जी का प्रस्ताव नामवर जी की व्याख्या से तनिक अलग भी है। पार्थ चटर्जी आरंभिक राष्ट्रवादियों द्वारा संस्कृति को दो धरातल में

बाँटा गया बताते हैं। अंतर्जगत् और बहिर्जगत्, घर और बाहर अथवा आध्यात्मिकता बनाम भौतिकता का उनका यह विभाजन पारस्परिक विरुद्ध की रचना करता है; पारस्परिक निषेध को मान्यता देता है। लेकिन, ऐतिहासिक साक्ष्य इससे अलग संकेत देते हैं। यह बात संगत प्रतीत नहीं होती कि आरंभिक राष्ट्रवादियों का 'अंतर्जगत' योरोपीय आधुनिकता के स्पर्श से अछूता रह गया था और उस पर सार्वजनिक समीक्षा की नीर–क्षीर विवेकी आँख पड़ी ही नहीं। नामवर जी इस बिंदु पर पार्थ चटर्जी से अलग रूख अख्तियार करते हैं। उनका मानना है – "हिंदी नवजागरण मुख्यतया 'सांस्कृतिक था और अधिकांश लेखन स्वदेशी संस्कृति के उत्थान को दृष्टि में रखकर किया गया। इस प्रक्रिया में अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत को बचाए रखने के साथ ही संग्रह–त्याग की दृष्टि से उसकी निर्मम समीक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया गया। फिर तो वेद, पुराण, धर्मशास्त्र से लेकर संतो–भक्तों आदि सबको इस समीक्षा की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। आत्म–समीक्षा जितनी पीड़ादायक है उतनी ही जटिल भी। इसलिए, धर्म–तत्व–विचार की प्रक्रिया में नवजागरण कालीन लेखकों के मत और निष्कर्ष भिन्न–भिन्न दिखाई पड़ें तो आश्चर्य न होना चाहिए..."[64] यह ठीक है कि आत्म अर्थात् 'मैं' और 'हम' की कल्पना के बगैर स्वतंत्रता की बात नहीं सोची जा सकती और इसी कारण राष्ट्र के आत्मबोध अर्थात् राष्ट्रीय संस्कृति की कल्पना के बगैर राष्ट्र की आजादी की बात भी अकल्पनीय है। आजाद हमेशा अपने 'अन्य' से हुआ जाता है। पार्थ चटर्जी की यह बात एकदम ठीक है कि योरोपीय आधुनिकता के दावे सबसे ज्यादा भौतिक धरातल पर व्यक्त हो रहे थे और इस कारण आरंभिक राष्ट्रवादियों ने संस्कृति के भौतिक धरातल पर अनुगमन का रास्ता अपनाया। यह अनुगमन इतना गहरा था कि धर्म को भी 'वैज्ञानिक' घोषित किया गया। यह सही है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विकसित भारतीय राष्ट्रीयता 'धर्म' को अपना आधार बनाती है, परंतु वह इकहरी संरचना नहीं है। 'धर्म' का 'अंतर्जगत' सार्वजनिक समीक्षा से गुजरता है और राष्ट्रीय संस्कृति के परस्पर विरोधी कई आख्यान तैयार होते हैं। 'आर्य धर्म' और वेद–उपनिषद्' को आधार बनाकर अगर राष्ट्रीय संस्कृति का एक आख्यान तैयार किया जाता है तो वैष्णवता और भक्ति को आधार मानकर दूसरा। हिंदी क्षेत्र में एक के प्रतिनिधि स्वामी दयानंद हैं तो दूसरे के भारतेंदु हरिश्चंद्र। आगे चलकर यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि 'आर्य धर्म' और 'वेद' को भारतीय राष्ट्रीयता का आधार मानने वाला आख्यान एक 'तर्कबुद्धिमूलक' धर्म की रचना करता है और वह कहीं गहरे में घनघोर रूप से उपनिवेशीकृत है, जबकि 'वैष्णवता' को आधार मानने वाला राष्ट्रवादी आख्यान अपनी परंपरा के मुताबिक सर्वसमावेशी है और उसमें 'युक्ति' को 'हरि' से अलग करके देखने की क्षमता है; वह 'धर्म' को हृदय की वृत्ति और विज्ञान को 'समाजधर्म' का हिस्सा मानकर चल सकता है – दरअसल भारतीय धर्मनिरपेक्षता (जो सर्वधर्म सम्भाव पर टिकी है) की पूर्वपीठिका वैष्णवता पर आधारित राष्ट्रवाद है न कि वेदाधारित राष्ट्रवाद। भारतेंदु कह सकते थे कि "युक्ति सों हरि को का संबंध' और बालकृष्ण भट्ट घोषित कर सकते थे कि 'तर्क और

विश्वास में सेवक–स्वामी का सा संबंध है', लेकिन 'विश्वास और तर्क दोनों एक दूसरे के इतना विरुद्ध हैं कि तर्क विश्वास के लिए कुलाढ़ा है। विश्वास को जब तक चित्त में स्थान न दोगे तर्क की शृंखला कभी टूटेगी ही नहीं। 'वेद–उपनिषद्' और 'आर्यधर्म' को मॉडल मानने वाला राष्ट्रवाद तर्क और विश्वास का जरूरी अंतर नहीं कर पाता। वह 'बुद्धि' के एकदेशीय फलक पर मानव अस्तित्व के हर भाव को उपनिवेशीकृत करने वाला आख्यान है – योरोपीय आधुनिकता के आत्मसातीकरण का एक अचूक उदाहरण, जबकि 'वैष्णवता' को आधार मानने वाला राष्ट्रवादी आख्यान 'तर्क' को समाजनीति–राजनीति और 'विश्वास' को 'धर्म' का आधार बनाने के कारण योरोपीय आधुनिकता के 'एकवचन' में भारतीयता के 'बहुवचन' का प्रस्ताव कर दिखाता है।

यहाँ यह सवाल लाजिमी है कि आखिर धर्म और संस्कृति ही सामाजिक समीक्षा का अंग क्यों बनते हैं। हिंदी भाषा का लोकवृत्त राष्ट्रीय संस्कृति की नींव धर्म को क्यों बनाता है? दरअसल, भारत में अंग्रेजी राज ने अपना औचित्य 'सभ्यता' के तर्क से सिद्ध करना चाहता था। भारतीय समाज के बुनियादी तत्वों की परिभाषा करने के क्रम में 'राज' ने भारत के वर्तमान को उसके अतीत के संदर्भ में रचना चाहा था और यह 'अतीत' भी 'राज' की आकांक्षाओं के अनुकूल गढ़ा हुआ अतीत था। जोन्स अगर 'प्राचीन भारत' को हिंदू भारत का प्रतिनिधि मानकर उसी की तर्ज पर कानूनों की संहिता तैयार कर रहे थे तो जेम्स मिल इसी 'मॉडल' को अनुपयुक्त बता रहे थे। दोनों के बीच साझापन इस बात में था कि भारतीयों की तत्कालीन दशा ऐसी नहीं कि वे स्वशासन के काबिल माने जायें। अंग्रेजों के लिए यही बताना पर्याप्त साबित न हुआ कि वे अपने आगमन से पहले तक के भारत की व्याख्या 'पतन' की अटूट कथा के रूप में करें अथवा यही बताकर रह रह जायें कि भारत जब किसी मजबूत आक्रांता के अधीन नहीं रहा तब यहाँ 'अराजकता' का तांडव रहा। प्राचीनता के वैभव से मोहित विक्टोरियाई प्रवृत्ति के अनुकूल उन्होंने न सिर्फ भारतीय इतिहास की पुनर्व्याख्या की, बल्कि उसे एक सुसंगत आख्यान के रूप में भी प्रस्तुत किया।

यह आख्यान प्राचीन काल से लेकर स्वयं अंग्रेजों के भारत आगमन तक 'भाषा, दर्शन, धर्म, वास्तुशिल्प और साहित्य में पसरा हुआ था। धर्म को यह आख्यान एक धुरी की तरह इस्तेमाल करता था, भाषा और लिपि में बद्ध धर्म को ही दर्शन, साहित्य और कला की विविध अभिव्यक्तियों का आधार माना गया। इस आख्यान में भारतीय 'सभ्यता' और 'बर्बरता' के बीच कही, लटके हुए लोग थे। औचित्य–निरूपण की इस कारगुजारी में अंग्रेजी शासन ने एक 'स्थायी' और 'सुरक्षित' भारतीय इतिहास गढ़ा। वे 'आक्रांता' थे, लेकिन अपने को भारत का 'स्वाभाविक शासक' सिद्ध करना चाहते थे। इतिहास इसका औजार बना। कहना न होगा कि इस पाठाधारित इतिहास का जोर धर्म पर था और इस इतिहास को गढ़ने वाले अपनी 'प्रबोधिनी' वैज्ञानिकता के दंभ में किसी भी सभ्यता को अपने से अलग और हीन साबित करने के लिए, उसे सिर्फ तर्कबुद्धिहीन धर्म पर आधारित ही बता सकते थे। जोन्स अगर आर्य धर्म के आरंभिक और विशुद्ध रूप की

खोज कर, भारत में 'निजी संपदा' और उससे जुड़े अधिकार को प्रोन्नत करने में उसका इस्तेमाल करना चाहते थे तो जेम्स मिल अपनी उपयोगितावादी वैज्ञानिक तुला पर इस 'धर्म' को भी बर्बर सिद्ध कर रहे थे। जेम्स मिल इस 'धर्म' का सुधार वैज्ञानिक कानूनों से करना चाहते थे। विलियम बेंटिक के जमाने के सुधार इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल यह 'सुधार' शिक्षा के माध्यम से करना चाहते थे और थॉमस बैबिंग्टन मैकाले इस सुधार–यज्ञ के प्रधान पुरोहित बने।

कानूनों के जरिए शासितों के 'सार्वजनिक' और 'निजी' को सुपरिभाषित किया गया। इतिहासकार डी.ए. वाशब्रुक ने विधि के माध्यम से गढ़े गए इस 'निजी' और 'सार्वजनिक' के अंतर्विरोध को बड़े सटीक ढंग से चिह्नित किया है। उनके अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी ने पूर्व–औपनिवेशिक राजसत्ता के ढाँचे के भीतर शासन की जिम्मेदारियों के तहत राज्य–संचालन का अपना तरीका विकसित किया और कुछ 'नए सिद्धांत अपनाए'। सन् 1793 की स्थायी बंदोबस्ती में इन सिद्धांतों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। इन सिद्धांतों का संबंध विधि के शासन और निजी संपदा के अधिकार से था। यहीं से एंग्लो इंडियन विधि–व्यवस्था की बुनियाद पड़ी। इस विधि–व्यवस्था में न्यायपालिका स्वतंत्र थी और कार्यपालिका पर अंकुश रख सकती थी। कानून ने प्रजा के व्यक्तिगत अधिकारों की व्याख्या की और उसे हरेक के (जिसमें 'कंपनी' भी शामिल है) हस्तक्षेप से सुरक्षित बनाया। विधि द्वारा परिभाषित 'प्रजा' को अपने स्वामित्व की हर चीज के उपभोग का अधिकार मिला और किसी के अवांछित हस्तक्षेप से सुरक्षा की गारंटी भी। संपदाधारी प्रजा के बीच आर्थिक संबंधों की रहनुमाई के लिए 'विधि' ने 'विधान' निश्चित किए – खरीद–बिक्री, कर्ज और सेवा के नये नियम बने। इस तरह, अनुबंध (लिखित) ने 'करार' और 'वायदे' (मौखिक) की जगह ली। पूर्व–आधुनिक 'हैसियत' आधुनिक 'व्यक्तित्व' में तब्दील हुई। वाशब्रुक के अनुसार 'यह व्यक्ति को राज्य के चुंगल से छुड़ाकर और उसे बाजार के माध्यम से निजी संपदा और धन अर्जित करने के लिए बढ़ावा देकर बंगाल के व्यवसाय और आर्थिक–विकास को प्रोन्नत करने की योजना थी। इस योजना पर हर हाल में हर कुछ हासिल करने वाले व्यक्तिवाद की मुहर थी। इसे कारअमल करने के लिए राज्य के राजस्व वसूली के अधिकार को सीमित किया गया, जमीन के स्वामित्व और उससे राजस्व–उगाही करने के अधिकार के बीच अंतर स्थापित किया गया और राज्य को सिर्फ विधि–व्यवस्था के संरक्षक का दर्जा मिला। स्थायी बंदोबस्ती का सपना एक ऐसे समाज का था जो हर चीज के मुक्त बाजार से समृद्ध हो।..."[65]

लेकिन 'सार्वजनिक' कानूनों के इस विकास के समानांतर ही 'पर्सनल लॉ' भी विकसित हुए। ये कानून सार्वजनिक जीवन में स्थापित मूल्यों के ठीक विपरीत 'मूल्यों' को मान्यता देते थे। अगर सार्वजनिक कानून का उद्देश्य था बाजार में व्यक्ति की स्वतंत्रता को बढ़ाना और सुरक्षा प्रदान करना तो 'पर्सनल लॉ' का तर्क था कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता पर अंकुश रखे और अपने समुदाय द्वारा परिभाषित नैतिक–धार्मिक

दायित्वों का पालन करे, और इसके लिए मौजूदा प्रथाओं और धार्मिक–नियमों की 'खोज' की गई। इसका उद्देश्य था समाज को उसी संरचना में रखना जिसमें औपनिवेशिक सत्ता ने उसे 'खोजा' था और वर्तमान की नैतिक–समस्याओं को सीधे–सीधे अतीत से उठाए गए प्रतिमानों पर गढ़ना – "आरंभ में अदालत ने सामाजिक मामलों में दिशानिर्देश के लिए धर्मग्रंथों को आधार बनाया और हिंदू कानून की व्याख्या के लिए पूरी तरह 'पंडितों' पर निर्भर रही। ये व्याख्याएँ समाज को ब्राह्मणवादी वर्चस्व के नजरिए से परिभाषित करती थीं और यह नजरिया सामाजिक संरचना को 'सदा–शाश्वत' धार्मिक नियमों का प्रतिरूप समझता था। ऐसे में 'पर्सनल लॉ' ने समाज व्यवस्था की वर्णाश्रमी व्यवस्था और जाति–विभाजन को चिह्नित किया और मान्यता दी। इसने परिवार को धार्मिक आधार पर बनी इकाई माना और इसी के अनुकूल इसके भीतर संबंधों को पहचाना। अंग्रेजी सत्ता की मदद से यह 'हिंदू लॉ' समाज के उन हिस्सों पर भी आयद हुआ जिनकी सामाजिक प्रथाओं का कोई लिखित दस्तावेज नहीं था..." निष्कर्षतः "अपनी शुरुआत से ही एग्लो इंडियन विधि–व्यवस्था दुचित्ती थी। इसकी बुनियाद में दो विरोधी सिद्धांत थे और उनकी सामाजिक परिणतियाँ अलग–अलग थीं। यदि कानून के 'सार्वजनिक' वाले हिस्से ने 'हैसियत' पर आधारित भारतीय शासन को 'अनुबंध' पर आधारित ब्रिटिश शासन में बदलना चाहा था और व्यक्ति को बाजार के नैतिकेतर संबंध–जगत में मुक्त करना चाहा तो कानून के 'पर्सनल' वाले हिस्से ने जाति, धर्म और कुल–गोत्र अर्थात् 'हैसियत' को व्यक्तिगत अधिकार का आधार स्वीकार किया।..."[66]

उर्दू और हिंदी भाषा में विकसित लोकवृत्त का आधार विधि–व्यवस्था है। वही 'निजी' और 'सार्वजनिक' को गढ़ती है। 'धर्म' इसमें धुरी के रूप में स्वीकार किया जाता है। कहना न होगा कि ठीक इसी कारण हिंदी–उर्दू भाषा का लोकवृत्त धर्म और संस्कृति के मुद्दे पर सक्रिय होता है और अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संस्कृति के आख्यान तैयार करता है... इसी आख्यान में उस समय के मध्यवर्ग का आत्मबोध तैयार होता है।

राज्य और शिक्षा

उदारवाद के 'सभ्यतागत' दावे अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से 'देसी बाबुओं' के बीच पहुँचे थे। यहाँ 'अंग्रेजी शिक्षा' शब्द से आशय अंग्रेजी भाषा में दी गई शिक्षा से भी है और देसी भाषाओं में अनूदित विद्यालयी पाठ्यक्रम के तहत पढ़ाई जाने वाली सामग्री, यानी इस शिक्षा की अंतर्वस्तु से भी। औपनिवेशिक शिक्षा नीति ने अंग्रेजी शासन के सभ्यतागत दावों की श्रेष्ठता को साबित करने लायक विचारधारात्मक आधार तैयार करने में निर्णायक भूमिका निभाई। इस शिक्षा नीति का उद्देश्य था 'प्रजा जन' के चिंतन के तरीकों को बदलना और राज्य सत्ता से व्यवहार–बरताव के तौर–तरीकों को सिखाना। इसके तहत भारतीय समाज के सांस्कृतिक–राजनीतिक मान–मूल्यों को बदलने के

प्रयास हुए। इन प्रयासों को संस्थागत स्तर पर भी देखा जा सकता है और विचारधारात्मक रूप में भी।

शिक्षा के क्षेत्र में औपनिवेशिक प्रभाव का अध्ययन करते हुए अमूमन सन् 1820 और 1830 के दशक में शिक्षा के माध्यम को लेकर हुई बहस (शिक्षा का माध्यम देसी भाषा हो या अंग्रेजी) की परीक्षा की जाती रही है। इस बहस के परिणामस्वरूप पौर्वात्यवादियों का यह दावा खारिज हो गया कि शिक्षा देसी भाषा और देसी ज्ञान की दी जाय। सन् 1835 ई. में अंग्रेजी को उच्चतर शिक्षा की एकमात्र भाषा के रूप में स्वीकार किया गया। यह 'शिक्षा' भारत की पुरानी समाज–रचना में मौजूद शिक्षा से भिन्न थी। अंग्रेजों की नजर में भारतीय समाज अगर अव्यवस्था का प्रतीक था तो अंग्रेजी शिक्षा इस समाज को विधि–आधारित समाज–व्यवस्था में बुद्धिजन्य संरचना अर्थात् एक सांगठनिक चरित्र प्रदान करने आयी थी।

यह बात सन् 1835 ई. के पहले कंपनी ने शिक्षा की दिशा में जो प्रयास किये थे, उससे भी पहचानी जा सकती है। मिसाल के तौर पर, बर्नाड कोहन ने 18वीं सदी के अंतिम दशकों में कलकत्ता और बनारस में स्थापित कॉलेजों की संरचना के बारे में लिखा है :

"अंग्रेजों ने शिक्षा को 'संस्थान' में घटित होने वाली परिघटना माना। इसका मतलब था एक इमारत जो स्वयं कई खाँचों में बँटी हो, और एक 'कक्ष' के विद्यार्थियों को दूसरी कक्षा के विद्यार्थियों से अलग करती हो; साथ ही शिक्षक को विद्यार्थियों से अलगाती हो। ज्ञान की सुनिश्चित राशि को विद्यार्थी ने कहाँ तक हस्तगत किया है इसको मापने के लिए नियमित अंतराल में इम्तहान लेना पड़ता था। इस प्रक्रिया का अंत होता था पारितोषिक वितरण और छात्र को प्रमाणपत्र देने से, जो इस बात को अभिप्रमाणित करता था कि छात्र ने एक खास ज्ञानराशि अर्जित कर ली है।[67]

यह बात सही है कि कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कॉलेज देसी ज्ञान को बढ़ावा देने के लिए बनाये गये थे; लेकिन यह भी सही है कि इस 'ज्ञान' को विदेशी तर्ज पर संगठित किया गया था, क्योंकि इनको प्रदान करने का सांस्कृतिक ढाँचा बदल चुका था। अगर पहले की शिक्षा 'मौखिक' थी तो अब 'पाठ' पर आधारित हो गई; अगर पहले की शिक्षा में गुरु और शिष्य के आपसी संबंध 'हैसियत' से तय होते थे तो अब 'अनुबंध' से; अगर पहले की शिक्षा में विद्यार्थी के ज्ञान का परिचय स्वयं पंडितगण के बीच शास्त्रार्थ की क्षमता से मिलता था तो अब उसके पास सार्वजनिक तौर पर स्वीकृत एक प्रमाणपत्र था। यहाँ सबसे बड़ी बात यह होती है कि 'आधिकारिक' और सामाजिक उत्पादन में 'उपयोगी' ज्ञान का निर्णयकर्त्ता स्वयं 'राज्य' बन जाता है। पुराने तर्ज की

शिक्षा–व्यवस्था की एक झलक 'प्रेमघन' जी के 'जीर्ण–जनपद' में मिलती है। वे लिखते हैं :

यही ठौर पर हुतो हाय वह मक़तब ख़ाना।
पढ़न फ़ारसी विद्या शिशुगन हेतु ठिकाना।।

इस मक़तबखाने के 'सत्तर बरस' के 'मौलवी साहब' –

प्रथम नसीहत करत अदब की बात बतावत।
हम सबकी बेअदबी की कहि बात लजावत।।

इस मक़तबखाने में 'बूढ़े पंडित' का भी प्रवेश है और दोनों –

जनु लोमस ऋषि अरु बाबा आदम की जोरी।
सतजुग की बातन की मानहु खोले झोरी।।
छन्द–प्रबंध दोऊ निज–निज भाषा के कहि–कहि
ऊबि–ऊबि कै लेत उसासहि दोऊ रहि–रहि।।"[68]

'प्रेमघन' जी यहाँ जिस शिक्षा की तरफ संकेत कर रहे हैं उसमें विद्यार्थियों के बीच 'किताब' का जिक्र आता है जरूर, लेकिन तब भी यह व्यवस्था 'सबक' को याद रखने पर जोर देने वाली है। कोहन का इशारा एक बड़े बदलाव की तरफ है जब शिक्षा व्यवस्था में 'नियमितता, एकरूपता और .... वित्तीय प्रबंधन के ब्रिटिश अधितर्क' का प्रवेश होता है।

सन् 1854 ई. तक कंपनी राज द्वारा 1835 ई. में अपनायी गई नीति असफल साबित हो चुकी थी। 1835 ई. में 'कंपनी' का ख्याल था कि कुछेक पढ़े–लिखे तैयार हो जायें तो ये अपने–अपने समुदाय को शिक्षित करने के प्रयास करेंगे। सर चार्ल्सवुड के 'एजुकेशन डिस्पैच' के आधार पर इसी कारण एक समग्र शिक्षा–व्यवस्था अपनाने की बात सोची गई और प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा–व्यवस्था का ताना–बाना बुना गया। इस 'डिस्पैच' में निजी संगठनों को साथ लेकर 'अनुदान' के सहारे शिक्षा–प्रणाली के विस्तार की बात सुझायी गई थी। इस पद्धति ने एक बड़ी शैक्षणिक नौकरशाही को जन्म दिया। शिक्षा संस्थानों के कामकाज की निगरानी, अनुदान की संस्तुति और उसके आवेदनों पर विचार, पाठ्यपुस्तकों की तैयारी और परीक्षण आदि के काम ने शिक्षा के क्षेत्र में एक विशाल नौकरशाही को जन्म दिया। सर सैयद और राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद जैसे 'समुदाय–नेता' इस नौकरशाही से जुड़े थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपना 'स्कूल' और आर्य समाज ने अपने विद्यालयों की संरचना चार्ल्सवुंड के 'डिस्पैच' में सुझायी गई नीति के आधार पर ही स्थापित की।

बहरहाल, शिक्षा–व्यवस्था का यह संस्थागत बदलाव अंग्रेजी–राज द्वारा अपनाये गये सभ्यतागत सुधार का ही हिस्सा था। मिसाल के लिए पौर्वात्यवादियों की

शिक्षाविषयक धारणा के अंतर्गत 'कलकत्ता मदरसा' और 'हिंदू कालेज' खोले गए थे। वारेन हेस्टिंग्स के समय स्थापित इन संस्थानों का उद्देश्य स्वयं हेस्टिंग्स के शब्दों में ही यह था कि 'हमारे द्वारा उनके साहित्य को बढ़ावा देने से हमारे बारे में देसी लोगों के मन पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।' लेकिन जेम्स मिल इस स्थिति से संतुष्ट नहीं थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए 'एक्जामिनर ऑफ कॉरेसपॉडेंस' के पद पर काम करते हुए उन्होंने पौर्वात्यवादियों की शिक्षाविषयक अवधारणा को गलत और अनुपयोगी साबित करने के भरपूर प्रयास किये। 18 फरवरी सन् 1824 को गवर्नर जेनरल (बंगाल) को भेजे एक डिस्पैच में उन्होंने 'कलकत्ता मदरसा' और 'हिंदू कॉलेज' की दशा पर ध्यान दिलाते हुए आरोप लगाया था कि 'सरकार' अपने उद्देश्य – 'उपयोगी शिक्षा' – को बढ़ावा देने में असफल हो रही है। मिल का सवाल था कि पूरब का साहित्य क्या इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिए कॉलेज खोले जाएँ क्योंकि "साहित्य–संवर्द्धन के लिए कॉलेज नहीं खोले जाते और न ही इससे यह सुनिश्चित होता है कि उपयोगिता के लक्ष्य को प्राप्त करने में यह (साहित्य) प्रभावकारी है।"[69] मिल के इस 'डिस्पैच' में 'कंपनी सरकार' के लिए आदेश था कि वह 'उपयोगी ज्ञान' के प्रसार के लिए हरसंभव प्रयास करे और पौर्वात्यवादी शिक्षा की भ्रांत धारणा को तुरंत त्याग दे।

अंग्रेजी शिक्षा का भारत में प्रवेश सन् 1813 ई. में पारित चार्टर एक्ट के जरिए हुआ था। इस 'एक्ट' के तहत कंपनी के अधिकारों को अगले 20 सालों तक के लिए अनुमोदित किया गया। इस 'एक्ट' के कारण कंपनी ने 'देसी प्रजा' की शिक्षा की दिशा में कदम बढ़ाए और मिशनरी गतिविधियों के लिए भी छूट मिल गई। इस एक्ट में एक जगह कहा गया था कि 'कम से कम एक लाख रुपये सालाना साहित्य (अरबी, फारसी, संस्कृत) के पुनरुत्थान और सुधार तथा शिक्षित देसी जनों को बढ़ावा देने के लिए खर्च किए जाएँगे।'[70] इस बात पर पौर्वात्यवादियों का प्रभाव था जो हिंदुस्तान की शास्त्रीय भाषा और साहित्य को सभ्यता का एक प्रतिमान मानते थे। इस 'एक्ट' के लगभग 20 सालों बाद मैकाले ने इस पर टिप्पणी देते हुए कहा था –

"तर्क दिया जाता है, बल्कि एकदम तयशुदा मान लिया जाता है कि साहित्य का मतलब वही जो संस्कृत और अरबी में रचा गया है। यह संसद (ब्रिटिश) 'शिक्षित देसी' का सम्मानसूचक तमगा उस देसी प्रजा को कभी नहीं देना चाहती जो मिल्टन की कविता, लॉक की तत्वमीमांसा और न्यूटन की भौतिकी से परिचित हो; संसद इस शब्द (शिक्षित देसी) से उसी व्यक्ति को पुकारना चाहती है जिसने हिंदुओं के धर्मग्रंथ पढ़े हों, कुश (एक तरह की घास) आदि के इस्तेमाल के बारे में जानता हो और ब्रह्म में विलीन होने की समस्त रहस्य–साधनाओं में निष्णात हो।"[71]

स्पष्ट ही, मैकाले का यह कथन मिल्टन, लॉक और न्यूटन के हवाले से जिस ज्ञानराशि को 'धर्मग्रंथ' के ऊपर आधारित ज्ञानराशि से श्रेष्ठ बता रहा है, वह अनिवार्य रूप से एक सभ्यतागत अंतर की कल्पना करता है। मैकाले 'शिक्षा' के बारे में इस

निष्कर्ष तक कैसे पहुँचे थे इसकी जानकारी के लिए ब्रिटिश राज की शिक्षा नीति को प्रभावित करने वाली कुछेक बातों का ऐतिहासिक जायजा लेना यहाँ उचित होगा।

18वीं सदी के अंतिम तीन–चार दशकों में औद्योगिक समाज की जरूरतों और सामाजिक बदलावों के मद्देनजर इंग्लैंड में राजनीतिक सिद्धांतों का जोर इस पर था कि 'राज्य' शिक्षा में हस्तक्षेप करे। यह इंग्लैंड में सार्वजनिक स्तर पर शिक्षा की शुरुआत का समय है। समाज सुधार के उद्देश्य से बनी रिफार्म–सोसायटियों और स्वयंसेवी संगठनों ने शिक्षा की दिशा में प्रयास तेज कर दिए थे और राज्य पर इनका दबाव बढ़ने लगा था। इंग्लैंड में यह वक्त **कैपहम सेक्ट, द सोसायटी फॉर बेटरिंग द कंडीशन ऑफ द पुअर** तथा **द सोसायटी फॉर द रिफार्मेशन ऑफ मैनर्स** की स्थापना का समय है। इसी वक्त दास–प्रथा के विरोध में आंदोलन होता है और कारखानों के मजदूरों की बाबत सुधार प्रस्तावित किए जाते हैं।

मानवतावादी रुझानों वाला कैपहम सेक्ट सन् 1780 और 1790 के दशक में विशेष रूप से सक्रिय था। इसने 'सुधर्मवाद' को सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठित किया और इसे समाज के विभिन्न तबकों तक शिक्षा के जरिए पहुँचाने का काम किया था। इसका उद्देश्य ही था 'बाइबिल का ज्ञान फैलाना, आचरण को सुधारना, गुलामों की मुक्ति के लिए प्रयास करना और पापात्माओं को त्राण देना।[72] इसके सदस्यों में विलियम बिल्बरफोर्स, चार्ल्स ग्रांट, जॉन शोर और ज़कारी मैकाले शामिल थे। बिल्बरफोर्स ब्रिटिश संसद के सदस्य थे। चार्ल्स ग्रांट ईस्ट इंडिया कंपनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में शामिल थे। वे ब्रिटिश संसद के सदस्य और मिशनरी भी थे। जॉन शोर 1793 से 1798 तक भारत के गवर्नर जेनरल रहे और जकारी मैकाले थॉमस मैकाले के पिता थे। बिल्बरफोर्स के ही भाषण ने 1813 ई. के कंपनी के चार्टर में मिशनरियों को भारत में शिक्षा देने की अनुमति दिलायी थी। थॉमस मैकाले कंपनी की शिक्षा नीति के एक तरह से अगुआ ही साबित हुए और चार्ल्स ग्रांट ने भारत में कंपनी की शिक्षा–नीति में 'चरित्र–निर्माण' को एक जरूरी तत्व बनवाया।

कैपहम सेक्ट का जोर इस बात पर था कि शिक्षा एक अनुशासित, शालीन व्यक्ति का निर्माण करने वाली होनी चाहिए ताकि व्यक्ति अपराध करने से बचा रहे। कंपनी की शिक्षा नीति में यह भाव आद्योपांत विद्यमान रहा। सन् 1765 ई. के बाद 'कंपनी' एक राजनीतिक शक्ति बनी और उसने अपने कामकाज के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति तैयार करने तथा उनका विश्वास हासिल करने के लिए एक सीमा तक शिक्षा पर जोर दिया था। सन् 1793 ई. में विल्बरफोर्स और चार्ल्स ग्रांट ने भारत में 'मिशनरी शिक्षा' के लिए एक प्रस्ताव रखा। उस वक्त यह प्रस्ताव पारित न हो सका। कंपनी व्यापार पर आमादा थी, 'सुधार' का खतरा मोलना उसे नहीं जँचा। सन् 1813 में उनका प्रस्ताव पारित हो गया। इस बार ग्रांट के साथ संसद और कंपनी दोनों का समर्थन था।

सन् 1792 में ग्रांट ने एक पुस्तिका लिखी थी। इसमें उन्होंने भारतीय जनता को अंग्रेजी में धार्मिक शिक्षा देने की पुरजोर वकालत करते हुए लिखा था – 'अंधेरे का सच्चा निदान है प्रकाश। हिंदू अज्ञानी हैं और इसी कारण गलती करते हैं और कभी भी उनकी गलतियों को उनके आगे साफ–साफ रखा नहीं गया। हमारे प्रकाश और ज्ञान का उनके बीच संचार हो तो यह उनकी अज्ञानता का सबसे अच्छा उपचार साबित होगा और इस उपचार पर पूरे विश्वास के साथ अमल किया जाना चाहिए। क्योंकि पूरी ईमानदारी और धीरज के साथ इस पर अमल किया गया तो इसका उन पर बड़ा खुशगवार असर होगा जो हमारे लिए प्रतिष्ठा के साथ–साथ साहसिकता की भी बात होगी... इस संचार को संभव बनाने के दो तरीके हैं : एक तो यही कि उस देश की भाषा को इसका माध्यम बनाया जाय और दूसरा तरीका है कि हम अपनी भाषा को माध्यम बनायें। विजेता की भाषा को माध्यम बनाना, स्पष्ट ही है कि विजितों को अपने में शामिल करने का सबसे बेहतर तरीका है...।[73]

मिशनरियों के शिक्षा कार्य के पीछे चार्ल्स ग्रांट की यही मनोभावना काम कर रही थी और यह हिंदी लोकवृत्त में सक्रिय पात्रों के मनोभावों को गढ़ने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण साबित हुई। मिसाल के तौर पर बालकृष्ण भट्ट को ही देखें। भट्ट जी की शिक्षा 'मिशन–स्कूल' में हुई थी। उनके सहपाठियों में एक गंगाराम चौबे भी थे – "स्कूल का मास्टर पादरी डेविड साहब जो इन दोनों को अंग्रेजी पढ़ाता था, प्रायः छात्रवृत्ति और पुस्तकें इन दोनों को इनाम के तौर पर दिया करता था। पादरी डेविड की हार्दिक इच्छा थी कि ये दोनों ईसाई हो जायें क्योंकि मजहब का प्रचार करना ही उसका उद्देश्य था... अंत में पं. गंगाराम पर ईसाई डेविड का गहरा प्रभाव पड़ा... पंडित गंगाराम 'रेवरेंड गंगाराम' हो गये...।" इन्हीं पादरी डेविड साहब के सहयोग से भट्ट जी को कुछ दिन के लिए 'मिशन स्कूल' में प्राध्यापकी मिली थी – "पादरी डेविड का यह उनके ऊपर अंतिम अस्त्र था, फिर भी पं. बालकृष्ण भट्ट पर ईसाईपन का कोई रंग न चढ़ा। यह देखकर सभी ईसाई उनसे जलने लगे और नित्य वाद–विवाद अत्यधिक उग्र और तीखे होते गए... पादरी डेविड... मिशन स्कूल की हालत खराब होने के कारण काशी चला गया तो भट्ट जी के विरुद्ध और भी षड्यंत्र चलने लगे। इन्हीं सब कारणें से आप सन् 1874–75 में नौकरी छोड़कर घर बैठे रहे...।" लेकिन, बात सिर्फ नौकरी और आर्थिक कठिनाई भर की नहीं थी। बात उस चित्त की थी, जो कहीं गहरे में घायल हुआ था और भौतिक जगत की अपनी इस हार को धर्म–जगत में अपनी जीत के रूप में दर्ज करना चाहता था– "जब भट्ट जी गया करने 'गया जी' गये तो एक रात उन्होंने स्वप्न में देखा (उस समय पादरी मर चुका था) कि पादरी डेविड सामने तिलक लगाए, पीताम्बर पहने खड़ा है और कह रहा है – I have convertal to Hinduism अर्थात् मैं ईसाई से हिंदू हो गया हूँ। आप तुरंत जाग पड़े। दूसरे दिन विष्णुपद और पितरों के साथ डेविड पादरी का भी पिण्डदान किया और जहाँ–जहाँ

पिण्डदान देना होता है, सबके साथ सब स्थानों में उक्त पादरी साहब को भी पिण्डदान देते रहे...।"

लगभग यही स्थिति गंगाराम की थी – "ईसाई हो जाने पर रेवरेंड गंगाराम अपने बाल–बच्चों को लेकर भट्ट जी से मिलने आते तो भट्ट जी से कहते कि अब भी स्नान करने के पश्चात् मेरे मुख से गायत्री का मंत्र निकल पड़ता है, इस बुरी आदत को बड़ी कठिनता से छुड़ा पाया हूँ। उक्त गंगाराम चौबे ने अपनी इच्छा फिर हिंदू होने की प्रकट की थी...।"[74]

मिशनरी ग्रांट बतौर उपचार 'अंग्रेजी' की दवा सुझा रहे थे जो भारतीयों को 'तर्कबुद्धि की राह' पर ले जाएगी और भारतीय अपने 'इतिहास की परीक्षा' कर पायेंगे और इससे उनका 'कृषि–कौशल, शिल्प–कौशल तथा वाणिज्य कौशल' सुधरेगा तथा वे ईसाई–धर्म के सिद्धांतों को सीखेंगे।[75] मिशनरियों से अलग कंपनी सरकार भी अपनी शिक्षा योजना में लगभग यही बात मानकर चल रही थी। सन् 1828 से 1835 तक गवर्नर जेनरल रहे लार्ड बेंटिक ने 18वीं सदी के अंत में इंग्लैंड में उठे सामाजिक धार्मिक ज्वार का ही भारत में प्रतिनिधित्व किया।, कैपहम, मेथोडिस्ट और क्वेकर संप्रदाय के लोग कंपनी की धार्मिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति से खफा थे। उनका तर्क था कि कंपनी के अधिकारी नैतिकता के धरातल पर हीन और मूर्तिपूजकों के समर्थक–संरक्षक हैं। उच्चतर सभ्यता और तर्कबुद्धिसंपन्न धर्म के भाव से भरे बेंटिक ने सती–प्रथा, कन्या–शिशु–हत्या, मानव–बलि तथा ठगी पर कानूनी प्रतिबंध लगाये जो उनके हिसाब से हिंदू धर्म की पतनशीलता के सूचक थे। बेंटिक के आदेश से ही अंग्रेजी भारत में शिक्षा का माध्यम स्वीकृत हुई और उच्चतर कक्षाओं में उसे 'पश्चिमी ज्ञान' का माध्यम बनाया गया।

बेंटिक उपयोगितावादी सिद्धांतों के दृढ़ विश्वासी थे और उन्होंने भारत आने के अवसर पर दिए गए एक भोज में (सन् 1827 के दिसंबर में) जेम्स मिल से कहा था – "मैं ब्रिटिश इंडिया में जा रहा हूँ लेकिन गवर्नर जेनरल मैं नहीं रहूँगा। गवर्नर जेनरल तो आप होंगे।"[76] बेंटिक का इशारा जेम्स मिल के 'भारतीय इतिहास' की व्याख्या और उसके विधिक उपचार की तरफ था। बेंटिक ने अपने काउंसिल के 'लॉ मेम्बर' के रूप में थॉमस मैकाले के भारत पहुँचते ही उन्हें 'पब्लिक इंस्ट्रक्शन' (शिक्षा विभाग) का अध्यक्ष नियुक्त किया। मैकाले ने बैंटिक के सुझावों पर शिक्षा से संबंधित अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव 2 फरवरी 1835 को तैयार किया। पौर्वात्यवादियों की भारतविषयक दृष्टि की आलोचना और उपयोगितावादी पश्चिमी ज्ञान की वकालत करते हुए इसमें कहा गया था–

"पूरबी जबान में दक्ष सुशिक्षित व्यक्तियों से मैंने यहाँ और अपने वतन में बातचीत की है। मैं पौर्वात्यवादी शिक्षा को स्वयं पौर्वात्यवादियों के ही मूल्यांकन के आधार पर जाँचने के लिए तैयार हूँ। उनमें मुझे एक भी ऐसा न मिला जो इस बात को

खारिज कर सके कि किसी अच्छी योरोपीय लाइब्रेरी का एक 'शेल्फ' भारत और अरब के समूचे देसी 'साहित्य' पर भारी न पड़ता हो...। हमारी अपनी भाषा के दावे को दुहराने की शायद ही जरूरत हो। यह पश्चिम की भाषाओं में अति महत्त्वपूर्ण है... देसी लोगों में आम तौर पर बोली जाने वाली भाषाएँ न तो साहित्यिक हैं और न ही उनमें वैज्ञानिक जानकारी है... ये भाषाएँ इतनी दरिद्र और गँवार हैं कि जब तक किसी अन्य रीति से उनका संस्कार न किया जाय, उनमें किसी भी मूल्यवान कृति का अनुवाद नहीं किया जा सकता....।"

अंग्रेजी–शिक्षा को लेकर भारतीयों के मन में विद्यमान पूर्वग्रह को खारिज़ करते हुए मैकाले ने तर्क दिया – "इंग्लैंड का कर्त्तव्य भारतीयों को वह सिखाना है जो उनकी सेहत के लिए जरूरी है, वह नहीं जो उनके स्वाद के अनुकूल है।" मैकाले ने दीवानी और फौजदारी के सभी कानूनों को अंग्रेजी भाषा में ही संहिताबद्ध करने पर जोर दिया। उन्होंने यह काम आगे चलकर स्वयं किया। जब यह तर्क दिया गया कि ब्रिटिश शासन का दायित्व भारत के सभी धर्म और इस धर्म की शास्त्रीय भाषा के प्रति तटस्थ और सहिष्णु बने रहना है तो मैकाले का प्रति–तर्क था – "क्या हम झूठा इतिहास, झूठी ज्योतिर्विद्या, झूठा चिकित्साशास्त्र पढ़ाएँ और वह भी इसलिए कि हम इसे एक झूठे धर्म से सम्बद्ध पाते हैं।"[77]

मैकाले ने 'डिपार्टमेंट ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन' से संबंधित समिति के अध्यक्ष के रूप में सिर्फ शिक्षाविषयक अपना 'प्रस्ताव' ही नहीं तैयार किया। उन्होंने इस समिति को एक प्रभावकारी प्रशासनिक इकाई के रूप में तब्दील किया और सरकारी स्कूलों के लिए पाठ्यपुस्तक तैयार करने के काम में पर्याप्त समय लगाया। पाठ्यपुस्तकों की इस तैयारी के काम का हिंदी लोकवृत्त से गहरा संबंध है। अव्वल तो भारतीय भाषाओं को उनका मौजूदा रूप इन्हीं पाठ्यपुस्तकों की तैयारी के क्रम में हासिल हुआ। दूसरे, सामाजिक जन–जीवन में सार्वजनिक शिक्षा के प्रवेश के साथ साक्षरता ने भी अपना आधार बनाया। 'वाचन' पर आधारित सामाजिक जीवन ने 'लेखन' पर आधरित समाज बनने की दिशा में करवट ली। 'लेखन' का संसार व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर सबके लिए खुला था; यहाँ व्यक्तिगत गुण (लेखकीय क्षमता) ही एकमात्र योग्यता थी और इस योग्यता को 'स्कूलों' में अर्जित किया जा सकता था जो 'हैसियत' को आधार मानकर नहीं, बल्कि विधि–आधारित बुद्धिजन्य व्यवस्था में 'अनुबंध' के आधार पर प्रवेश देते थे। जो 'फीस' चुका सके वह 'स्कूलों' में प्रवेश ले सकता था। 'लेखन' के इस सार्वजनिक संसार में ही हिंदी लोकवृत्त ने 'पश्चिमी सभ्यता' के श्रेष्ठता के दावों को तर्क की तुला पर तौला और 'धर्म' को बुनियाद बनाकर राष्ट्रीय संस्कृति का आख्यान तैयार किया।

भाषा ने इस क्रम में एक ठोस रूप ग्रहण किया। अब वह 'शिक्षा' का माध्यम बनकर 'समुदाय' का प्रतीक बनने की अवस्था में आ चुकी थी। इसमें 'स्कूल' सहायक हुए। पश्चिमोत्तर प्रांत में सन् 1840 के दशक से पहले प्राथमिक और माध्यमिक स्तर की

सरकारी शिक्षा आरंभ नहीं हुई थी। लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स थॉमसन के प्रयासों से इस दिशा में प्रगति हुई और पहले मौजूद 'देसी स्कूल' की तर्ज पर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा देने के प्रयास हुए। गांव में 'हल्काबंदी स्कूल' और तहसील में तहसीली स्कूलों का जाल बिछा। 'अवध' में भी सन् 1863 ई. के बाद ऐसा ही ढाँचा तैयार हुआ। पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध के इन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिंदी या उर्दू अथवा दोनों भाषाएँ थीं। क्रिस्टोफर किंग के अनुसार पश्चिमोत्तर प्रांत में ज्यादातर विद्यार्थी हिंदू विरासत से जुड़ी भाषाओं में अध्ययन करते थे तो 'अवध' में इस्लामी विरासत से जुड़ी भाषाओं का।[78] दरअसल, देसी स्कूल अरबी, फारसी, संस्कृत और हिंदी भाषा में शिक्षण करते थे और सरकारी स्कूलों को इसी मॉडल पर खड़ा किया गया था। स्कूलों में भाषा और समुदाय का कैसा घनिष्ठ संबंध तैयार हो रहा था इसका एक ब्यौरा 'इतिहासतिमिरनाशक' की भूमिका में मिलता है। राजा शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं – "जब मैंने देहाती स्कूलों के लिए हिंदी और उर्दू में हिंदुस्तान का एक छोटा–सा इतिहास तैयार करने का वादा किया था तब मुझे इस काम की मुश्किलों का अंदाजा नहीं था... मैं यहाँ उन लोगों के बारे में कुछ शब्द कहने के लिए क्षमा चाहता हूँ जो हिंदी किताबों से फारसी शब्दों को निकाल बाहर करने की हमेशा मांग करते हैं... दूसरे प्रांतवालों को हमसे हमदर्दी होगी जब वे इस पर गौर करेंगे कि उनकी तरह हमें कचहरी और समाज में एक भाषा और एक ही लिपि का वरदान नहीं मिला। हमारी अदालती भाषा उर्दू है.... उर्दू अब हमारी मातृभाषा होने जा रही है और यह पश्चिमोत्तर प्रांतों में कम या ज्यादा, अच्छी या बुरी सबके द्वारा बोली जाती है। अगर हम अदालती लिपि को जो बदकिस्मती से फारसी है, बदलकर सिर्फ देवनागरी नहीं कर पाते तो क्या यह जरूरी है कि हम खामखां एक नई भाषा पैदा करने की कोशिश करें।"

राजा शिवप्रसाद ने इसका निदान 'इतिहासतिमिरनाशक' में "एक हद तक 'बैताल पचीसी' की भाषा का अनुसरण" करके किया।[79] लेकिन ध्यान रहे, – राजा साहब जब स्वयं ये बातें लिख रहे थे (सन् 1864 ई.) तब 'हिंदी किताबों से फारसी शब्दों को निकाल बाहर करने की मांग' होने लगी थी। 'बैताल पचीसी' स्वयं राजा साहब के सचेत चयन का परिणाम है। क्रिस्टोफर किंग के अनुसार फोर्ट विलियम कॉलेज के लिए लल्लूलाल और मेहरअली खान ने 'बैताल पचीसी' लिखी थी जो हिंदुस्तानी में थी।[80] जबकि इन्हीं लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' लिखा था जो "यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में" कबि ने "संवत् 1866 में पूरा कर छपवाया पाठशाला के विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए...।" 'बैताल पचीसी' और 'प्रेमसागर' दोनों 'विद्यार्थियों' के लिए ही थीं। राजा शिवप्रसाद सिंह के समय तक अंतर यह आ गया था कि कुछ लोग 'प्रेमसागर' की तर्ज पर 'हिंदी किताबों से फारसी शब्द निकालने' की मांग करने लगे थे जबकि लल्लूलाल जी के समय एक ही व्यक्ति 'प्रेमसागर' और 'बैताल पचीसी' दोनों लिख सकता था। इसका एक कारण स्वयं वह इतिहासबोध है जिसका प्रस्ताव राजा साहब अपनी पाठ्यपुस्तक 'इतिहासतिमिरनाशक' में कर रहे थे – "हमारे पुरखों (हिंदू राजाओं) की वीरता के किस्सों के बावजूद उनका कोई साम्राज्य नहीं था;

कि मुल्क असंख्य सामंतों के बीच बँटा था.. कि मुस्लिम राजवंशों की प्रभावशाली भव्यता के बखान के बावजूद उनकी हुकूमत बहुत बुरी थी – सबसे प्रभावशाली बादशाहत के तहत भी बुरी थी...।"

राजा साहब ने यह 'इतिहास' सरकारी स्कूलों के लिए 'उपयोगितावादी शिक्षा' के तहत तैयार किया था और यह ग्रंथ मिशनरी जोशुआ मार्शमैन तथा एलिफिन्स्टन के भारतीय इतिहास पर आधारित छायानुवाद था। यह 'ब्रिटिश इंडिया' में 'ब्रिटिश हुकूमत' के औचित्यनिरुपण का इतिहास था जो भारतीयों की कल्पना धार्मिक समूहों के रूप में करता था और 'धर्म' की खोज दर्शन, साहित्य और कला के साथ–साथ 'भाषा' में भी करता था। स्पष्ट ही तब हिंदुओं के लिए 'हिंदी' और मुसलमानों के लिए उर्दू के प्रयोग का – पाठशाला और पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से धर्म–भाषा के रूढ़ प्रतीक के रूप में प्रयोग का – रास्ता आसान हो जाता है।

उपयोगितावादी और सुधर्म–प्रचारक कहीं गहरे में एक थे। दोनों वारेन हेस्टिंग्स के वक्त में जारी भारतीय सभ्यता के प्रति सहिष्णुता और एक सीमा तक सम्मान की नीति के खिलाफ खड़े थे। ये दोनों आंदोलन व्यक्तिवादी थे; दोनों व्यक्ति को प्रथा और रिवाज, दरबार और पुरोहित के चंगुल से निकालना चाहते थे। इनका उद्देश्य था एक स्वतंत्र और स्वायत्त व्यक्ति को गढ़ना जो विवेक और इच्छा–स्वातंत्र्य से परिभाषित होता हो। व्यावहारिक धरातल पर इनके विचारों में भिन्नता थी, लेकिन सुधर्म–प्रचारवादी (Evangelical) धर्मशास्त्र और उपयोगितावादी दर्शन – दोनों की मान्यताएँ एक हद तक समान थीं। दोनों मनुष्य को संवेदना का पुंज मानते थे। दोनों की मान्यता थी कि मनुष्य सिर्फ अज्ञान और त्रुटि के कारण अपने लक्ष्य–'आनंद' – को प्राप्त नहीं कर पाता। दोनों एकमत थे कि ज्ञान मनुष्य को सही रास्ता दिखा सकता है और समुचित आकलन की दिशा में अग्रसर कर सकता है। जब तक मनुष्य पूरी तरह अनुशासित न हो जाए और तात्कालिक खुशी की जगह स्थायी आनंद को महत्त्व न देने लगे तब तक उसे एक कठोर शिक्षक की जरूरत है – यह दोनों को मान्य था। इस शिक्षक को दोनों ने 'कानून' कहा। सुधर्म–प्रचारक इसे 'मूसा का दिव्य नियम' समझते थे जिसका पहला प्रयोग पापियों को दंड देने के लिए हुआ। उपयोगितावादी यही स्थान मनुष्य द्वारा निर्मित 'विधि' को देते थे जो मनुष्य को दंड का भय दिखाकर अपकर्म से बचाती है। उपयोगितावादी यह तो मानते थे कि 'आनंद' जैसा प्रयोजन प्राप्त करने में 'जनमत' और 'शिक्षा' एक हद तक सहायक हैं, परंतु उनकी नजर में इनका स्थान 'कानून' की तुलना में पासंग बराबर भी नहीं था। यह सही है कि उपयोगितावादियों ने 'ईश्वर' की जगह मनुष्य को प्रतिष्ठित किया था, दिव्य–न्याय की जगह मनुष्य के न्याय को स्थान दिया था; पर उनके लिए भी सुधर्मवादियों की तरह 'कानून' और 'विधिदाता' दोनों की हैसियत समाज–निर्माता की थी।[81]

हिंदी लोकवृत्त इन्हीं दो की अनुगूंजों के भीतर अपना आत्मबोध तलाशता है।

संदर्भ संकेत

---

1 जॉन जाओस (2000) – इमर्जेन्स ऑफ हिंदू नेशनलिज्म, ओयूपी, पृ.26

2 राजीव भार्गव – हेल्मट रेफेल्ड संपादित (2005) ; सिविल सोसायटी, पब्लिक स्फीयर एँड सिटीजनशिप' में नीलाद्रि भट्टाचार्य का लेख' नोट्स टुमार्डस अ कंसेप्शन ऑफ द कॉलोनियल पब्लिक, सेज प्रकाशन, पृ.130–159

3 वही

4 वही

5 हेमंत शर्मा (सं. 2000) – भारतेन्दु समग्र, हिंदी प्रचारक पब्लिकेशन, वाराणसी, पृ.30

6 जॉन जाओस (2000) – वही, पृ.26

7 सी. ए. बेली (1999) – एम्पायर एँड इन्फार्मेशन : इंटेलीजेन्स गेदरिंग एँड सोशल कम्युनिकेशन इन इंडिया 1780–1870, फाउंडेशन बुक्स, दिल्ली, पृ213

8 वही

9 इसके ब्यौरे के लिए देखें कृष्णबिहारी मिश्र (2000) – हिंदी पत्रकारिता : जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य कह निर्माण भूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ.42

10 वही, पृ.43

11 वही

12 वही, पृ.46

13 वही

14 मार्गरिट पेरने (2003) – द दिल्ली उर्दू अखबार : विट्वीन पर्शियन अखबारात एँड इंग्लिश न्यूज़पेपर, द एनुअल ऑफ उर्दू स्टडीज, सं. 18, खंड–1, पृ.112

15 वही

16 शान मुहम्मद (1972) – राइटिंग एँड स्पीचेज ऑफ सैयद अहमद खाँ, नचिकेता पब्लिकेशन, बम्बई, पृ.117–120

17 निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी (1996) – इतिहास और आलोचना के वस्तुवादी सरोकार में रामविलास शर्मा का लेख 'लोकजागरण और आधुनिक काल' ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.50

18 जॉन जाओस – उपर्युक्त, पृ.24–68

19 वही

20 रामस्वरूप चतुर्वेदी (1998) – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.80

21 पीटर फॉन डे फीर (2000) – रिफलेक्शन्स ऑन मार्डन इंडियन रेलिजस हिस्ट्री नामक लेख, www2.fmg.uva.nl/gm/articles/pvdv2000b.html

22 ज्योफ्री ए. ओडी (2006) – इमेजिन्ड हिंदुइज्म, सेज पब्लिकेशन, भूमिका, पृ.13–36

23 वही

24 वही

25 रामस्वरूप चतुर्वेदी – उपर्युक्त, वही

26 जॉन जाओस – उपर्युक्त, पृ.24–68

27 वही

28 वही

[29] ज्योफ्री ए. ओडी. – उपर्युक्त, वही

[30] वही

[31] पीटर फॉन डे फीर – उपर्युक्त

[32] इस धर्मसभा को प्रतिक्रियावादी बताकर डॉ. वीर भारत तलवार ने इसकी आलोचना की है। विस्तार के लिए देखें वीर भारत तलवार (2002) रस्साकशी : 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत – सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पृ.135–287

[33] बाबू शिवनंदन सहाय (1975) – हरिश्चंद्र – हिंदी समिति, उ. प्र., पृ.81

[34] वही, पृ.225

[35] देखें सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट, 1860 www.helplinelaw.com

[36] रोमिला थापर (1985) – सिंडिकेटेड मोक्ष? 'सेमिनार' सं–313, पृ.14–22

[37] वेरनर एफ. मेन्स्की (2003): हिंदू लॉ – ओयूपी, पृ.71–131

[38] वही

[39] वही

[40] वही

[41] मोनी बागची (1984) – विलियम जोन्स : डिस्कोर्सेज एँड एसेज, पीपीएच., पृ.6–9

[42] वही

[43] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, 'वैष्णवता और भारतवर्ष' शीर्षक लेख।

[44] हिमानी बनर्जी (2001) – इन्चेंटिंग सब्जेक्टस् : स्टडीज इन हेजेमनी, पैट्रियार्की एँड कौलोनियलिज्म –तूलिका, दिल्ली, पृ.18–53

[45] वही

[46] वही

[47] तेजस्विनी निरंजना (1990) – ट्रांस्लेशन, कॉलोनियलिज्म एँड द राईज ऑफ इंग्लिश, इकॉनॉमिक एँड पॉलिटिकल वीकली, 25 (15) : 773–777

[48] एरिक स्टॉक (1982 सं.) – द इंग्लिश यूटिलिटेरियंस एँड इंडिया, ओयूपी, पृ.1–47

[49] थॉमस आर. मेटकॉफ (2005) – आडियालॉजिज ऑफ द रास, फाउंडेशन बुक्स, पृ.98–66

[50] वही

[51] हिमानी बनर्जी – उपर्युक्त, पृ.54–71

[52] थॉमस आर मेटकॉफ – उपर्युक्त, वही

[53] वही

[54] वही

[55] वही

[56] शान मुहम्मद – उपर्युक्त, वही

[57] सत्यप्रकाश मिश्र (1995)। बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, पृ.9–11

[58] वही, पृ.142–143

[59] वही

[60] फ्रांसिस राबिन्सन (2000) – इस्लाम एँड मुस्लिम हिस्ट्री इन साऊथ एशिया, ओयूपी, पृ.190

[61] पार्थ चटर्जी (1993) – द नेशन एँड इट्स फ्रैग्मेंट्स : ओयूपी, पृ.3–13

[62] हेमंत शर्मा – उपर्युक्त, पृ.1009

[63] डॉ. नामवर सिंह – हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, 'आलोचना', सं.79, नई दिल्ली, पृ.4

[64] सत्य प्रकाश मिश्र – उपर्युक्त, में प्रधान संपादक नामवर सिंह का 'संपादकीय वक्तव्य'

[65] डी. ए. वाशब्रुक (1981) – लॉ, स्टेट एँड एगरेरियन सोसायटी इन कॉलोनियल इंडिया, माडर्न एशियन स्टडीज, खंड–15, अंक–3, पृ.649–721

[66] वही

[67] बर्नाड एस. कोहन (2004) – 'द बर्नाड कोहन ओमनीबस' में बर्नाड कोहन का लेख – द कमांड ऑफ लैंग्वेज एँड द लैंग्वेज ऑफ कमांड, ओयूपी, पृ.16–56

[68] श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय – श्री दिनेश उपाध्याय (संवत् 1996, संपादित) : प्रेमघन – सर्वस्व, प्रथम भाग में 'जीर्ण–जनपद', हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.1–51

[69] गौरी विश्वनाथ (1989) – मास्क ऑफ कंक्वेस्ट : लिटरेरी स्टडी एँड ब्रिटिश रूल इन इंडिया, ओयूपी, पृ.38–39

[70] नैन्सी एल एडम्स, डेनिस एम् एडम्स (1971) – एन एक्जामिनेशन ऑफ फोर्सेज अफेक्टिंग इंग्लिश एजुकेशन पॉलिसीज इन इंडिया : 1780–1850, हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन क्वार्टरली, खंड–11, सं.2, पृ.154–173

[71] वही

[72] वही

[73] वही

[74] मधुकर भट्ट, (1972) – पं. बालकृष्ण भट्ट व्यक्तित्व और कृतित्व, बालकृष्ण प्रकाशन, वाराणसी, पृ.12–15

[75] नैन्सी एल एडम्स, डेनिस एम एड्म्स, उपर्युक्त

[76] सुरेश चंद्र घोष (2000) – द हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन माडर्न इंडिया, 1857–1998, ओरियंट लॉगमैन, दिल्ली, पृ.35

[77] नैन्सी एल एडम्स, डेनिस एम एडम्स – उपर्युक्त

[78] क्रिस्टोफर आर. किंग (1994) – वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन नाइनटींथ सेंचुरी नार्थ इंडिया, ओयूपी, पृ.98

[79] वीरभारत तलवार (सं.2004) – राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' : प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पृ.21–22

[80] क्रिस्टोफर आर. किंग – उपर्युक्त, पृ.25

[81] एरिक स्टॉक – उपर्युक्त, वही।

अध्याय : तीन

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध : साहित्यिक परिवेश

साहित्य की अवधारणा : परंपरा और परिवर्तन

प्रेस और प्रकाशन

साहित्यिक क्षेत्र और रसिक समुदाय

विधि–व्यवस्था ने 'सार्वजनिक' और 'निजी' को परिभाषित कर दिया था। 'पब्लिक लॉ' के तहत अगर 'व्यक्ति' तथा उसकी 'योग्यता' को स्वीकार किया गया था तो 'पर्सनल लॉ' के तहत धर्म, जाति, कुल–गोत्र की संहिताबद्ध व्यवस्थाओं को व्यक्ति की 'निजता' के रूप में परिभाषित किया गया था। इस तरह एक राजव्यवस्था 'बाजार' में जिन मूल्यों को जायज मान रही थी उन्हीं मूल्यों को 'घर' के लिए नकार रही थी, राजनीतिक जीवन का 'व्यक्ति ' सामाजिक जीवन में अपने समुदाय के सदस्य के रूप में स्वीकार किया गया था। पिछले अध्याय की चर्चा में यह स्पष्ट हो चुका है कि विधि–व्यवस्था ने आधुनिक 'व्यक्ति' और पूर्व–आधुनिक 'समुदाय' दोनों को सार्वजनिक–स्तर पर मान्यता दी।

इस चर्चा में यह भी प्रकट हुआ कि 'सुधर्मवाद' और 'उपयोगितावाद' दोनों कहीं गहराई में एक–दूसरे से सहमत थे। दोनों मानते थे कि पूरे के पूरे समाज को मूलगामी ढंग से बदला जा सकता है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति हर जगह एक जैसी होती है। वह कोरी स्लेट होती है और उसका रूप इस बात पर निर्भर करता है कि उस पर कैसी इबारत लिखी जा रही है। अगर चार्ल्स ग्रांट यह मान रहे थे कि 'हिंदू अज्ञानी होने के कारण भ्रम में पड़े हुए हैं और उनके जीवन के 'अंधकार' को सुधर्मी ज्ञान के 'प्रकाश' की जरूरत है तो जेम्स मिल सन् 1824 में 'रेवैन्यू डिपार्टमेंट' को भेजे गये डिस्पैच में सीख दे रहे थे कि – "हमारा महत् प्रयोजन हिंदू शिक्षण अथवा मुस्लिम शिक्षण नहीं, बल्कि उपयोगी ज्ञान का 'शिक्षण' है....।"[1]

'उपयोगी ज्ञान' और 'कानून' – दोनों का उद्देश्य समाजसुधार करना था, अंग्रेजी सभ्यता के श्रेष्ठता के दावों को सिद्ध करना था। बात इतनी ही नहीं थी। श्रेष्ठता के उन दावों और समाजसुधार का प्रकट लक्ष्य था निजी संपदा और व्यक्ति के इच्छा–स्वातंत्र्य (इन दो की जगह भारतीय सभ्यता में नहीं रही – ऐसी अंग्रेजी की मान्यता थी) को मान्यता देकर आर्थिक शोषण की ऐसी अटूट शृंखला तैयार करना, जिस पर 'सभ्यता' का रेशमी आवरण चढ़ा हो। 10 जुलाई 1833 ई. में 'कंपनी' के 'चार्टर' के मसले पर बहस में भाग लेते हुए मैकाले ने कहा था – "मानव जाति का कोई हिस्सा (यहाँ आशय अंग्रेजी उपनिवेशों से था) ज्ञान में प्रगति करता है, जीवन की सुख–सुविधाओं के ख्याल से अपनी अभिरुचि बदलता है अथवा सुख–सुविधाओं को मुहैया कराने वाले धन–धान्य से समृद्ध होता है – इस बात से एक महान सौदागर कौम, एक महान वस्तु–निर्माता कौम (आशय अंग्रेजों से है) अपने को तटस्थ नहीं रख सकती। पूरब की विशाल जनसंख्या के बीच योरोपीय सभ्यता के प्रसार से हमें जो फायदे होंगे उसकी गिनती मुश्किल है। मामले को तनिक संकीर्ण नजरिये से सोचें तो बेहतर यही है कि भारतीय हमसे स्वतंत्र हों और सुशासन में रहें, न कि हमारे शासन में हों और वह कुशासन हो। भारतीय अंग्रेज कलेक्टर अथवा मैजिस्ट्रेट को सलामी बजायें, परंतु उनमें अंग्रेजी वस्तुओं का मोल समझने, उसे सराहने और खरीदने का ज्ञान न हो,

इससे बेहतर है कि वे अपने राजाओं के अधीन रहें किंतु हमारे कोट–पैंट पहनें और हमारे काँटे–चम्मच को बरतें। गुलामों पर शासन करने से अनंत गुणा ज्यादा लाभदायक होता है सभ्य मनुष्यों से व्यापार करना। यह कोई बुद्धिमानी की बात नहीं कि भारत को गुलाम बनाये रखने के फिराक में हम उसे अपने लिए एक महँगी और अनुपयोगी जिम्मेदारी बना लें; इस बुद्धिमानी से तो हम लाखों लोगों से अपनी अधीनता स्वीकार कराने के चक्कर में उनको अपना ग्राहक बनाने से चूक जाएँगे...।"[2]

इस लंबे उद्धरण से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि 'सभ्यता' का रिश्ता 'ग्राहक' तैयार करने और उपयोगी ज्ञान का उद्देश्य 'उपभोक्ता' बनाने से था। यह ज्ञान विद्यालयों, पाठ्यपुस्तकों और सुधर्मवादियों की बुक–सोसायटियों के माध्यम से साक्षर हो रही 'प्रजा' के बीच संचरित हो रहा था। इस ज्ञान ने अपने 'शिष्यों' से एक जटिल रिश्ता बनाया। इसके प्रति एक लगाव था क्योंकि दुनियादारी में यही ज्ञान फायदे का सौदा था, इसके लिए दुराव था क्योंकि 'दीन' इस दुनियादारी से रोक रहा था। ईमान रोक रहा था – कुफ्र खींच रहा था। दुनियादारी कहती थी कि किसी 'कुफ्र' के साथ जीना है – दीन कहता था कि 'दम' निकला जा रहा है। बालकृष्ण भट्ट को मलाल था कि 'सभ्य जाति वाले हम पर परिवर्तनविमुखता का आरोप लगाते हैं। यह नहीं समझते कि 'सूरदास की काली कामरि चढ़ै न दूजा रंग'। भला रंग ही चढ़ता तो सूरदास क्यों रहते'[3], लेकिन रंग चढ़ रहा था। भट्ट जी की बेचैनी कि हर साल नये–नये फैशन के कपड़े निकल आते हैं और 'यहाँ न जानिए कितने सौ वर्ष कलेवा कर गए वहीं गजी की धोती और गाढ़े की मिरजई छोड़ कोई दूसरा प्रकार वस्त्र का न निकाल सके' – इस बात को साबित करती है। शिक्षा और नौकरशाही ने मिलकर एक मध्यवर्ग बनाना शुरु कर दिया था और यह मध्यवर्ग 'दीन' और 'दुनिया' के द्वन्द्व में अपना रास्ता ढूँढ़ना चाहता था। परिवर्तन का रंग इसी पर चढ़ रहा था और वह इसे बड़ी बेचैनी से कभी 'हाँ' और कभी 'ना' के स्वर में स्वीकार कर रहा था। इस बेचैनी की एक प्रक्रिया थी। इसे भारतेन्दु–मण्डल के प्रमुख रचनाकार राधाचरण गोस्वामी के आत्मकथ्य से समझा जा सकता है। राधाचरण गोस्वामी लिखते हैं कि संवत् 1930 (सन् 1873 ई.) में "मैं फर्रूखाबाद में पंडित उमादत्तजी के पास सिद्धांत कौमदी पढ़ता था, एक दिन गवर्नमेंट हाईस्कूल में शहर के संस्कृत विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई। इनके साथ मैं भी परीक्षा देने गया था। वहाँ जो परीक्षा का अंग्रेजी क्रम और ढंग देखा तो मुझे अंग्रेजी विद्या पर बहुत श्रद्धा हुई और मैंने अंग्रेजी पढ़ने की ठान ली'.....

"पाठकों स्मरण रखना चाहिए कि मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ (गोस्वामी जी अपने कुल के परिचय में लिखते हैं –' 'मेरे पिता का नाम श्री गोस्वामी गल्लू जी महाराज, माता का नाम सूर्या देवी, जाति गौड़ ब्राह्मण, गोत्र शांडिल्य, प्रवर शांडिल्य, असित् देवल, यजुर्वेद, माध्यन्दिनी शाखा, वृति सेवा–पूजा, अग्रवाल वैश्यों की गुरुता, निवास श्री वृन्दावन धाम जिला मथुरा है') उसमें अंग्रेजी पढ़ना तो दूर है, यदि कोई फारसी, अंग्रेजी शब्द भूल से भी मुख से निकल जाय तो बहुत पश्चताप करना पड़े...."

"अस्तु मैंने गुप्त रीति से पं. रामरत्नजी संस्कृत टीचर जिला फर्रूखाबाद (अंग्रेजी प्राईमर मैं बाजार या स्कूल से नहीं ले सकता था – तब पंडित मथुराप्रसाद जी प्रोफेसर क्वीन्स कॉलेज बनारस को पत्र भेजकर दो आने के व्यारिंग लिफाफे में गुप्त रीति से पुस्तक मँगाई) से अंग्रेजी आरंभ की। पं. मथुराप्रसाद की प्राइमर के 9 लेसन पढ़े होंगे कि मैंने एकाएक जोश में आकर जिला स्कूल में नाम लिखा दिया। दो दिन मात्र स्कूल में गया कि हमारे शिष्यों में बड़ी चर्चा हुई। अंत में एक प्रधान शिष्य ने मुझे धमकाया और कहा कि यदि तुम अंग्रेजी पढ़ना न छोड़ोगे तो हम तुम्हारा परित्याग कर देंगे और स्कूल से जबरन नाम कटवा दिया...."

गोस्वामी सख्त अफसोस में स्वीकार करते हैं – "मन मेरा पराधीन था, मुझे अंग्रेजी पढ़ना छोड़ना पड़ा। मुझे अंग्रेजी का उस समय बड़ा शौक था यदि पढ़ता तो थोड़े दिनों में ही उच्च श्रेणी की परीक्षा में सफल हो जाता। मेरी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के रोकने से बड़ी क्षति हुई...।"[4]

'क्षति' क्या हुई होगी, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। अंग्रेजी–शिक्षा का उद्देश्य राजभक्त 'किरानी' तैयार करना था। अंग्रेजी–शिक्षा ऊँची तनख्वाह और प्रोन्नति की गारंटी थी। 'भारतेंदु' के एक जीवनीकार बाबू शिवनंदन सहाय ने अपना परिचय इन शब्दों में दिया है –

'पंचम बरसहि पढ़न लग्यो मक़तब निज जाई।
पितहूँ सो कछु काल पढ़ी फारसी लरिकाई।।
पुनि स्कूल सो जाय सिखौ अंग्रेजी भाषा।
पास कियो इंट्रेन्स बढ़ी चाकरी आसा।।
भयों जजीं महं दी एम किरानी बयस इक्कीसा।
फेर एकौंटेन्ट हेडकिरानी कीन्ह गिरीसा।।
करत अहौं अब काम ट्रांसलेटर को ताता।
भजत सदा जगदीश सकल मुद–मंगल–दाता।।'[5]

गोस्वामी जी ने क्षति की पूर्ति दूसरे तरह से की। वे लेखक बन गये। उन्होंने बाबू हरिश्चंद्र का 'मैगज़ीन' पढ़ा और 'प्रवृत्ति देशोपकार' की ओर जमी। गोस्वामी जी की नजर में देशोपकार क्या था? वे लिखते हैं – "नई रोशनी तो अपनी ओर खींचती थी और पुराने गुरुजन पुरानी लकीर पर चलाने की चिंता में थे। वही बात हुई 'दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम'। नई रोशनी का विष बड़ा तीव्र है, सावधान रहना।" गोस्वामी जी ने इसका 'निदान' निकाला और सन् 1875 ई. में 'कविकुल कौमुदी' सभा की स्थापना की जिसका उद्देश्य था 'हिंदी की गद्य–पद्य रचना तथा संस्कृत कविता की श्रीवृद्धि और व्याख्यान देना।" इस सभा की स्थापना से तीन दिन पहले राधाचरण गोस्वामी की पहली पत्नी का देहाँत हो गया था और 'इस शोक में भी सभा का प्रथम अधिवेशन' गोस्वामी जी ने किया। सभा उनके कुल के लिए 'नई वस्तु' थी और इसे 'अंग्रेजी रीति समझकर' उनके भाइयों ने विरोध किया। 'नई रोशनी' का आशय यहाँ

स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं 'सभा–सुसाइटी के प्रपंच में पड़कर' उन्होंने अन्यान्य धर्मग्रंथों को देखने का अभ्यास किया। "सबसे प्रथम ईसाई मत को देखा और उसमें भी जो हिंदू धर्म का खंडन है, वह बड़े आग्रह से पढ़ा। परंतु, उससे कुछ तृप्ति न हुई। तब ब्राह्मण धर्म के ग्रंथ देखे और ब्राह्म धर्म के मासिक पत्र 'हिंदू–बांधव' में प्रस्ताव भी लिखता था.. .।"[6]

हिंदी साहित्य–कोश (भाग–2) में राधाचरण जी को विशेष रूप से इस कारण याद किया गया है कि वे खड़ी बोली पद्य के विरोधी थे – "गोस्वामी जी ब्रजभाषा के बहुत बड़े समर्थक ही नहीं खड़ी, बोली के विरोधियों में से थे... इनकी साहित्यिक प्रतिभा ने हिंदी साहित्य को कुछ मौलिक नाटक.... और कुछ बांग्ला उपन्यासों के अनुवाद... दिये थे लेकिन गोस्वामी जी की साहित्यिक प्रसिद्धि का मुख्य कारण खड़ी बोली के पद्य का विरोध ही था... ।"[7]

स्वयं गोस्वामी जी अपने बारे में इसके अतिरिक्त बहुत–सी बातें कहते हैं और उन बातों से जाहिर होता है कि वे सिर्फ साहित्यिक प्रतिभा के ही धनी नहीं, कुछ और भी थे। वे अखबार पढ़ने के शौकीन थे। अपने पास आये सारे पत्रों का संग्रह करते थे। 'कविवचनसुधा' में उनके लेख के विरोध में (इसमें उन्होंने खुशी प्रकट की थी कि 'भारत में पुनरपि वैदिक मत प्रगट होत दिखरात') एक प्रेरित पत्र छपा था। इसके लेखक स्वयं भारतेंदु थे। इस पत्र से उनके शिष्य, मित्र और कुटुम्ब में कोलाहल हुआ। इसी कारण वे 'ब्राह्म–धर्म के ख्यालात से बाज आये' और वैष्णव धर्म के पक्ष में लेख लिखने लगे। उन्होंने स्वामी दयानंद के ग्रंथ मँगाकर पढ़े थे और फर्रूखाबाद तथा वृन्दावन में अनेकशः इस पर गोष्ठी की थी। उनकी रचनाओं का एक बड़ा अंश वैष्णव धर्म से संबंधित है। सन् 1882 में स्थापित (वृन्दावन में) 'वैष्णव धर्म प्रचारिणी सभा' के वे द्वितीयाचार्य (उपाध्यक्ष) थे। उन्होंने 3 वर्ष 5 मास तक 'भारतेंदु' मासिक पत्र का प्रकाशन किया। इसी समय 'शिक्षा कमीशन' बैठा। इसमें उन्होंने अपने उद्योग से हिंदी के पक्ष में 21000 स्वाक्षर (हस्ताक्षर) मेमोरियलों के द्वारा भिजवाये थे। सन् 1884 में प्रयाग हिंदू समाज के प्रथम अधिवेशन में हिंदी पत्र–संपादकों की एक सभा स्थापित हुई। इसके वे एक वर्ष तक सेक्रेटरी रहे। सन् 1886 में कांग्रेस में वृन्दावन से डेलीगेट होकर वे कलकत्ता गये। यहीं से लौटकर 'समाज–संशोधन' के लिए दो ग्रंथ 'विदेश–यात्रा विचार' और 'विधवा–विवाह विवरण' उन्होंने लिखा। सन् 1885 ई. में ये 'वृंदावन की म्यूनिसिपलिटी में मेंबर' चुने गए। वृन्दावन में श्रीरंगजी के मंदिर में ब्रह्मोत्सव के मेले में ईसाई लोगों के हिंदू देवी–देवता की निंदा सुनकर वे उनके विरुद्ध उपदेश भी करने लगे थे। सन् 1888 से सन् 1893 तक वे मथुरा की डिवीजनल कांग्रेस कमिटी में सेक्रेटरी रहे। श्रीकृष्ण के जन्मदिन व्रत और नाम–जप के सवाल पर उन्होंने इसके विरोधी लोगों से 2 वर्षों तक सभा और पत्रों द्वारा विवाद किया और 'विद्या–वागीश' की उपाधि पायी । सन् 1894 में दुबारा वृन्दावन की म्युनिसिपलिटी में मेंबर चुने गए। जीविका उन्हें अपने 1500 शिष्यों से सुलभ थी। अपने पैतृक मंदिर में संस्कृत, हिंदी,

बांग्ला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उर्दू, अंग्रेजी की 5000 पुस्तकों का एक संग्रह उन्होंने तैयार किया और इसे वे 'पब्लिक लाइब्रेरी की रीति पर शीघ्र ही सर्वसाधारण के लिए' खोलने का निश्चय कर चुके थे।[8]

साहित्य की अवधारणा : परंपरा और परिवर्तन

ये सूचनाएँ राधाचरण गोस्वामी को सिर्फ 'साहित्यिक प्रतिभा' का धनी सिद्ध नहीं करतीं। इनसे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाला जा सकता कि वे मात्र धर्मोपदेशक थे। उन्हें ठेठ राजनीतिक व्यक्ति भी नहीं कहा जा सकता। इन सूचनाओं को समग्रता में देखें तो राधाचरण गोस्वामी एक 'सार्वजनिक व्यक्तित्व' के रूप में उभरते हैं (सी.ए. बेली ने इसके लिए 'पब्लिक मेन' शब्द का प्रयोग किया है।)[9] ये 'पब्लिक मेन' एक ही साथ सबकुछ हैं और आमजन की भलाई के सवाल पर बहस–मुबाहिसे को आधार बनाकर 'जनमत' तैयार करने का काम करते हैं। राधाचरण जी के मामले में हम लेखक, संपादक, पुरोहित, हिंदी के समर्थक, म्युनिसिपलिटी के मेंबर, कांग्रेस के डेलीगेट, धर्मसुधारक, साहित्यकार, पुस्तक–प्रेमी आदि की अनेकविध भूमिकाओं को एक ही व्यक्ति में समाहित पाते हैं।

यह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के साहित्यिक परिवेश की नयी घटना है और इसने साहित्य की परंपरागत अवधारणा को ही नहीं बदला, बल्कि उसकी भूमिका को भी आमूल बदल डाला। साहित्य 'नेशनलिटी' का साक्ष्य बना, उसका रिश्ता धर्म से माना गया और वह पांडुलिपियों तथा दरबारों की कैद से निकलकर पुस्तक के रूप में साक्षर समुदाय के बीच आया। वह एक पण्यवस्तु बना और साहित्यकार एक सांस्कृतिक वस्तु का उत्पादनकर्त्ता। इसके अनेकमुख कारण थे। लेकिन इन कारणों में प्रमुख था अंग्रेजी सभ्यता का आतंक और इस आतंक से उपजी आत्महीनता के बीच मध्यवर्ग की अपनी आत्मबोध को पाने–बचाने की छटपटाहट। इस स्थिति पर विद्वान भीखू पारेख की टिप्पणी है –

"वे (अंग्रेज) लोग अपनी प्रजा को नये विचार और जीवन की नई राह सुझाने के उद्यम में लगे थे। वे प्रजाजनों के अंदर नई आदतें, गुण और बुद्धि तथा चरित्र विकसित करना चाहते थे... वे सिर्फ शिक्षक नहीं थे; प्रधानाध्यापक थे। सिर्फ कानून बताने और बनाने वाले नहीं, बल्कि प्रबोधक थे। भारत एक विशाल सरकारी विद्यालय में तब्दील हो गया था और भारतीय उनकी नजर में शिष्य थे... सभ्यतागत श्रेष्ठता के दावों से भरपूर अंग्रेज जाति ने भारतीयों से बड़ी आक्रामक मुद्रा में संवाद किया। उनकी चुनौती थी कि कुछ ऐसा हो तो दिखाओ जिससे लगे कि यह बात तुमसे अंग्रेजों को सीखनी है। भारतीयों के लिए यही कहना पर्याप्त नहीं था कि हमारी सभ्यता का मुख्य सरोकार तथा सांगठनिक सिद्धांत अंग्रेजों से अलग है, बल्कि उन्हें अपने सभ्यतागत अंतर का अनुवाद ब्रिटेन की साभ्यतिक पदावली में करना था और इसका मूल्य ब्रिटिश पदों में बताना था।

औपनिवेशिक शासन का तर्क स्वेच्छाचारी था और वहाँ 'अंतर' का होना मूल्यहीनता का सूचक था।...[10]

राधाचरण जी जब 'नई रोशनी' और 'पुरानी लकीर' के द्वन्द्व में फँसे 'हिंदी गद्य–पद्य की रचना और संस्कृत कविता की श्रीवृद्धि' के लिए 'कविकुल कौमुदी' की स्थापना कर रहे थे और इसी कारण अंग्रेजी चाल की 'सभा' करने के आरोप में कुल की रीति से अलग होने पर भाइयों द्वारा फटकारे जा रहे थे तो दरअसल, वे सभ्यतागत अंतर को पाटने का प्रयत्न कर रहे थे। वे अंग्रेजी तर्ज की संस्था (सभा) अपनाकर अपने 'साहित्य' को ठीक उसी तर्ज पर श्रेष्ठ 'जातीय साहित्य' बनाने–बताने की कोशिश में थे, जिस तर्ज पर अंग्रेजी शासन ने अपने जातीय साहित्य की श्रेष्ठता साबित की थी।

यह काम उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सबसे पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र के माध्यम से शुरु होता है। औपनिवेशिक परिवेश में 'स्वत्वबोध' की चिंता से छटपटाते हुए इस मनीषी–आत्मा की जीवन–यात्रा को वसुधा डालमिया ने हिंदू परंपराओं के जातीयकरण के रूप में पढ़ने की कोशिश की है। यह उनकी पुस्तक के शीर्षक 'नेशनलाइजेशन ऑफ हिंदू ट्रेडिशन : भारतेंदु एंड नाईनटींथ सेंचुरी बनारस' से ही स्पष्ट हो जाता है।[11] भारतेंदु हरिश्चंद्र स्वयं 'पब्लिक मेन' की श्रेणी में आते हैं और उनके सार्वजनिक कार्यों का ब्यौरा सर्वज्ञात है। वे सभा–समाजों के संक्रिय सदस्य तो रहे ही, सभा–समाजों के संस्थापक भी बने। भारतेंदु हरिश्चंद्र सन् 1857 ई. के बाद स्थापित नये शासन में (यह शासन प्रजाजनों को अपने धर्म के पालन का अधिकार देता था और म्युनिसिपलिटी में प्रतिनिधित्व भी) 'जनमत' के महत्त्व की पहचान करते हैं। वे इसे धर्म से जोड़ते हैं और देश की उन्नति से भी। अपने एक लेख 'पब्लिक ओपीनियन इन इंडिया' में उन्होंने लिखा (1872) – "जब तक मूढ़ता के बंधन को हटा फेंकने की इच्छा सर्वसाधारण में उत्पन्न नहीं होती तब तक भारत के पुनरुत्थान का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। भारत का धर्म वह होना चाहिए जो उसके लक्ष–लक्ष–प्रजाजनों का शासन बगैर किसी बाधा के कर सके। पश्चिमी सभ्यता की किरणों से आपसी फूटमत के अंधेरे मिट जाने दें... और जातीय उन्नति के कंगूरे की नींव हमारी एकता पर टिकी हो जो कि हर सभ्य कौम का लक्षण है...."[12]

इस जातीय एकता को धर्म के आधार पर गढ़ा गया। भारतेंदु का परवर्ती लेखन इसका साक्ष्य है कि वे भारतवर्ष की एकता की कल्पना 'वैष्णवता' के आधार पर करते हैं। उनकी चिंता है 'भारत निज स्वत्व गहै' और यह स्वत्व वे अपनी भाषा में खोजते हैं – 'निज भाषा उन्नति अहै... सबै उन्नति को मूल' तथा उन्नति के संदर्भ में भाषा और धर्म पर्यायवाची हो जाते हैं – 'सभी उन्नतियों का मूल धर्म है।' यह एक जटिल प्रक्रिया है – इसकी चर्चा अध्याय चार में की जाएगी। यहाँ, यह जानना दिलचस्प हो सकता है कि अंग्रेजी सभ्यता की चुनौतियों के समक्ष हिंदी–लोकवृत्त के सक्रिय पात्र हिंदुस्तान की क्या छवि प्रस्तावित कर रहे थे। प्रतापनारायण मिश्र के 'भारत दुर्दशा रूपक' का

शुरुआती हिस्सा इसे एक झटके में प्रकाशित कर देता है। पहले दृश्य में 'रूपक' का नायक 'भारत' सो रहा है। भारत की स्त्री 'विद्या' उसे जगाती है। 'आशा' और लाज नामक विद्या की दो सखियाँ इधर–उधर खड़ी हैं। भारत को जगाते हुए 'विद्या' का कथन है – "शोक और पश्चाताप का विषय है कि आज आपने धर्म के एक बड़े भारी अंग का खंडन किया। कहाँ तो सूर्य के उदित होते–होते सब प्रकार के शौच से निश्चिंत होकर भगवत् भजन में मग्न हो जाते थे और कहाँ यह आलस्य कि आप जगाए–जगाए जागे, सार–संसार का शिरोमणित्व केवल धर्मनिरालसित्व एक्य और विधा के ही प्रभाव से आपको जगदीश्वर ने दिया है; यदि आप ही ऐसा करने लगे तो सांसारिक और आत्मिक उन्नति को फिर किसका आश्रय मिलेगा?"[13]

यहाँ 'विद्या' के साथ 'लाज' है और 'सांसारिक–आत्मिक उन्नति' का आधार है धर्मनिरालसित्व एक्य। 'विद्या' इस 'एक्य' के रेखांकन का आधार बनती है। इन बातों के पीछे सन् 1857 ई. के बाद स्थापित नये शासन का ढाँचा प्रेरक शक्ति का काम करता है। इसकी कुछ चर्चा अध्याय–1 में की जा चुकी है। यहाँ एक संक्षिप्त जायजा लेना उचित होगा।

सन् 1857 के 'गदर' के 20 बरस बाद लार्ड लिटन का 'दिल्ली दरबार' हुआ था। महारानी विक्टोरिया ने नयी पदवी – 'एम्प्रेस' – धारण की। इसका उद्देश्य था ब्रिटेन और उपनिवेशों के बीच एक नया संबंध कायम करना जो ब्रिटेन के लिए राजनीतिक रूप से फायदेमंद हो और भारतीयों के तेवर के अनुकूल भी। लिटन के 'दरबार' में इसी 'पदवी–धारण' की घोषणा हुई थी। इस संबंध की 'कल्पना' की थी कंजर्वेटिव प्रधानमंत्री डिजरायली ने। मुगलकालीन राजधानी दिल्ली में आयोजित इस विशाल 'दरबार' का एक उद्देश्य राजे–महाराजे, जमींदार–रईस और शहरी अभिजन के बीच संबंधों को एक खास ढाँचे में तब्दील करना भी था। इन सबको अलग–अलग जनसमूहों का प्रतिनिधि मानकर एक श्रेणीक्रम में रखा गया और इस श्रेणीक्रम को अधिकार–भेद के क्रम में सजाया गया। इसमें सबसे ऊपर था वायसराय। यह मध्यकालीन योरोप में मौजूद 'सम्राट' की कल्पना थी जो अपने सामंतों–जागीरदारों का सिरमौर हो। लिटन ने सन् 1877 में यह स्वीकार भी किया था कि ऐसे दरबार का आशय ब्रिटिश साम्राज्य के इस अंग (भारत) की विविध परंपराओं को दृश्यमान करना है और इसके निवासियों के वैविध्य को सार्वजनिक तौर पर प्रस्तुत करना है जो 'असंख्य प्रजातियों में यहाँ निवास करते हैं।' लिटन ने माना कि 'इन प्रजातियों का चरित्र उनके धर्म मत से सुनिश्चित होता है।' यह शासन का सामंती ढाँचा था।

इसके साथ–साथ शासन का उदारवादी ढाँचा भी स्थापित किया गया। इस शासन ने अपने समाजशास्त्र के बूते 'समुदायों को पहचाना और उनके 'अगुआ' नियत किये। उन्हें खिताब, पदवी और विशेषाधिकार प्रदान करके शासन से जोड़ने की कोशिश की। इसी का एक तरीका था म्युनिसिपल शासन में इन 'समुदायों' के प्रतिनिधियों को

शामिल करना। म्युनिसिपल शासन में राजे–रजवाड़े तो शामिल होते ही थे, शहरी अभिजन भी शामिल किए जाते थे। म्युनिसिपल बोर्ड में सरकारी प्रशासकों का प्रभुत्व था, जिले का कलेक्टर उसका प्रधान होता था। परंतु इसके मानद सदस्यों में 'समुदाय' के नेता के तौर पर धर्म और जाति के नेता भी होते थे। म्युनिसिपल शासन के आर्थिक कारण थे तो राजनीतिक भी।

राजनीतिक कारण था उदारवादी विचारधारा में पगे साम्राज्यवादी शासनकर्त्ताओं द्वारा म्युनिसिपलिटी को राजनीतिक शिक्षा की पाठशाला समझा जाना। यह समझ अंतर्विरोधी थी। उदारवादी अव्वल तो भारतीयों को सभ्यता के विकास–क्रम में पिछड़ा मानकर इसके निदान के लिए 'शिक्षा' को जरूरी मानते थे तो दूसरी तरफ वैकासिक सोपान पर अलग–अलग मौजूद समुदायों की आपसी भिन्नता और एकता के अभाव से आनंदित भी होते थे। सन् 1858 ई. के बाद का शासन दो अंतर्विरोधी सिद्धांतों पर आधारित था। सामंती और उदारवादी व्यवस्था एक साथ स्वीकृत हुई। म्युनिसिपलिटी के पार्षदों को 'जनमत' का नुमाइंदा माना गया। यह धारणा ब्रिटेन में स्वीकृत हो चुकी थी। लेकिन वहाँ 'जनमत' का नुमाइंदा उसे माना जाता था जो अपनी पूर्व–आधुनिक पहचान अर्थात् कुल–गोत्र–वंश के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकार से परिभाषित न हो और सर्वजन की भलाई की बात कहे। यह सिद्धांततः राज्यसत्ता से स्वायत्त आवाज थी।

हिंदुस्तान में जनमत के नुमाइंदे सत्ता–तंत्र के हिस्से मानकर स्वीकार किए गए। उन्हें म्युनिसिपलिटी अथवा शासन के स्थानीय तंत्र में शामिल किया गया। शासन में यह हिस्सेदारी उन्हें पूर्व–आधुनिक पहचान के आधार पर दी जाती थी। म्युनिसिपलिटी बोर्ड में शामिल होने का अर्थ ही था शासन के प्रति निष्ठा के दस्तावेज पर दस्तखत कर देना। यहाँ विचित्र यह है कि जो शासन भारतीयों की आलोचना उनकी आपसी भिन्नता के कारण करता था, उसी शासन की संरचना भारतीयों को यह अवसर देती थी कि वे राजनीतिक दुनिया में अपनी पहचान 'धर्म' और 'जाति' के आधार पर करें। लार्ड रिपन के समय में जब म्युनिसिपलिटी के लिए चुनावों की पद्धति स्वीकृत हुई (सन् 1880–84) तब भी दो प्रमुख समुदाय 'हिंदू' और 'मुसलमान' के बीच प्रतिनिधित्व के अनुपात पर समतोल बैठाने की कोशिश हुई। इसी समय 'अलपसंख्यक' और 'बहुसंख्यक' की अवधारणागत स्वीकृति भी हुई।[14]

आश्चर्य नहीं कि भारतेंदु इस शासकीय ढाँचे में अपने समुदाय के नेता के रूप में स्वीकृत हैं। भारतेंदु अपने शहर में सन् 1870 से 1874 ई. तक ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट रहे। इसी समय लगभग छः साल तक वे म्युनिस्पल कमिश्नर भी रहे। इसी दौर में सक्रिय 'पब्लिक मेन', 'लॉयल्टी–डिस्लॉयल्टी', 'कानून' और संसद,', 'सभा और मेमोरंडम', 'जातियों की उन्नति और 'भारत के प्राचीन गौरव' जैसे पदों का बहुतायत उपयोग करने लगते हैं। भारतेंदु अथवा उनके मंडल के रचनाकार इसके अपवाद नहीं हैं। धर्म तथा अन्यान्य सामुदायिक पहचान प्रमुख हो जाते हैं और 'उन्नति' से आशय

समुदाय की उन्नति का हो जाता है। म्युनिसिपलिटी कमिश्नर रहते हुए ही भारतेंदु ने लार्ड मेयो के काशी–आगमन के समय 'लेवी प्राण लेवी' लिखा था। इसके बाद 'मर्सिया' छपा जो प्रांत में लेफ्टिनेंट गवर्नर विलियम म्योर को लक्ष्य करके लिखा गया था। सरकारी कोप को भाँपकर भारतेंदु ने ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट के पद से इस्तीफा दिया और उनकी तीन पत्रिकाएँ – बालाबोधिनी, कविवचनसुधा और हरिश्चंद्रचंद्रिका की खरीददारी शिक्षा विभाग से बंद कर दी गई। म्युनिसिपलिटी का सुनिश्चित रिश्ता 'समुदाय की भलाई' से था और यह रिश्ता पत्र–पत्रिकाओं–पुस्तकों आदि के द्वारा बनाया जा रहा था।

यहाँ रूचिकर होगा यह जानना कि भारतेंदु स्वयं 'पब्लिक मेन' को किन शब्दों में याद करते हैं और उसे कैसी भूमिका में देखना चाहते हैं। भारतेंदु ने 'पब्लिक मेन' अर्थात् शासन द्वारा स्वीकृत समुदाय के नेताओं को 'लेखक' की संज्ञा दी है। उनके एक लेख का शीर्षक है – 'लेखक और नागरी लेखक'[15] यह लेख हिंदी लोकवृत्त तथा हिंदी बुद्धिजीवी की निर्माण–प्रक्रिया को समझने के लिहाज से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस लेख की शुरूआत होती है डॉ. जॉनसन की एक पंक्ति से कि 'प्रत्येक जाति (नेशन) को अपने लेखकों के ही गौरव और उच्चाशय द्वारा सर्वोच्च आशय की प्राप्ति होती है'। लेख यह स्थापित करता है कि 'न्यायाध्यक्ष और कार्याध्यक्ष (हाकिम और ऑफिसर) की ही नहीं, वरन् कभी–कभी अर्दली और चपरासी तक की फटकार' सहने पर विवश और आजकल के 'क्लर्क' का पर्यायवाची 'लेखक' महापुरुष के तुल्य है, अर्थात् 'साक्षात् ब्रह्म अवतार कवि और राजा' के समान महनीय। 'लेखक' की महानता का कारण बताते हुए हरिश्चंद्र ने लिखा है कि लेखक 'रूखा–सूखा, मोटा–फटा पहिन, सर्दी–गर्मी सह 'परोपकराय सतां विभूतय' के उपदेश में लगा रहता है।

भारतेंदु के अनुसार लेखक कोई भी पूर्वप्रदत्त पहचान लेकर पैदा नहीं होता, बल्कि 'यथा नाम तथा गुण' से परिभाषित होता है – 'लिखने की सिद्धि प्राप्त किए बिना कोई लेखक नहीं कहला सकता।' 'लेखक' की उत्पत्ति के बारे में भारतेंदु ने चिह्नित किया है – "लेखक की आयु का निर्णय नहीं कर सकते', क्योंकि 'जब से जगत में अक्षर की सृष्टि हुई है तभी से हमारे लेखक महापुरुष का अवतार हुआ है'। परंतु 'हमें केवल नागरी लेखक से ही संबंध है इसलिए हम कह सकते हैं कि विगत शताब्दि के आरंभ से प्रथम कोई 'नागरी–लेखक' अपना वर्तमान गौरवसूचक 'लेखक' नाम सार्थक नहीं कर सका।' अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतेंदु का इशारा लल्लूलाल जी और सदलमिश्र आदि की तरफ है। नागरी लेखक 19वीं सदी के आरंभ में ही 'लेखक' नाम क्यों सार्थक कर पाये इसका कारण भारतेंदु ने बताया है – 'कहना न होगा, मुद्रण–यंत्र के प्रचार के साथ ही महाग्गकुब 'लेखक' की उन्नति हुई। जैसे विष्णु चक्र और महादेव त्रिशूल के सहारे संसार पर विजय पाते हैं वैसे ही लेखक मानो मुद्रण–यंत्र से ही जगत में अपनी दुन्दुभी बजाते हैं....।"

लेखन–कर्म भारतेंदु की नजर में स्वांतःसुखाय नहीं बल्कि एक प्रक्रिया है। इसमें पहले 'उच्च विचारों' को लिखा जाता है, फिर 'छापेखाने में' छपवाया जाता है और इसके बाद सर्वसाधारण के सामने धरा जाता है – 'हमें तो स्मरण नहीं होता कि किसी नागरी लेखक ने 19वीं शताब्दि के पहिले अपने उच्च विचारों को लिखकर और छापेखाने में छपवाकर सर्वसाधारण के सामने धरा हो....।' भारतेंदु का अनुमान है कि नागरी लेखक होंगे जरूर, लेकिन वे 'काल की गोद' में चले गए।' उनमें से कुछ को ही 'थोड़ा–बहुत पुरस्कार' मिला और वे 'अपने जीवन के दिन भयंकर दरिद्र दुख में व्यतीत' करते रहे। इससे अलग 19वीं सदी के नागरी लेखक 'वर्तमान राजनियम के अनुसार' 'अपनी पुस्तकों पर स्वत्व (कॉपीराईट)' रख सकते हैं और ठेठ इसी कारण अपनी 'चिता की भस्म से निकलकर लोगों के हृदय पर राज' करने लगे हैं...।"

'लेखन' और 'लेखक' का संबंध भारतेंदु 'विद्या' से बताते हैं – "विद्या ही हमारे परित्राण का चक्र है तब तो लेखक भी हमारे लिए चक्रधारी भगवान विष्णु के समान परित्राणदाता अवश्य होंगे.... विद्या के बिना लेखनशक्ति प्राप्त नहीं हो सकती और लिखने से विद्या के ऊपर शान चढ़ती है...।" भारतेंदु के अनुसार लेखक भी दो तरह के होते हैं – योग्य और अयोग्य। योग्य लेखक वह है जिसकी लेखनी से 'सदा–सर्वदा ऐश्वरीय विचार का प्रवाह प्रसृवित होता है।' 'ऐश्वरीय' विचार है – 'क्षणभंगुर, असार और मायालिप्त वाह्यजगत में रहते हुए भी अनादि–अनंत सारभूत पवित्र आंतरिक तत्व को' दिखा देना क्योंकि 'लेखक का आविर्भाव इस लिए होता है कि वह इस असार जगत के सार को स्वयं देखे और दूसरों को दिखलावे और भाषा का जब–जब परिवर्तन हो तो उसी परिवर्तित भाषा में उस समय के मनुष्यों की रूचि के अनुकूल उस 'सार' को वर्णित करे।' इसी अर्थ में भारतेंदु शंकराचार्य को 'लेखक' ही मानते हैं। वे जर्मनी के दार्शनिक फिख्टे (ये इमैन्युल कांट के समकालीन थे) के कथन का सहारा लेकर घोषित करते हैं कि 'लेखक.... धर्मोपदेशक होता है।' 'योग्य' लेखकों को 'अयोग्य' लेखकों से अलगाते हुए उनका कथन है कि ऐसे लेखक 'ऐश्वरीय ज्ञान से वंचित रहते और सांसारिक विषयों की इच्छा रखते हुए जगत को भुलावे में डाल अपना अर्थसाधन करते हैं।'

भारतेंदु 19वीं सदी के 'धर्मोपदेशक लेखक' को पुराने 'विद्वानों' से जोड़ते और अलगाते हैं – "हमारे पूजनीय पूर्व पुरुषों ने देवालयों में भगवत पूजन करने और देवनदियों में निर्धारित तिथियों को स्नान करने और विद्वानों के समागम पर एकत्र होने की प्रथा इसीलिए प्रचलित की थी कि ऐसे समयों पर सर्व–साधारण जन योग्य–पुरुषों की विद्याबुद्धि और वाक्शक्ति का परिचय पा सकें। उनको मालूम था कि वाक्शक्ति के समान जाति की उन्नति के लिए और कोई शक्ति लाभदायक नहीं है और यदि यह न हुई तो जातीय जीवन किसी काम के नहीं.. परंतु लेखन प्रणाली और मुद्रण–यंत्र के सहारे अब जगत के इन कार्यों का कैसा उलट–फेर हो गया है। लेखक धर्मोपदेशक की नाई इधर–उधर यहाँ–वहाँ नगर–स्थानों पर धर्मोपदेश नहीं देता फिरता, परंतु वह एक

ही समय में एक–दूसरे से बहुत दूर बसे हुए अनेक स्थानों पर अपनी शिक्षाओं को सुनाता है...।"

'लेखक' को भारतेंदु भविष्य का द्रष्टा और भूत का संरक्षणकर्त्ता सिद्ध करते हैं क्योंकि 'संसार में मनुष्य ने अपनी बुद्धि से जितने अद्‌भुत आविष्कार किए हैं उन में सब से बढ़कर लिपि–निर्माण है... पुस्तकों में सारा भूत बँधा पड़ा है, उस काल की भाषा और शब्दावली इन में मौजूद है। इसी आधार पर वे 'महर्षि वैश्मपायन' वाल्मीकि और तुलसीदास को भारतीय इतिहास के साक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं – "लेखन कार्य, जिस का मुद्रण एक सरल स्वरूप मात्र है, मनुष्य मात्र के लिए एक चमत्कारिक दृष्टि उत्पन्न कर रहा है, यह लेखन कार्य भूतकाल और दूर देश की घटनाओं को एक अद्‌भुत नवीन रूप में वर्तमान समय में हमारे सामने ला धरता है; तीनों काल और पृथ्वी पर के समस्त स्थानों के साथ इस वर्तमान समय में और इस हमारे स्थान पर जहाँ हम हैं अनंत काल के लिए विचित्र सम्मेलन कर देता है... मनुष्य की जितनी वस्तुएँ हैं उन सबका इस ने रूपांतर कर दिया है, मनुष्य के समस्त बड़े–बड़े कार्य इसने पलट दिये हैं, क्या शिक्षा, क्या दीक्षा... शिक्षा को ही लीजिए.. पुस्तकों से इन विद्यालयों के रूप में, मूल कारण में अंतर पड़ गया... जिस समय पुस्तकों को प्राप्त होना कठिन था... उस समय जब किसी मनुष्य को किसी विषय में जानना होता था तो उसे उस विषय के ज्ञाता पंडितों को इकट्‌ठा करना होता था... सहस्त्रों मनुष्य विद्वानों के द्वार पर पड़े हुए उनकी कृपा संपादन करना चाहते थे...."

भारतेंदु का यह लेख (लेखक और नागरी लेखक) कई बातों को एक जटिल आख्यान में प्रस्तुत करता है। इसमें कई स्थापनाएँ हैं और उनको परस्पर संबद्ध करके देखें तो उसमें आधुनिक हिंदी बुद्धिजीवी वर्ग के निर्माण और उसकी भूमिका के साक्ष्य बीज–रूप में पड़े हुए मिल जाते हैं। इस लेख की स्थापनाओं को संक्षेप में इन बिंदुओं के अंतर्गत रखा जा सकता है – 1. नागरी लेखक का जन्म 19वीं सदी के आरंभिक दशक की घटना है और यह घटना मुद्रण–यंत्र के कारण घटित हुई। इसी सदी में 'लेखक' की 'पुस्तक' (कॉपी राईट एक्ट–1849) पर लेखक का 'स्वत्वाधिकार' स्थापित हुआ और पुस्तक 'पण्य' वस्तु के रूप में सामने आयी। 2. योग्य लेखक धर्मोपदेशक होता है। वह असार संसार में रहते हुए संसार के 'सार–तत्व' का निदर्शन करता है। अयोग्य लेखक अर्थसाधन के लिए लिखता है। 3. लिपि और भाषा इतिहास का साक्ष्य है और इस कारण लेखक भी इतिहास का संरक्षणकर्ता है, 4. पहले वाक्‌शक्ति अगर जातीय उन्नति का साधन की तो अब लेखन शक्ति। 5. लेखक होने के लिए योग्यता है – लिखना, छपवाना और सर्वसाधारण के सामने रखना, और लिखने के लिए विद्या पढ़ना जरूरी है, किंतु योग्य लेखक के लिए जरूरी है कि उसे 'ऐश्वरीय ज्ञान प्रदपत्र प्रतिभामय लेखन की शक्ति' प्राप्त हो। 6. लेखन ने एक कल्पित देश–काल की रचना की है जिसमें भूत और वर्तमान, 'अब' और 'यहाँ', तथा 'कल' और 'वहाँ' विचित्र रूप से मिल गये हैं।

यह लेख 'साहित्य' शब्द का व्यवहार नहीं करता, साहित्यकार अथवा कवि की बातें नहीं कहता, बल्कि 'वाक्शक्ति' और 'लेखन शक्ति' की बातें करता है। इन शक्तियों को एक विशिष्ट भूमिका से जोड़कर देखा जाता है और यह भूमिका है 'जातीय उन्नति'। इस लेख में शंकराचार्य, वाल्मीकि और तुलसीदास अर्थात् दार्शनिक, कवि और भक्त सभी 'लेखक' हैं यानी जातीय जीवन के उन्नयनकर्त्ता। लेख की बुनियादी मान्यता है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक जीवन को लेखकों ने रचा है – 'महर्षि वैशम्पायन की कृपा से आज 5000 वर्ष बीत जाने पर भी हम 'कौरवों–पांडवों का युद्ध देखते हैं... पुण्यधाम अयोध्या के पाप–ताप नाशी राममंदिर के सुवर्ण–कलश को ऊँचे आकाश में किसने स्थापित किया, संस्कृत और भाषा रामायण के प्रणेता वाल्मीकि और तुलसीदास ने... भारतवर्ष भर में फैले हुए एक से बढ़कर एक उन मंदिरों को किसने बनाया है जिसमें योगीन्द्रकृष्ण चंद्र की मूर्तियाँ विद्यमान हैं? केवल भागवतादि श्रीकृष्णचंद्र के गुण–वर्णन करने वाले ग्रंथों ने...।"[16] यह लेख 'लेखक' और 'ग्रंथ' को, हिंदू संस्कृति के विराट फलक पर भारतवर्ष का रचयिता सिद्ध करता है और इसी माध्यम से इनकी आगामी भूमिका भी तय कर देता है। साहित्य की पुरानी धारणा से यह कई कोणों से अलगाव का संकेत है।

स्वयं साहित्य की पुरानी धारणा को लें। साहित्य की पुरानी धारणा में 'काव्य' का स्वायत्त स्थान है। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख में इस तरफ ध्यान दिलाया है कि 'संस्कृत काव्यशास्त्र... वर्चस्वशील वैदिक–पौराणिक संस्कृति के विचार–लोक में रहते हुए भी... कविता के अपने विशिष्ट प्रयोजन, प्रकार्य और आशय के प्रति अत्यंत आग्रहशील है'... कि 'कविता कुछ भी पूछ सकती है' और 'कविता का काम किसी भी विचार–विशेष का प्रचार करना नहीं बल्कि सौंदर्य की भाषा के जरिए मनुष्य की समग्र सत्ता से संवाद करना है। ऐसा संवाद कई बार 'स्वीकृत' मर्यादाओं के परे भी जा सकता है और इसे कविता के खिलाफ तर्क नहीं बनाया जा सकता..."[17] प्रो. अग्रवाल के अनुसार संस्कृत काव्यशास्त्र हर छंदोबद्ध शब्द–रचना को काव्य मानने की उदारता नहीं बरतता। इसकी चिंता रचना के प्रस्तुत रूप तक सीमित न रहकर रचना के प्रयोजन तथा उसके स्वाभाविक प्रभाव तक जाती है – 'वह अपने विचार का उपजीव्य उन्हीं रचनाओं को बताता है जो अपने प्रयोजन में काव्य हो।' प्रो. अग्रवाल ने 'काव्य' और 'पुराण' का जरूरी अंतर स्थापित करते हुए लिखा है कि काव्य का प्रयोजन सर्जनात्मक है जबकि पुराण का नियामक यानी वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा। वे काव्य–प्रयोजन के साक्ष्य के तौर पर मम्मट को उद्धृत करते हुए काव्य के छह प्रयोजन – यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमंगलनिवृत्ति, लोकोत्तर आनंद और कांतासम्मित उपदेश – बताते हैं जो हेमचंद्र तक आते–आते 'आनंद, यश और कांतातुल्य उपदेश' ही रह जाते हैं – 'पुराणोपयुक्त संशय–निवारण से या विचार के प्रसारण से सर्वथा भिन्न आशय है इस उपदेश का... विचार की जितनी उपस्थिति काव्य की भाव सत्ता में अंतर्निहित है,

उतनी काव्यशास्त्री को स्वीकार्य है, लेकिन वह काव्य को मत–विशेष के प्रचार का कार्य नहीं मानता... ।[18]

भारतेंदु हरिश्चंद्र के उपर्युक्त लेख में 'काव्य' अपना स्वभाव बदलता है। यह जातीय उन्नति का माध्यम बन जाता है और 'सभ्यता' के आतंक के तले 'राष्ट्र की आत्मकथा' का एक हिस्सा हो जाता है। परंपरा से दूसरा बदलाव हम स्वयं कवि–कर्म के धरातल पर देखते हैं। भारतेंदु का आशय 'नागरी–लेखक' से है अर्थात् नागरी में लिखी समस्त ज्ञानराशि से। इसमें काव्य, पुराण, इतिहास, वेद सभी शामिल हैं और लेखक इस ज्ञानराशि का समाहारकर्त्ता 'धर्मोपदेशक' है। स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के टाइटिल पेज पर उद्घोषणा रहती थी – 'A monthly journal published in connection with the kavivachansudha containing articles on literatry, scientific, political and religious subjects, antiquities reviews, dramas, history, novel, poetical selections, gossip, humour and wit' ।[19] भारतेंदु के युग में 'काव्य' नागरी लिपि का वाड.मय बनकर स्वीकृत होता है। भारतेंदु अगर कानून की जानकारी देने वाले पत्र 'नीतिप्रकाश' का प्रकाशन करना चाहते थे तो बनारस कॉलेज के गणिताध्यापक पं. लक्ष्मी शंकर मिश्र से त्रिकोणमिति पर पुस्तक भी लिखवा रहे थे, जिसका आधार स्वयं अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध 'उपयोगी ज्ञान' था – 'हिंदी भाषा (देवनागरी लिपि) में विज्ञान, दर्शन, अंकादि के ग्रंथ थोड़े हैं और जो 10–5 छोटे–छोटे हैं भी वे पुरानी चाल के हैं और उनके परिभाषिक शब्द ठीक नहीं है। इस ग्रंथ (पं. लक्ष्मीशंकर के ग्रंथ) के अंत में एक निघंटु भी है जिसमें परिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी शब्द भी दिए हैं। यह इस विधा के नये–नये ग्रंथ बनाने वालों को बहुत उपयोगी होंगे पर हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि लोग त्रिकोणमिति के नये ग्रंथ रचें वे इन्हीं शब्दों का प्रयोग करें क्योंकि बहुत से परिभाषिक शब्द होने से भ्रम होता है। इसके सिवाय जब सब लोग यही शब्द लिखने लगेंगे तो हिंदी में इसका भी प्रचार होगा... ।[20] प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने जिस घटना को द्विवेदी युग में घटित होता बताया है वह भारतेंदु युग में ही घट चुकी थी – "आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी जी को केवल भावना तक साहित्य को सीमित करना अपर्याप्त लगा। इसीलिए उन्होंने साहित्य की एक नयी धारणा सामने रखी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि 'ज्ञानराशि के संचित कोश का नाम साहित्य है।' आधुनिक काल में साहित्य तेजी से बदल रहा था तो साहित्य की धारणा भी उसी गति से बदल रही थी।"[21] भारतेंदु युग में भले ही साहित्य को 'ज्ञान राशि का संचित कोश' नहीं कहा गया, परंतु 'जातीय उन्नति' के तर्क से उसे ज्ञानराशि का कोश बनाने के प्रयत्न जोर–शोर से हो रहे थे।

परंपरा से अलगाव का एक बिंदु स्वयं 'लेखक' की धारणा है। कॉपीराईट एक्ट 1849 ई. में अस्तित्व में आ चुका था। इसके आधार पर 'रचना' एक निजी संपत्ति बनी। पण्य–वस्तु के रूप में बाजार में उसका मूल्य था और 'रचना' का लेखक सार्वजनिक तौर पर रचना की 'मौलिकता' का दावेदार तथा जिम्मेदार बना। आश्चर्य नहीं कि इस

युग में विकसित पुस्तक समीक्षा की विधा में दो गुणों पर बहुत जोर दिया गया है। एक तो पुस्तक अच्छी और उपयोगी बन पड़ी है या नहीं और दूसरे यह कि रचना मौलिक है या नहीं। अच्छी और उपयोगी होने का संबंध देशहितैषिता के तर्क से खरीददारी तक जाता है और 'मौलिकता' का तर्क स्वत्वाधिकार से जुड़ता है। चौधरी पं. बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन', 'संयोगिता स्वयंवर और उसकी आलोचना' की शुरुआत ही इस पंक्ति से करते हैं – "यह ऐतिहासिक नाटक 'श्री लाला श्रीनिवासदास जी कृत, सारसुधानिधि यंत्र में मुद्रित पंडित सदानंद मिश्र द्वारा प्रकाशित जिसका मूल्य 1 रुपया है...।" इस 1 रुपया का संबंध लाला श्री निवासदास (रचनाकार) और सारसुधानिधि यंत्र के स्वामी अर्थात् प्रकाशक पंडित सदानंद मिश्र से है तथा इस संबंध को मूर्त रूप में स्थापित करने का काम किया है कॉपीराईट एक्ट ने। बहरहाल, समालोचना में 'प्रेमघन' कृति की 'मौलिकता' पर टिप्पणी करते हैं – 'इसके आगे संयोगिता की वार्ता ऐसी भ्रष्ट रीति से लिखी गई जो लिखी नहीं जा सकती। 'प्रीति सीखिए ईख सों' यह पुराना दोहा प्रथम तो बेमौका है फिर क्या साफ उड़ा लिया गया है। जब भारतवर्ष के कवियों से तृप्ति न हुई तो आप इंग्लैंड भी जा पहुँचे और... शेक्सपीयर पर हथलपकौअल कर मरचेंट ऑफ वेनिस के भी मरचेंट बन गये.. गर्चे कि इस सफहे की कुल स्पीचें मरचेंट ऑफ वेनिस से ली गई हैं....।[22]

'मौलिक' और मूल रचनाकार का सवाल इस युग में अनुवाद के सिलसिले में भी उठाया गया था। 'प्रेमघन' इस बात पर खिन्न हैं कि लोगबाग सवाल उठाते हैं कि 'हमारी भाषा में जो कुछ नये ग्रंथ बने भी हैं उनमें प्रायः अनुवादों की संख्या अधिक है।' 'प्रेमघन' का प्रतिप्रश्न है कि 'क्या अनुवाद कोई वस्तु नहीं है?' बहरहाल, उस युग के लेखक अनुवादों की भरमार से परेशान जरूर थे और उनका जोर मौलिक रचना पर था। राधाचरण जी की टिप्पणी है – 'आजकल हिंदी में ग्रंथों की संख्या बढ़ती जाती है पर ग्रंथ ऐसे नहीं बनते कि जिससे भाषा की उन्नति का नाम लिया जाय। अब तक जो ग्रंथ बने हैं.... इन ग्रंथों में एक तृतीयाँश अनुवादित वा छायामात्र होते हैं जिनसे भाषा का प्रकृत गौरव नहीं समझा जाता। हिंदी लिटरेचर में हम लल्लूजी लाल को आदि ग्रंथकार कहते हैं। इनके प्रेमसागर, बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी आदि उत्तम ग्रंथ हैं। इनकी भाषा रसीली पर बहुधा अनुवाद मात्र है....[23]

मौलिकता और मूल लेखक पर ऐसा जोर पहले की साहित्य परंपरा में नहीं मिलता। इसका एक प्रमाण स्वयं भारतेंदु युग में लिखित साहित्येतिहास 'शिवसिंह सरोज' है। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ पर अपने स्वत्वाधिकार की घोषणा ' बनाया' शब्द लिखकर की है ('बनाया' शब्द भारतेंदु युग के हर रचनाकार ने अपने स्वत्वाधिकार को जताने के अर्थ में प्रयुक्त किया है) – "शिवसिंह सरोज जिसको श्री सेंगर वंशावतंस श्रीमन्महाराजकुमार ठाकुर रंजीत सिंह सेंगर तालुकेदार कांथा जिले उन्नाव के पुत्र शिवसिंह इंसपेक्टर पुलिस ने बनाया।" ग्रंथकर्त्ता ने अपने ग्रंथ की विशिष्टता बताते हुए लिखा है कि 'इस ग्रंथ में एक हजार भाषा कवि लोगों के नाम और जीवन–चरित्र सन्

संवत् कविता समेत लिखे गए हैं।"[24] कवियों के नाम, जीवन–चरित्र, सन्–संवत् और उनकी कविता इतिहास की एक खास अवधारणा का संकेत करती है। इतिहास की इस अवधारणा में व्यक्ति (रचनाकार) और घटना (रचना) निरंतर आगे की तरफ गतिशील तिथि–वार–संवत् में घटित होने वाल 'काल' के साक्ष्य से सिद्ध होते हैं। स्वयं शिवसिंह जी ने ग्रंथ लिखने की प्रेरणा के बारे में बताया है कि 'संवत 1933 में हमने दो एक ग्रंथ भाषाकवि लोगों के जीवन–चरित्र विषयक ऐसे देखे जिन्हों में मतिराम इत्यादि ब्राह्मणों को ग्रंथकर्त्ता ने लिखा है कि वे महापात्र भाट असनी के हैं और इसी भांति बहुत–सी बातें देखि हमसे चुप नहीं रहा गया। हमने सोचा कि अब कोई ग्रंथ ऐसा बनाया चाहिए जिसमें प्राचीन और नवीन कवि लोगों के जीवन–चरित्र सहित सन्–संवत औ जाति औ कविताई के ग्रंथों समेत विस्तारपूर्वक होवैं....।"[25]

शिवसिंह सेंगर जो काम करने चले थे वह उनसे पूरी तरह से न हो सका। 'नवीन' कवियों का जीवन–चरित्र, नाम और ग्रंथ तो वे ठीक–ठीक लिख सकते थे, 'प्राचीन' कवियों का नहीं। पहली बात तो यही कि प्राचीन कवि प्रिंट के युग में नहीं पाण्डुलिपियों के युग में रहते थे। कविता 'मौखिक' हुआ करती थी, लिखित नहीं। दूसरे, प्राचीन कवि जिस विचारलोक का वासी था, वह विचारलोक 'रचना' और रचनाकार को तिथि–वार–संवत् में घटित होने वाली घटना भी नहीं मानता था। स्वयं शिवसिंह भी इसी विरासत के विस्तार थे। इसलिए इस विरासत से सचेत अलगाव की उनकी कोशिश पूर्णरूपेण सफल न हुई। 'साहित्यकोश' में यह बात दर्ज है – "यह ग्रंथ सही अर्थ में कवि–वृत्त संग्रह भी नहीं कहा जा सकता, साहित्य–इतिहास तो दूर की बात है क्योंकि कवियों के जन्मकाल आदि के संबंध में जो विवरण हैं वे भी अत्यंत संक्षिप्त और बहुधा अनुमान पर आश्रित हैं...।"[26]

साहित्य के इतिहास पर विचारोत्तेजक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए ख्यात जी. एन. देवी ने ध्यान दिलाया है कि भारतीय साहित्य की परंपरा में लगभग हर रचना अपने आरंभिक रूप में 'लिखित' है जो परवर्ती पीढ़ी को 'वाचन' के द्वारा प्राप्त हुई। 'वाचन' की प्रक्रिया में 'पाठ' परिवर्तित–परिवर्धित हुआ और यह रूप भी मूल में स्वीकृत होता चला गया। चूँकि सूत–साहित्य (देवी का सूत–साहित्य से आशय संस्कृत भाषा में मौजूद धर्मेत्तर और इहलौकिक बातों से संबद्ध साहित्य से है।) सामूहिक स्मृति और सामूहिक विरासत का हिस्सा माना जाता था, इसलिए "किसी काल–विशेष में उनकी उत्पत्ति (कि रचना कब हुई) और रचयिता व्यक्ति (किसने रचा) के ब्यौरे को सूत–साहित्य के प्रतिमान के भीतर महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था....।"[27]

देवी ने इसके अंतर्गत 'महाभारत' और 'रामायण' का उदाहरण दिया है और लिखा है कि महाभारत की रचना–प्रक्रिया और उसके संचरण का पता स्वयं महाभारत के बारे में प्रचलित कथा देती है। इस काव्य के रचयिता महाभारत युद्ध के साक्षी वेदव्यास माने जाते हैं। उन्होंने इसकी रचना 'जय' अथवा 'इतिहास' नाम से की। मूल

रचना 24000 श्लोकों की थी। कहा जाता है कि व्यास ने अपने पाँच शिष्यों को यह काव्य सुनाया और पाँचों ने इसका अलग–अलग वाचन किया। इन्हीं शिष्यों में से एक थे वैशम्पायन (भारतेंदु महाभारत को वैशम्पायन–कृत मानते हैं)। इन्होंने जनमेजय के नागयज्ञ में 'महाभारत' का वाचन किया। इस अवसर पर मौजूद लोमहर्षण ने इसे सुना और नैमिषारण्य में ऋषि शौनक को सुनाया। इस समय तक 'जय' के श्लोकों की संख्या 60000 तक पहुँच चुकी थी। "इसके बाद भी परवर्ती पीढ़ी के कवियों ने इसमें श्लोक जोड़ना जारी रखा और इसके परिणामस्वरूप इसका (महाभारत का) वर्तमान पाठ 100000 श्लोकों का है....।"[28]

शिवसिंह जी जिन कवियों के नाम–पते खोज रहे थे, परंपरा ने उन्हें व्यक्तिगत तौर पर तो बेनाम–बे–पता कर रखा था, लेकिन परंपरा ने उन्हें 'बेठिकाना' नहीं रखा। उसने सामूहिक चेतना और स्मृति का पूरा आकाश उन्हें सौंप दिया था जिसमें एक कवि का श्लोक दूसरे तक पहुँचकर बदल और बढ़ सकता था, और इस तरह कथा जारी रहती थी। यह परिघटना किसी भी गैर–भारतीय आधुनिक व्यक्ति के लिए आश्चर्यजनक है। देवी ने मिल्टन सिंगर को यह कहते हुए उद्धृत किया है – 'भारत जाने से पहले छपी हुई पुस्तकों में रामायण, महाभारत और भागवत पुराण नाम से उपलब्ध इन कथाओं को मैं जानता था और कुछ हिस्से 'अनुवाद' के रूप में पढ़ा भी था... भारत में कभी–कभार ही मुझे कोई ऐसा मिला जिसने इन कथाओं को मेरी तरह छपी हुई पुस्तकों में पढ़ा हो.. न तो वे (भारतीय) इन्हें (कथाओं को) इस तरह सीखते हैं और न ही इस रूप में सोचते हैं। हरिश्चंद्र, राम और सीता, कृष्ण–अर्जुन और प्रह्लाद से जुड़ी घटना और पात्रों के साथ (भारतीयों में) आत्मीयता का गहरा बोध पाया जाता है मानो कथाओं का संसार ही रोजमर्रा की जिंदगी का भी संसार हो... सांस्कृतिक और भौतिक भूदृश्य (लैंडस्केप) शब्दशः और कल्पतः उन पर अंकित होता है...।"[29]

शिवसिंह अगर प्राचीन कवि और उनकी कविता के बीच पूर्वापर संबंध ठीक–ठीक नहीं बैठा सके तो इसलिए कि जिस सांस्कृतिक आकाश में वे मूल पाठों और मूल लेखकों को अपने नये इतिहासबोध से खोज रहे थे उसमें लेखक और पाठ के बीच कोई बँधा–बँधाया पूर्वापर संबंध नहीं था। इसके अलावा स्वयं शिवसिंह का इतिहासबोध भी इतिहास के भारतीय विभावन से अलग हो चुका था। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने इतिहास के भारतीय विभावन को स्पष्ट करते हुए लिखा है – "इतिहास का विषय है :

आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवार्षचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक।।

तथा इतिहास का आदर्श है :

धर्मार्थकाम मोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।"

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार 'कठिनाई... इतिहासविषयक इसी विलक्षण दृष्टिकोण के कारण रही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ–चतुष्टय में मानव सभ्यता का प्रत्येक क्षेत्र अंतर्मुक्त हो जाता है...।[30]

भारतेंदु का उपर्युक्त लेख साहित्य और साहित्यकार की अवधारणा में बदलाव को तो इंगित करता ही है; वह 'देश' के 'राष्ट्र' बनने और उसमें छपाई के संसार की निर्णायक भूमिका की तरफ भी इशारा कर देता है। भारतेंदु लिखते हैं कि 'लेखक (ग्रंथकार) धर्मोपदेशक की नाई इधर–उधर यहाँ–वहाँ धर्मोपदेश नहीं देता फिरता', बल्कि 'लेखन प्रणाली और मुद्रण यंत्र के सहारे' अब 'एक ही समय में एक दूसरे से बहुत दूर बसे हुए अनेक स्थानों पर अपनी शिक्षाओं को सुनाता है।' वे इस प्रक्रिया में हुए उलटफेर को चिह्नित करते हैं – 'यह लेखन कार्य भूतकाल और दूर देश की घटनाओं को एक अद्‌भुत नवीन रूप से वर्तमान समय में हमारे सामने ला धरता है, तीनों काल और पृथ्वी पर के समस्त स्थानों के साथ इस हमारे वर्तमान समय और इस हमारे स्थान का जहाँ हम हैं अनंत काल के लिए विचित्र सम्मेलन कर देता है...।"[31] भारतेंदु यहाँ एक नई चीज की पहचान कर रहे हैं और शब्द भले ही दूसरे हों, परंतु उस प्रक्रिया की तरफ इशारा कर रहे हैं जिसमें 'जातीयता' अथवा 'राष्ट्रीयता' छापे के पूँजीवाद के माध्यम से एक 'कल्पित समुदाय' के रूप में साकार होती है।

राष्ट्रवाद विषयक अपने महत्त्वपूर्ण अध्ययन में बेनेडिक्ट एंडरसन ने छापे के पूँजीवाद (Print Capitalism) का संबंध 'राष्ट्र' के रूप में गढ़े गए 'कल्पित' समुदाय से स्थापित किया है। 'कल्पित' का अर्थ यहाँ 'झूठ' से नहीं बल्कि आभासी यथार्थ से है। ऐसा यथार्थ जिसका निर्माण प्रिंट की तकनीक के माध्यम से रचित किसी भाषिक संसार में होता है। 'कल्पित' से एंडरसन का आशय उस प्रविधि से भी है जो समुदाय का गठन करती है – "समुदाय की पहचान उनके यथार्थ/अयथार्थ होने से नहीं, बल्कि उस शैली से की जाती है जिसके द्वारा उनकी कल्पना की गई हो।"[32] एंडरसन ने 'राष्ट्र' को कल्पित करने की दो बुनियादी प्रक्रियाएँ बतायी हैं। ये प्रक्रियाएँ धार्मिक समुदाय और वंशाधारित समाज के सांस्कृतिक मूल को राष्ट्रीयता के बोध में तब्दील करती हैं। पहली प्रक्रिया छापे के पूँजीवाद की है जो समाचार–पत्र तथा अन्य मुद्रित, लोकप्रिय साहित्य–विधाओं के माध्यम से एक बड़े भूगोल में मुद्रित भाषा को पहुँचा देता है। मुद्रण की तकनीक मुद्रित भाषा के माध्यम से एक बड़े भूगोल को 'राष्ट्र' रूप में सोचने के साधन मुहैया कराती है। छापे का पूँजीवाद अपने विस्तार के लिए जिस तरह के आख्यान के रूपों को चुनता है (कथा, उपन्यास, पाठ्यपुस्तक आदि), उसमें अतीत की धर्मसत्ता, उसका मिथक और इतिहास एक साथ जुड़ जाते हैं। मानो किसी भूत और भविष्य का वर्तमान की तात्क्षणिकता में युगपत् अस्तित्व हो। बोध के इस विचित्र घालमेल को तिथि–वार और संवत् में मापना संभव हो जाता है। काल के इस नये बोध के साथ आधुनिक राष्ट्र के नागरिक, जो व्यक्तिगत तौर पर कुछ ही सह–नागरिक से

सम्बद्ध होते हैं, एक पूरे सहधर्मी–समधर्मी समुदाय की कल्पना कर लेते हैं। इस समुदाय की 'स्वायत्तता, निरंतरता और समकालिकता' पर उनका पूरा विश्वास होता है।

राष्ट्र के बोध के जगने की दूसरी प्रक्रिया एंडरसन ने उपनिवेशवाद के रूप में बताई है। उपनिवेशों का शिक्षित मध्यवर्ग दोहरे तौर पर अकेला था। एंडरसन के अनुसार अपनी पश्चिमी शिक्षा और नजरिए के कारण यह मध्यवर्ग उपनिवेश बनाने वाले देश के साथ अपनी पहचान स्थापित करता था, पर उपनिवेशकर्ता देश उन्हें अपने से ओछा मानता था। देसी प्रजा के नुमाइंदों की योग्यता भले ही श्रेष्ठतर हो लेकिन उन्हें प्रशासनिक ढाँचे में ऊँचे पद नहीं मिलते थे। यह मध्यवर्ग अपने स्थानीय संदर्भों से भी कट चुका था (राधाचरण जी के शब्दों में 'माया मिली न राम')। एंडरसन के अनुसार यही 'अलग–थलग पड़े द्विभाषी बुद्धिजीवी' जो 'अपनी स्थानीयता की जड़' छोड़ चुके थे और जिन्हें साम्राज्यवादी ढांचा बराबरी का दर्जा देने के लिए तैयार नहीं था, बाध्य होकर 'राष्ट्र' के रूप में अपने वैध स्थान की कल्पना कर रहे थे।[33]

भारतेंदु स्वयं उसी बुद्धिजीवी की श्रेणी में आते हैं जिसकी पहचान एंडरसन ने 'अलग–थलग पड़े द्विभाषी बुद्धिजीवी' के रूप में की है। भारतेंदु काल के लेखकों का दोहरा अलगाव (अपने समाज और अंग्रेजी शासन से) लक्ष्य किया जा सकता है। भारतेंदु ने स्वयं लिखा है – 'सचमुच अब तो तपस्या करके गोरी कोख से जनम लें तो संसार में सुख मिले'[34] और वे एक जगह यह भी लिखते हैं – "जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जायेंगे, दरिद्र न होंगे, कैद न होंगे वरंच जान से मारे न जायेंगे तब तक कोई भी देश न सुधरेगा'...।[35] एंडरसन की यह बात तो सटीक है कि छापे के पूँजीवाद ने 'राष्ट्र' के बोध को गढ़ने और 'समुदाय' के रूप में स्वयं की 'कल्पना' करने में उपनिवेशों के बुद्धिजीवियों की मदद की। लेकिन पार्थ चटर्जी ने सवाल उठाया है कि अगर उपनिवेशों में भी राष्ट्रवाद उसी 'मॉडल' पर पनपा जैसे कि योरोप में तो फिर 'उपनिवेश' के पास अपने राष्ट्रवाद की 'कल्पना के लिए बचा ही क्या'?[36] 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का हिंदी लोकवृत्त छापे के पूँजीवाद का साक्ष्य जरूर है और इसी कारण जातीय साहित्य की अवधारणा को गढ़ पाना संभव हो पाता है। प्रिंट (मुद्रण) जातीय भाषा के विकास का माध्यम बनता है, लेकिन प्रिंट की यह दुनिया एक ही साथ सभी साक्षरों के लिए खुलती है। ऐसे में यह एकमत–पसंद 'स्पेस' का नहीं, बल्कि बहुमत–पसंद 'स्पेस' का निर्माण करती है। मुद्रण का आकाश बहुलस्वरी होता है। इस बहुलस्वरी दुनिया में में 'दुभाषी बुद्धिजीवियों' के पास अपने 'समुदाय' की कल्पना करने के लिए असंख्य संभावनाएँ पैदा हो जाती हैं। प्रिंट की बहुलस्वरी दुनिया में भारतीय संस्कृति के कई आख्यान तैयार होते हैं। किसी एक स्वर का दबदबा नहीं रह जाता। अपने आत्म को उपनिवेशीकृत होने से बचाने की छटपटाहट में इतिहास को एक तरह से नहीं कई तरह से गढ़ा जाता है। अगर भारतेंदु भारतवर्ष की कल्पना 'वैष्णवता' के आधार पर करते हैं तो दयानंद सरस्वती 'आर्यधर्म' के आधार पर। एक अगर भक्ति की निरंतर इहलौकिक होती सर्वसमावेशी परंपरा का

रेखांकन करता है तो दूसरा वेद–परंपरा पर आधारित भारत का प्रस्ताव करता है। पार्थ चटर्जी का यह निष्कर्ष सटीक है कि भारतीय मध्यवर्ग ने जो राष्ट्रीय संस्कृति गढ़ी वह 'आधुनिक तो थी लेकिन पश्चिमी नहीं।'[37]

भारतेंदु हरिश्चंद्र का निबंध 'लेखक और नागरी लेखक' हिंदी साहित्य के इतिहास में 'पब्लिक मेन' के उदय का एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। यह 'पब्लिक मेन' सिर्फ पुस्तकें नहीं, बल्कि सभा–सोसायटी भी कायम करता है, स्कूल–कॉलेज खोलने–चलाने के प्रयत्न करता है और राजनीति की 'पाठशाला' 'म्युनिसिपलिटी' में पार्षद बनकर अपने समुदाय की नुमाइंदगी करता हुआ जनकल्याण (public good) के मुद्दे उठाता है। चूँकि इस 'पब्लिक मेन' ने मुद्रण यंत्र के सहारे फैले अक्षर के विराट संसार में भारतीय संस्कृति के आख्यान रचे और यही संसार हिंदी बुद्धिजीवियों के निर्माण की आधारभूमि साबित हुआ, इसलिए यहाँ हिंदी से संबंधित प्रेस और प्रकाशन की चर्चा प्रासंगिक होगी।

प्रेस और प्रकाशन

पश्चिमोत्तर प्रांत में मौजूद 'देसी प्रेस' के बारे में पहली रिपोर्ट सन् 1848 ई. की है। इसमें दिल्ली के 7, आगरा के 5, बनारस के 2 और बरेली, मेरठ तथा शिमला में एक–एक 'नेटिव प्रेस' होने की बात स्वीकार की गई है। कानपुर का जिक्र इसमें नहीं है। इसी कारण इस आँकड़े के अधूरे होने की संभावना पुष्ट होती है। फ्रेंचेस्का ओरसिनी के आकलन के अनुसार सन् 1840 ई. तक 40 'नेटिव प्रेस' खुल चुके थे और सन् 1857 ई. के 'गदर' के कारण इनकी संख्या में बढ़ोतरी रुक गई। लेकिन सन् 1865 ई. तक 'देसी प्रेस' की संख्या 60 तक पहुँच गई और इसके बाद इनकी संख्या में लगातार बढ़ोत्तरी हुई।[38] 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रेस के विस्तार का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि प्रतापनारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' का पहला अंक (मार्च 1883) नामी प्रेस (लीटो–प्रिंटिंग) कानपुर से छपा। पर इसके तुरंत बाद इस पत्र ने अपने प्रेस लगातार बदले। यह पत्र अप्रैल 1883 ई. से नवंबर 1883 तक बाबू अमीर सिंह द्वारा हरिप्रकाश यंत्रालय, दिसंबर 1885 से मार्च 1885 तक शुभचिंतक प्रेस कानपुर, अप्रैल 1885 में मर्चेंट प्रेस, कानपुर, मई 1885 से दिसंबर 1885 तक मुंशी गंगाप्रसाद एंड ब्रदर्स (लखनऊ), जनवरी और फरवरी 1886 ई. में शाहजहाँपुर स्थित पं. गयादीन बाजपेयी के भारतभूषण यंत्रालय से छपा। इसके बाद एक वर्ष पांच माह तक यह पत्र बंद रहा। अगस्त 1887 से सितंबर 1889 तक यह शुभचिंतक प्रेस कानपुर, अक्टूबर 1889 ई. से जून 1890 तक हनुमत प्रेस (कालाकांकर) और 1890 से जुलाई 1894 ई. तथा उसके आगे के वर्षों में महाराज बाबू रामदीन सिंह द्वारा खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना से छापा गया।[39] इस तरह इस 'पत्र' ने सन् 1883 से 1890 के बीच छपाई के लिहाज से कानपुर, शाहजहाँपुर, लखनऊ, कालाकांकर और पटना तक की यात्रा की।

स्थान के इस बदलाव का कारण था पत्र के संपादक की आर्थिक तंगी – "हमारे कई मित्रों ने 'ब्राह्मण' के बंद हो जाने की सूचना पढ़ के खेद प्रकाशपूर्वक पूछा है कि क्या इसे बचा सकते हो?... उत्तर में हम निवेदन करते हैं कि हमारा हृदय घटी उठाते–उठाते और धोखा खाते–खाते निस्संदेह ऐसा हो गया है कि मौखिक आश्वासन से अब इस पर कुछ असर नहीं होता... जो लोग सचमुच इसे बचाना चाहते हैं वे निम्नलिखित तीन उपायों में से कोई अवलम्बन करके रक्षा कर सकते हैं। पहिला उपाय यह है कि कोई सामर्थ्यवान इसकी घटी का बोझ उठा ले नफा हो तो हम उसका लेखा दे दिया करेंगे। दूसरा यह है कि कोई सब प्रबंध अपने हाथ में ले ले और ग्राहक बढ़ाने में सदा यत्नवान रहा करे... तीसरे, दस पुरुष एकत्र होके एक–एक रुपया महीना पेशगी जमा कर दिया करें और आमदनी अपने पास रखा करें तो भी काम चल जाने की संभावना है...।"[40] आर्थिक कारण के अतिरिक्त इस पत्र का इतनी जगहों से छप पाना इसलिए भी संभव हो सका कि, स्वयं प्रतापनाराण मिश्र के शब्दों में – "डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात जान सकते हैं....।"[41]

डाक और तार का उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रेस और प्रकाशन से निर्णायक रिश्ता था। इसने मुद्रित सामग्री के संचरण में मूलगामी बदलाव किए। टेलीग्राफ (तार) की लाइनों का जाल इस युग में तेजी से बढ़ा। डेविड अर्नाल्ड ने टेलीग्राफ प्रणाली के तीव्रतर विस्तार को रेखांकित करते हुए लिखा है – "सन् 1851 ई. में मात्र कुछ ही मील इसकी लाइन थी लेकिन सन् 1856 तक यह 4250 मील का विस्तार पा चुका था और इससे भारत में 46 सूचना–प्राप्ति केंद्र जुड़ चुके थे; इसकी लाइनों का विस्तार कलकत्ता से आगरा और पश्चिमोत्तर तक था और बम्बई, मद्रास तथा ऊटकमंड आपस में सम्बद्ध हो गये थे। सन् 1865 ई. तक टेलीग्राफ के लाइन की लंबाई 17500 मील तक पहुँच गई और सदी के अंत तक इसका विस्तार 52900 मील तक जा पहुँचा...।"[42] समाचार एजेंसियों का कामकाज भी इसी कारण फैला और 'बात' की बात में चाहे जहाँ की बात' अखबार में छपना संभव हो सका। सन् 1866 में समाचार एजेंसी रॉयटर ने भारत में अपनी सेवाएँ शुरु कीं। देसी पत्र आर्थिक तंगहाली के कारण 'रॉयटर' से समाचार नहीं खरीद पाते थे। इस कारण, सन् 1858 ई. में नवलकिशोर प्रेस से उर्दू में छपने वाले 'अवध अखबार' के लिए मुंशी नवलकिशोर ने देश के बड़े शहरी ठिकानों पर अपने संवाददाता नियुक्त किए। कहा जाता है कि हर जिले और हर रजवाड़े में अंग्रेजी हुकूमत तथा मुंशी नवलकिशोर के संवाददाता मौजूद थे।[43] हिंदी के कुछ अखबार अपने संवाददाता बहाल करने के बजाय 'अखबार' मुफ्त देने का आश्वासन देते थे और ग्राहकों से घटना की खबर भेजने का अनुरोध करते थे। टेलीग्राफ से प्राप्त समाचार को कुछेक अखबार अपनी ग्राहकी बढ़ाने के लिए बतौर 'विशेष आकर्षण' भी इस्तेमाल करते थे। मिसाल के तौर पर, 'भारतमित्र' अखबार ने अपने एक अंक (20) में एक विज्ञापन छापा – "काबुल की लड़ाई के समाचार जो रोज–रोज तार से आते हैं हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि में छापे जायेंगे.. जिन लोगों को इस तार के समाचार को नित्यप्रति लेने

की इच्छा होय उनसे निवेदन है कि शीघ्र ही एक महीने का अग्रिम मूल्य आठ आने 'भारतमित्र' के ऑफिस... में जमा करा दें और अपना पता–ठिकाना लिखा दें। ऐसा करने से उन लोगों के ठिकाने पर रोज–रोज तार के समाचार आवेंगे...।" विज्ञापन ऐसे समाचार का फायदा बताता है – "जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते वे लोग इसको पढ़ने से काबुल की लड़ाई का सब हाल अच्छी तरह से रोज–रोज मालूम कर सकेंगे और किसी अंग्रेजी पढ़े हुए आदमी से पूछने की आवश्यकता नहीं रहेगी....।"[44]

'डाकघर' ने भी प्रेस और प्रकाशन के व्यवसाय को नया आयाम दिया था। पुस्तक और अखबार 'चाहे जो कहीं से' पहुँच सकते थे। राधाचरण जी वृन्दावन में बैठे इसी कारण फर्रूखाबाद से दयानंद की पुस्तकें और बनारस से 'अंग्रेजी प्राइमर' मँगा सकते थे अथवा वृंदावन से ही कलकत्ते के 'सारसुधानिधि' में छपने के लिए लेख भेज सकते थे।[45] डाक के ही बूते भारतेंदु हरिश्चंद्र 'वैष्णवधर्म' के बारे में अपनी खास जिज्ञासा कि 'रूपसनातन गोस्वामी जी की जाति क्या थी' – का शमन राधाचरण जी से कर रहे थे। इस तरह डाकघर ने मुद्रित पृष्ठों को ग्राहकों तक पहुँचाने में योग किया। लेकिन डाक–व्यय ग्राहकी में एक बड़ी बाधा की तरह भी था। इस समय के सारे प्रकाशक अपनी पुस्तक अथवा पत्र के ग्राहक को यह बताना नहीं भूलते कि पत्र की कीमत 'वार्षिक डाक–व्यय' सहित अथवा 'बरस की मुशगी में डाक महसूल' कितने रुपये है।[46] पत्र–मालिकों के लिए 'डाक–व्यय' अपने धंधे में एक बाधा की तरह था। सन् 1869 में नवलकिशोर प्रेस के मालिक मुंशी नवलकिशोर ने डाक–व्यय में कमी के लिए एक अभियान छेड़ा और इसमें उत्तर भारत, कलकत्ता तथा बंबई के 25 प्रभावशाली पत्र–मालिकों तथा संपादकों को साथ लेकर इस आशय की अर्जी 'सरकार' को दी। डाक–व्यय में कमी की यह अर्जी खारिज हो गई। लेकिन, सरकार ने सन् 1871 ई. में डाक–व्यय में 50 प्रतिशत की कमी की और इसके बाद अखबारों की दुनिया में नये नाम तो जुड़े ही', पुराने अखबार मसलन 'अवध अखबार' की प्रसार संख्या भी बढ़ी।[47]

फ्रेंचस्का ओरसिनी के अनुसार[48] उत्तर भारत में प्रेस और प्रकाशन का इतिहास लगभग 1830 ई. से शुरु होता है। इस वक्त तक लखनऊ और कानपुर में लीथो–प्रेस की स्थापना हो गई थी। प्रेस का विस्तार ब्रिटिश प्रशासन के प्रमुख शहर और छावनी से जुड़ा हुआ है। आगरा, कानपुर और मेरठ जैसे शहर छपाई की मशीन हासिल करने वाले पहले शहरों में हैं। मिशनरी स्कूल बुक सोसायटियों तथा रजवाड़ों के कारण भी दिल्ली, लखनऊ और बनारस जैसे शहरों में प्रकाशन का व्यवसाय शुरु हुआ। तीर्थस्थलों मसलन, मथुरा और बनारस में प्रकाशन व्यवसाय के प्रारंभ होने का एक कारण यह भी था कि यहाँ पुरानी चाल के पढ़े–लिखे लोग श्रमशक्ति के रूप में मौजूद थे और प्रकाशन का बाजार भी उपलब्ध था।

19वीं सदी के प्रथमार्द्ध में प्रकाशन जगत ज्यादा विस्तृत नहीं हो पाया था। रेल, डाक, तार आदि संचार माध्यम भी इस वक्त तक या तो भारत में स्थापित नहीं हुए थे

या उनका विस्तार नहीं हो पाया था। प्रकाशन–व्यवस्था संरक्षण पर निर्भर था। स्थानीय राजा, रईस और सरकार ही पुस्तक–विशेष को बड़ी संख्या में छापने के आदेश दिया करते थे। 'संरक्षण' प्राप्त न होने की सूरत में प्रकाशक–संपादक के लिए बाजार का आसरा था, परंतु 'पाठक वर्ग' बहुत सीमित था।

फ्रेंचेस्का ओरसिनी का निष्कर्ष है कि सन् 1860 ई. के बाद हिंदी में प्रकाशन व्यवसाय गति पकड़ता है। इसके पहले प्रकाशन–व्यवसाय में फारसी–उर्दू की पुस्तकों पर जोर है। सन् 1860 ई. तक हिंदी भाषा में स्कूली पाठ्यपुस्तक और धार्मिक–पुस्तकें ही ज्यादातर छपती थीं। स्कूली पाठ्यपुस्तक शिक्षा विभाग तथा मिशनरी सोसायटी छपवाती थीं और धार्मिक पुस्तकों के केंद्र थे तीर्थस्थल, खासकर मथुरा और बनारस। सन् 1860 और 1870 के दशक में आगरा और मथुरा के प्रेस मालिकों ने 'किस्सा' और 'संगीत' भी छापना शुरु किया। सन् 1860–70 के दशक तक हिंदी में 'प्रकाशन' की दुनिया व्यावसायिक तर्ज पर अपना बाजार तलाश चुकी थी।

ऐसा नहीं है कि 1860 के बाद के समय में 'संरक्षण' महत्त्वपूर्ण न रहा हो। हिंदी के कुछ अखबार तो संरक्षण के दम पर ही निकले और चल सके। बालकृष्ण भट्ट अपने पत्र 'हिंदी प्रदीप' के बारे में लिखते हैं – "हमारा आर्थिक कष्ट निवारण निमित्त उदयपुराधीश महाराणा संजय सिंह बहादुर ने एक बार हमें सौ रुपये दिए और एक बार रीवां के श्री महाराजा साहब बहादुर ने पचास रुपये। एक बार बहुत संकीर्ण दशा में आ गये थे और पक्का इरादा हो गया था कि इसे (हिंदी प्रदीप) बंद कर दें। उस समय नागरीप्रचारिणी सभा के मुख्य अधिष्ठाता बाबू श्यामसुंदर दास ने पचास रुपये चंदा देकर हमारी संकीर्णता हटायी और पत्र फिर ढुलक चला।"[49]

'पत्र' संरक्षण के बूते जीवित ही नहीं रहे, उनमें संरक्षण पाने की होड़ भी मची रहती थी। जिस 'पत्र' को सरकार अथवा किसी रजवाड़े की कृपा प्राप्त हो जाती थी वह 'पत्र' ईर्ष्या का विषय बन जाता था। 'पत्र' किसी राजा का अपने लेखों के बारे में प्रशंसा–पत्र पाना सौभाग्य समझते थे क्योंकि इससे उनकी विश्वसनीयता (जाहिर है, तब ग्राहकी भी) बढ़ती थी। 'सारसुधानिधि' के लेखों से प्रभावित होकर महाराजा जयपुराधीश ने उसे एक प्रशंसा–पत्र भेजा था। 'सारसुधानिधि' ने यह पत्र छाप दिया। इससे 'भारतमित्र' को चिढ़ हुई। उसमें एक गुमनाम पत्र छपा कि 'सारसुधानिधि' में छपा बहुचर्चित लेख 'भारतवर्ष में प्रतिनिधि शासन प्रणाली की आवश्यकता' बांग्ला के पत्र 'सोमप्रकाश' और 'नवविभाकर' में प्रकाशित 'प्रतिनिधिशासन प्रणाली' का उल्था है। उसमें मौलिकता नहीं है। इस आरोप का निराकरण काशी की पत्रिका 'कविवचनसुधा' ने किया। 'कविवचनसुधा' का यह निराकरण भी 'सारसुधानिधि' ने छापा। 'कविवचनसुधा' ने तनिक आश्चर्य के साथ पूछा था कि – 'भारतमित्र के संपादक को दो–तीन सप्ताह से हो क्या गया है जो द्वेषी पत्रों को आंख मूंदे प्रकाश कर देते हैं' और सलाह दी कि 'यदि पत्र–संपादक लोग परस्पर वैमनस्य धारण करेंगे तो देशोन्नति हो चुकी।' उदयपुर

के राजा सारसुधानिधि के ग्राहक थे और उसे राजनोचित 'मर्यादा' का पालन करते हुए मोटी रकम भी देते थे। जब वयोवृद्ध पं. सदानंद मिश्र 'सारसुधानिधि' को बंद करने के कगार पर थे तो 'उदयपुराधीश' ने उन्हें सहायता राशि भेजी थी। 'महाराज' के निजी सचिव महादेव मुखर्जी ने पं. सदानंद मिश्र को राजा के आदेश पर चिट्ठी में लिखा – "I beg to enclose here with first halves of currency notes for Rs.300 (three hundred) as per memo at foot, which His Highness will thank you to accept as a donation to the Sarsudhanidhi. The remaining halves will be sent as soon as His Highness hears from you।"[50] यह चिट्ठी 17 जनवरी 1880 को लिखी गई थी।

हालांकि सारसुधानिधि कलकत्ते का पत्र था लेकिन उपर्युक्त घटना से इस बात पर तो प्रकाश पड़ता ही है कि हिंदी के पत्र चाहे जहाँ से निकल रहे हों 'संरक्षण' उनके प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण घटक था। 'हिंदी प्रदीप' तो संरक्षण के ही बूते बचा। 'पत्रों ने अपने ग्राहकों के लिए अलग–अलग दाम भी निर्धारित कर रखे थे। इससे पता चलता है कि 1857 ई. के बाद स्थापित दोहरे चरित्र वाली (सामंती और उदारवादी) राजव्यवस्था में अखबारों की हैसियत मात्र सूचना–प्रदाता अथवा मनोरंजन के साधन के रूप में न थी, अखबार ग्राहक की हैसियत को साबित करने वाला और उसे शेष जन से 'अलग तथा विशिष्ट' बताने वाले प्रतीक के रूप में स्वीकृत था। 'सारसुधानिधि' की ग्राहकी के एक नियम में यह भी था – "राजा–महाराजाओं के सम्मान के रक्षा के निमित्त साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उन लोगों से (राजा–महाराजाओं से) दूना दाम लिया जाएगा।"[51] अखबार यों तो 'सर्वसाधारण के हित' में अपने को प्रकाशित बताते थे लेकिन उनकी पहुँच सर्वसाधारण तक थी ही नहीं। अखबारों का 'सर्वसाधारण', क्लर्की और स्कूल शिक्षक अथवा स्कूल इंस्पेक्टर पद के लिए शिक्षा प्राप्त करता शहरों में आबाद होता छोटा–सा तबका था। 'हिंदी प्रदीप' की ग्राहक–सूची को देखने से पता चलता है कि उसके कुल दो सौ ग्राहकों में ज्यादातर स्कूल इंस्पेक्टर, पुलिस महकमे में सब–इंस्पेक्टर, सभा या सोसायटी के सेक्रेटरी, स्कूल के हेडमास्टर, वकील, पत्र के संपादक अथवा पुस्तकालयों के सचिव आदि हैं। प्रकाशन व्यवसाय के भीतर हिंदी के पत्रों की ग्राहकी इन्हीं तक सीमित थी और यह वर्ग शेष समाज से अपने को 'विद्या' के बल पर श्रेष्ठ समझता था। 'अखबार' इस श्रेष्ठता के प्रतीक थे और इस छोटे–से मध्यवर्ग को शेष समाज से एक अलग पहचान देते थे। इस पहचान का माध्यम बनती है स्वयं नागरी अक्षरों में लिखी गई हिंदी भाषा।

आश्चर्य नहीं कि अपने वक्त के साक्षर समाज को 'हिंदी प्रदीप' ने तीन हिस्सों में बाँटकर देखा और 'हिंदी के जीवनदान' की संभावनाओं को बंद पाकर निराशा प्रकट की। 'हिंदी प्रदीप' के अनुसार 'देश' के लोग तीन हिस्सों में बंटे हैं – पूर्ण शिक्षित, शिक्षित और अर्द्ध–शिक्षित। "पूर्ण शिक्षित वह है जो बड़े से बड़ा इम्तहान पास कर पूर्ण प्रज्ञ अथवा पूर्ण विद्वान, फजीलत की पगड़ी बाँधे... सोते–जागते अंगरेजी–अंगरेजी पुकार रहे हैं... उनके उद्योग और चेष्टा का अंतिम छोर इसी में है कि हिंदुस्तानीपन की बू

हमसे किसी प्रकार दूर हो, जब तक इसका लेशमात्र भी बना रहेगा... तब तक हमारा कल्याण सर्वथा असंभव है...।" शिक्षित जनों ने हिंदी प्रदीप के हिसाब से 'रोटी कमाय पेट भर लेने को थोड़ा–थोड़ा सब सूँघ रखा" है, लेकिन इनमें "तृतीयाँश मौलवी साहब को अपना महामान्य बैठे हैं" (इशारा 'खत्री हितकारी' और 'कायस्थ समाचार पत्र' की तरफ है जो उर्दू में निकलते थे) और शेष में 'उतनी योग्यता कहाँ जो बंग भाषा के समान अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के सद्ग्रंथ और सुप्रसिद्ध ग्रंथकर्ता लेखकों के लेख का हिंदी में अनुवाद करें"....। अर्द्ध–शिक्षितों के बारे में (भट्टजी इन्हें 'अशिक्षित' भी मानते हैं) भट्ट जी का कहना है कि "सब के सब मुड़िया अक्षर महाजनी के स्नेही रामागती वाले हैं, तुलसीकृत रामायण पढ़ लेना मात्र मानों उनकी शिक्षा का छोर है, धन ऐसे लोगों के पास बहुत है... पर उस धन से कहो कभी हिंदी का उपकार हो सो कभी संभव नहीं.... उनके धन का कहाँ ऐसा भाग्य कि वह हिंदी के सुलेखक विद्वानों के पास जाय, उसे तो कुमार्ग अपव्यय होना बदा है..."। इसके अतिरिक्त पढ़े–लिखे लोगों में भट्ट जी संस्कृत के पंडितों को शामिल करते हैं और हिंदी को संस्कृत की ही 'अंग–लालिता कन्या' बताते हुए कहते हैं कि पंडितगण शुष्कवाद में पारंगत हैं परंतु लिखने को कहो तो (हिंदी में) "एक पंक्ति भी शुद्ध न लिख सकेंगे वरन् हिंदी का लिखना–पढ़ना अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं।" शिक्षितों में भट्टजी कायस्थों और खत्रियों को भी गिनते हैं परंतु "दस वर्ष (1877 ई.) से कायस्थ समाचार निकलता है तथा उसी ढंग पर हाल में खत्री हितकारी निकलने लगा है, परंतु दोनों उर्दू में।" भट्ट जी के अनुसार कायस्थों की 'समाज की समाज' बाल्यावस्था से ही "उर्दू, फारसी के अनुशीलन से महामलेच्छ" हो गई है और ये लोग "हिंदूपन की बुनियाद हिंदी का मूँड़ काटने को तैयार हैं।" भट्टजी का खत्रियों के उर्दू–प्रेम के प्रति धिक्कार स्पष्ट है – "धिक्कार इसे हम खत्री हितकारी कहैं या खत्री अधिकारी।"[52]

शिक्षित समाज में हिंदी के लिए कोई आशा न देखकर भट्ट जी हिंदी की एकमात्र आशा कचहरियों को बताते हैं – "कचहरियों में इनका प्रवेश होकर राज्यभाषा की जाय, तभी मुमकिन नहीं चाहे आप हजारों वर्ष तक सिर पटकते रहिए तब इस मृत हिंदी के पुनरुज्जीवन की कौन आशा है।" भट्ट जी "जिस बात में केवल समाज और धर्म का संबंध हो उसमें" जो लोग हिंदी का प्रवेश नहीं करते "उन्हें हिंदू कहने की हिम्मत' नहीं करते। स्पष्ट ही है कि देवनागरी में लिखी हिंदी और उसके लेखक अपने समाज में खुद को बड़ी कम संख्या में पा रहे थे। इन्हीं लेखकों ने 'हिंदी' को 'हिंदूपन' की बुनियाद साबित करके हिंदी–लोकवृत्त के भीतर हिंदी–राष्ट्रीयता का आख्यान तैयार किया। प्रेस और प्रकाशन इसमें मददगार हुए।

फ्रेंचेस्का ओरसिनी जब 1860 ई. के बाद हिंदी प्रेस और प्रकाशन को व्यावसायिक स्तर पर गतिशील होता बताती हैं तो उनका इशारा मात्र हिंदी अखबारों की संख्या में वृद्धि अथवा उनमें छपने वाले विज्ञापनों की तरफ नहीं है। वे हिंदी प्रकाशन के उस खुलते हुए संसार की तरफ इशारा करती हैं जिससे हिंदी का लेखक

अपना व्यावसायिक रिश्ता बना रहा था। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में और श्रीनारायण चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी का आदिकाल' में हिंदी की आरंभिक पत्र–पत्रिकाओं की सूची दी है। इन दोनों सूचियों को मिलाकर देखा जाय तो पता चलता है कि 'उदंत मार्त्तण्ड (सं. युगल किशोर : 1826 ई.) और राजाराम मोहन राय के 'बंगदूत' (1829 ई.) से लेकर योगेशचंद्र वसु के 'हिंदी बंगवासी', राजाराम पाल सिंह के 'हिंदोस्थान', रामकृष्ण वर्मा के 'भारत जीवन' और राधाचरण गोस्वामी के 'भारतेंदु' (1884 ई.) तक के छः दशकों में तीस से अधिक पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इसमें उल्लेखनीय माने जाने वाले पत्र 'अलमोड़ा अखबार' (1871 ई.), 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' (1873 ई.) 'भारतमित्र' (1877), 'हिंदी प्रदीप' (1877 ई.) 'सारसुधानिधि' (1878) 'आनंद कादंबिनी' (1881 ई.), 'ब्राह्मण' (1883 ई.) तथा 'पीयूष प्रवाह' (1884 ई.) 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में निकले। भारतेंदु हरिश्चंद्र से इस प्रवाह की शुरुआत होती है। भारतेंदु ने स्वयं तीन पत्रिकाएँ निकाली थीं – 'कविवचन सुधा' (1868), हरिश्चंद्र मैगजीन (1873 ई.) तथा 'बालाबोधिनी' (1874 ई.)। दो पत्रिकाओं की योजना विज्ञापित हुई लेकिन पूरी न हो सकी। इसमें एक कानून की जानकारी से संबंधित 'नीतिप्रकाश' और दूसरी उर्दू की 'कासिद' थी।

इतने अधिक पत्रों का प्रकाशन संभव हो सका, क्योंकि एक तो प्रेस की मशीन सस्ती हो चुकी थी और दूसरे निजी संपदा के रूप में 'लिखी सामग्री' के स्वीकृत होने से 'लेखक' अपने प्रकाशक से और प्रकाशक अपने बाजार से व्यावसायिक रिश्ता बना सकता था। संजय जोशी ने औपनिवेशिक लखनऊ के मध्यवर्ग की आधुनिकता से संबंधित अपने अध्ययन में इस तरफ ध्यान दिलाया है कि प्रकाशन की तकनीक और उसकी आर्थिकी ने सीमित संसाधन वाले व्यक्ति को भी मुद्रण जगत में भागीदार होने का मौका दिया। अखबार छापने के लिए 'मशीन' लगाना कोई बहुत महंगा सौदा नहीं था। सन् 1860 के दशक में हाथ से चलायी जाने वाली प्रेस मशीन 500 रुपये में उपलब्ध थी। जोशी के अनुसार हिंदी समर्थक विश्वनाथ शर्मा और 'अवध अखबार' के प्रसिद्ध संपादक अब्दुल हलीम शरर ने प्रेस मशीन के अपेक्षाकृत सस्ते होने के कारण ही क्रमशः श्री दामोदर प्रेस और 'दिलगुदाज प्रेस' स्थापित किया।"[53]

'लेखक' अपनी आजीविका के लिए प्रकाशन के व्यवसाय से जुड़े। फ्रेंचेस्का ओरसिनी का इशारा इसी तरफ है। पत्र–संपादकों को भले आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ा हो, लेकिन जासूसी उपन्यास अथवा पुराने तर्ज के किस्से आदि लिखने वाले तथा धार्मिक साहित्य की रचना करने वालों को खासा मुनाफा होता था। बालमुकुंद गुप्त और पंडित श्रीधर पाठक के बीच हुए पत्राचार से इस तथ्य का पता चलता है कि पाठकजी को अपने अनूदित 'उजड़ग्राम' और 'एकांतवासी योगी' से कुछ विशेष अर्थोपार्जन की उम्मीद थी। बालमुकुंद गुप्त ने 25 नवंबर 1891 के एक पत्र में उन्हें लिखा – "एक कॉपी 'ग्राम' की सनातन धर्म गजट स्यालकोट पंजाब को भेजिए और भेजने की इत्तिला मुझे दीजिए, आशा है कि कुछ लाभ होगा। एक मास के लिए हिंदी

बंगवासी में विज्ञापन छपवाइए अवश्य बिकेंगी। वह पत्र 6000 बिकता है, एक कॉपी उसे रिव्यू के लिए भी भेजिए चाहे वह रिव्यू करे वा न करे परंतु विज्ञापन अवश्य छपवाइयेगा। आपने इस पुस्तक के छपवाने में लागत बहुत लगाई। एकांतवासी योगी की भांति छपवाते तो हानि न होती। मैं और उद्योग करूँगा।" इस पत्र को लिखते समय गुप्त जी स्वयं 'भारतमित्र' के संपादक थे। पाठक जी के लिए 'उद्योग' करते हुए वे अपने 'पत्र' के तरफ से भी लिख रहे थे – "यदि आप उजड़गांव के विषय में कुछ लिखेंगे तो 'भारतमित्र' हाजिर है, Traveller (एकांतवासी योगी) जितना बन गया हो, 'भारतमित्र' के लिए भेज दें।" पाठक जी को मलाल था कि उनकी हिंदी 'कविता' चोरी हो गयी है। गुप्त जी ने धीरज बँधाया – 'आपके अनुत्साह का कारण है कि आपकी कविता चोरी हुई। उत्साह ने आपको गुमनाम कर दिया। गुमनाम का माल हर कोई चुराता है। जरा मैदान में आइए, देखें फिर कोई कैसे आपका माल चुराता है..... वास्तव में बड़ा ही गंदा काम पत्तन (पत्तनलाल, इन पर ही श्रीधर पाठक ने अपनी कविता की चोरी का संदेह व्यक्त किया था) ने किया है परंतु हम लोग पीछा थोड़े ही छोड़ेंगे...." ।[54]

इस पूरी प्रक्रिया की चर्चा टेरी ईगल्टन ने अपने लेख 'उत्पादक के रूप में लेखक' में की है। इसमें वे ध्यान दिलाते हैं कि साहित्य "सामाजिक चेतना और विश्वदृष्टि का उत्पाद होता है लेकिन साथ ही एक उद्योग भी होता है। पुस्तकें केवल अर्थ की संरचनाएँ ही नहीं होतीं, वे वस्तुएँ भी होती हैं जिन्हें प्रकाशक उत्पादित करता है जिन्हें बाजार में लाभांश के साथ बेचा जाता है.... ।"[55]

लखनऊ के मुंशी नवल़किशोर और 'नवलकिशोर प्रेस' के संक्षिप्त अवलोकन से 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के प्रकाशन व्यावसाय की रीति–नीति पर प्रकाश पड़ता है। 19वीं सदी के हिंदी और उर्दू प्रकाशन व्यवसाय में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुंशी नवलकिशोर (1836–95) ने उच्च शिक्षा आगरा कॉलेज से पायी और लाहौर के प्रसिद्ध कोहेनूर प्रेस में प्रिंटिंग तथा पत्रकारिता का प्रशिक्षण पाया। इस प्रेस के मालिक मुंशी हरसुखराय उर्दू पत्रकारिता के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। सन् 1856 ई. के अंत में नवलकिशोर आगरा लौटे और उर्दू साप्ताहिक 'सफीर–ए–आगरा' निकाला। सितंबर 1857 में उन्होंने लाहौर जाकर 'कोहेनूर' की संपादकी हासिल की। 'गदर' के दौरान अंग्रेजों के प्रति निष्ठा दिखाने के फलस्वरूप उन्हें अंग्रेजी हुकूमत ने लाभ पहुँचाया। 'गदर' के बाद वे पहले भारतीय बने जिन्हें गोरी सरकार ने 'प्रिंटिंग प्रेस' खोलने का लाइसेंस दिया। गोरी हुकूमत का इस प्रेस को वरद्हस्त प्राप्त था। शासन के सारे 'फार्म' और 'रजिस्टर' यहीं छपते थे। 'अवध' की सारी स्कूली पाठ्यपुस्तकें सरकार यहीं छपवाती थी। बाद में (1882) पश्चिमोत्तर प्रांत की स्कूली पाठ्यपुस्तकें भी यहीं छपने लगीं। सन् 1882 तक स्थिति यह हो गई कि ब्रिटिश शासन अपने प्रिंटिंग आदि के काम पर जो खर्च करती थी उसका 75 प्रतिशत इसी प्रेस के हिस्से आता था।[56] क्रिस्टोफर किंग की सूचना पर विश्वास करें तो सन् 1868 ई. में लखनऊ में 55000 पुस्तकें हिंदी में छपी थीं और सब की सब नवलकिशोर प्रेस में छपीं।[57] इस प्रेस से

तुलसीकृत 'रामायण', लल्लूलाल जी का 'प्रेमसागर' तो छपा ही, अयोध्या के महाराजा मानसिंह के आदेश पर 'सूरसागर' का पहला संस्करण भी प्रकाशित हुआ। इस प्रेस ने बाद के दिनों में भक्ति साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ छापीं, जिनमें जायसी कृत 'पद्मावत' भी शामिल है। डॉ धीरेन्द्रनाथ सिंह ने नवलकिशोर प्रेस के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है कि हिंदी–प्रकाशन के इतिहास में इस संस्था ने अकेले इतना काम किया है जितना भारतीय भाषाओं की किसी भी प्रकाशन संस्था ने नहीं किया है।[58]

डॉ. सिंह के अनुसार हिंदी के प्राचीन ग्रंथों और साहित्यिक रीतिग्रंथों का प्रकाशन भी इसी संस्था से हुआ। हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन की परंपरा के आदिसूत्र 'कविवृत–संग्रह' तथा कवियों का जीवन–चरित इस प्रेस ने प्रकाशित किए। मातादीन शुक्ल का 'कवित्तरत्नाकर', पंडित बंदीदीन दीक्षित का 'भाषा काव्य–संग्रह' और प्रसिद्ध साहित्येतिहास 'शिवसिंह सरोज' इसी प्रेस से प्रकाशित हए। इस प्रेस ने संस्कृत के धर्मग्रंथ और काव्य ग्रंथ हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित किए। इनकी टीकाएँ भी छापी गईं। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की 'गुटका', 'भूगोलहस्तामलक', 'मानवधर्मसार', 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तांत', 'आजमगढ़ रीडर' जैसी पाठ्यपुस्तकें इसी प्रेस से छपीं। बनारस मण्डल के तत्कालीन (1856 ई.) कमिश्नर हेनरी टुकर स्कूलों के लिए पाठ्यपुस्तकें लिखते थे और उनका हिंदी अनुवाद राजा साहब करते थे।[59]

यहाँ यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि नवलकिशोर प्रेस ने अनुवादों के जरिए संस्कृत साहित्य–निधि का हिंदी भाषा में प्रकाशन कराया और खास भाषा नीति का पालन किया। इस प्रेस ने अनेक ग्रंथकर्त्ता और अनुवादक बहाल कर रखे थे। इनमें कवि, पंडित, मौलवी और गद्य विधाओं के अन्य जानकार शामिल थे। लखनऊ के प्रसिद्ध कश्मीरी ब्राह्मण पंडित प्यारेलाल कश्मीरी यहीं बतौर अनुवादक बहाल थे। वे फारसी, संस्कृत, हिंदी और उर्दू के विद्वान थे और संस्कृत ग्रंथों का हिंदी में उत्था करते थे। वे इस प्रेस के अनुवाद संकाय के प्रधान निरीक्षक भी थे। शेष अनुवादकों की कॉपी पर स्वीकृति की अंतिम मुहर इन्हीं की होती थी। स्थायी अनुवादकों के अतिरिक्त मुंशी नवलकिशोर ने अस्थायी अनुवादकों का भी प्रबंध किया था। इन्हें 'कमीशन' और मेहनताना दोनों दिया जाता था। अयोध्या पाठशाला के संस्कृत शिक्षक पंडित महेशदत्त शुक्ल और लखनऊ केनिंग कॉलेज के संस्कृत शिक्षक पंडित कालीचरण शर्मा इसी श्रेणी के अनुवादक थे। पंडित कालीचरण शर्मा ने कुमारसंभव, भावप्रकाश और महाभारत का अनुवाद किया। ठीक इसी तरह पंजाबी खत्री मक्खन लाल ने 'भागवतपुराण' का 'सुखसागर' नाम से अनुवाद किया, जो यहीं से छपा। 'सुखसागर' के बाद भविष्यपुराण, देवीभागवत, लिंगपुराण, स्कंदपुराण, वराहपुराण और विष्णुपुराण यहीं से छपे। सभी अनूदित अथवा टीका सहित थे। ऐसे ही अनुवादों ने हिंदी को 'हिंदू और हिंदुस्तान' से संयुक्त करके देखने या कहें कि सांस्कृतिक एकसूत्रता का भाव पैदा करने

में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'आर्य भाषा' के नाम से जागी संस्कृति–चेतना में अनुवादों की प्रबल भूमिका रही।[60]

यूल्राईक स्टार्क ने नवलकिशोर प्रेस की भाषा नीति पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि हिंदी और उर्दू की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के इस युग में नवलकिशोर प्रेस ने विचारधारात्मक रूप में तटस्थता की नीति अपनायी। इसने सहमेल पर जोर दिया, भेद पर नहीं। इसके पीछे मुंशी नवलकिशोर की पारिवारिक पृष्ठभूमि की भूमिका थी। वे मुगलकालीन सत्ता संरचना में मौजूद वेतनभोगी अथवा दफ्तरी कामों से संबद्ध परिवार के वंशज थे। उन्हें हिंदू धर्म की शिक्षा मिली थी तो फारसी–उर्दू की साहित्यिक विरासत भी। भार्गव वंश के इस व्यक्ति का परिवार इस्लामी जीवनशैली में जीता था, परंतु आस्था से कट्टर वैष्णव था। नवलकिशोर जी के पितामह और पिता दोनों संस्कृत के ख्यातिलब्ध विद्वान थे। मुंशी जी ने इनसे अगर संस्कृत सीखी थी तो मकतब से फारसी। आगे चलकर मुंशी जी की शिक्षा आगरा कॉलेज के पौर्वात्यवादी शिक्षा संकाय में हुई। इसी पृष्ठभूमि के कारण उन्होंने इस्लामी विरासत और हिंदू विरासत के ग्रंथों का बिना भेदभाव एक साथ प्रकाशन किया। इसी कारण वे उर्दू की तरक्की से संबद्ध सर सैयद के अलीगढ़ साइंटिफिक इंस्टिट्यूट के सदस्य थे तो हिंदी साहित्य और शिक्षा के विकास से संबद्ध भारतवर्षीय नेशनल एसोसिएशन (स्थापित 1876 ई.) के भी। इस संगठन ने हंटर कमीशन (1882) को हिंदी के पक्ष में प्रतिवेदन दिया था और मुंशीजी इसमें प्रधान व्यक्ति के रूप में सक्रिय रहे। इस संगठन ने 'भाषा संवर्द्धिनी सभा' भी स्थापित की, जिसका काम था अंग्रेजी और संस्कृत में उपलब्ध विज्ञान की पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद करना। 'भाषा संवर्द्धिनी सभा' के अध्यक्ष राजा लक्ष्मणप्रसाद सिंह थे।

आज यह बात भले विचित्र लगे कि उर्दू के समर्थक सर सैयद के 'इंस्टिट्यूट' और हिंदी को हिंदुओं तथा उर्दू के मुसलमानों की भाषा मानने वाले राजा लक्ष्मण प्रसाद की 'सभा' से मुंशी नवलकिशोर एक ही साथ कैसे जुड़े थे। परंतु मुंशी नवलकिशोर के लिए यह दुविधा नहीं थी। वे राजभाषा और धर्मभाषा तथा भाषा और धर्म के जरूरी अंतर को समझने वाले परिवार के थे। इसी कारण, उनके लिए विचित्र यह था कि राजभाषा को अगली पीढ़ी धर्मभाषा के रूप में क्यों देखना चाहती है। उन्होंने हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में किताबें छापीं और हिंदी से उर्दू तथा उर्दू से हिंदी में अनुवाद भी कराया। उनके हिंदी प्रकाशनों में ठेठ हिंदी पर जोर रहता था और इसे 'मध्यदेशीय हिंदी' कहा जाता था।

हिंदी भाषा के प्रेस और प्रकाशनों में एक महत्त्वपूर्ण नाम खड्गविलास प्रेस का है। इसका विस्तृत अध्ययन डॉ. धीरेंद्र बहादुर सिंह ने प्रस्तुत किया है। इसकी स्थापना बलिया निवासी महाराज कुमार रामदीन सिंह ने सन् 1880 ई. में की। इन्होंने अपना जीवन शिक्षक के रूप में आरंभ किया और 'पाठ्यपुस्तकों तथा हिंदी पुस्तकों के अभाव ने उन्हें प्रकाशन व्यवसाय के लिए प्रेरित किया। इन्होंने स्वयं पाठ्यपुस्तकें तैयार कीं

'प्रेस' और उनके प्रकाशन इस युग में बहुविध थे। यहाँ उनका इतिहास प्रस्तुत करना उद्देश्य नहीं, बल्कि बाजार और लेखक से उनके व्यावसायिक रिश्तों तथा भाषा के एक एकीकृत क्षेत्र के निर्माण में 'प्रेस' की भूमिका को चिह्नित करना है। एकीकृत भाषाई क्षेत्र (चाहे हिंदी हो या उर्दू) प्रकाशनों ने बनाया। यह शब्दों का लिखित संसार था और व्यापक भूगोल में भाषा के सहारे पाठकों को एक समुदाय में बाँध रहा था और हिंदी अथवा उर्दू के माध्यम से साक्षर समुदाय एक बड़े भूगोल में दो समुदायों के रूप में बँट रहा था।

साहित्यिक क्षेत्र और रसिक समुदाय

'प्रेस' के आगमन से मूलगामी रूपांतर आया और अगर भारतेंदु हरिश्चंद्र के शब्दों का प्रयोग करें तो 'वाक्–शक्ति' अब 'लेखन–शक्ति' में बदल गई। 'लेखन' के इस संसार में जो लोग आये वे पुरानी सामाजिक संरचना के हिस्से थे। इस सामाजिक संरचना में 'दरबार' और 'राजा' तथा 'रईस' और उनके 'मुसाहिब' हुआ करते थे। यह सामाजिक–संरचना महंत, मठ और आचार्यों को स्थान देती थी तो चौक–चौबारे पर लावनीबाज और किस्सागो को भी। इसमें व्याकरण और पिंगल के आचार्य थे तो वैद्यक के ज्ञाता भी। सी. ए. बेली ने वाक्–शक्ति और पांडुलिपियों, वाकियानवीस, अखबारनवीस तथा खुफियानवीस के इस संसार को मुगलकालीन सत्ता–संरचना का हिस्सा माना है और इसे भारत में मौजूद परंपरागत लोकवृत्त की संज्ञा दी है। इस बात की चर्चा अध्याय–एक और अध्याय–दो में की जा चुकी है कि इस परंपरागत लोकवृत्त ने नई राजव्यवस्था में जनमत की अभिव्यक्ति के लिए नए उपकरण अपनाए। प्रेस और प्रकाशन की दुनिया में इस लोकवृत्त के पंडित, मौलवी और आचार्य तथा कवि सक्रिय हुए। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य में राजनीति और समाजनीति को धर्मनीति से जोड़ने तथा इसी के अनुकूल प्रजाजनों के 'राजनीतिक संस्कार' करने की जो चिंता नजर आती है – उसका पूर्ववर्ती सामाजिक आधार और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मुगलकालीन राज्य–संरचना में रूपायित परंपरागत लोकवृत्त से सम्बद्ध है। इसी कारण उत्तरार्द्ध के 'लेखकों' में एक दुचित्तापन देखने को मिलता है। पुराने सामाजिक आधार से जुड़ाव और नयी राजव्यवस्था के बदलाव के प्रति आकर्षण को स्वयं उत्तरार्द्ध की राजव्यवस्था एक ठोस रूप देने में मदद करती है।

नई राजव्यवस्था के अंतर्गत भारत में शासन की दोहरी पद्धति अपनायी जाती है। महारानी के ब्रिटिश ताज के अंतर्गत लार्ड लिटन के 'दिल्ली दरबार' में भारत को मध्यकालीन योरोप के तर्ज पर सामंती सत्ता–संरचना के अंतर्गत रखने के प्रयास हुए तो उपयोगितावादी नजरिए से 'नागरिक समाज' बनाने और नगरपालिकाओं के माध्यम से सीमित तौर पर प्रतिनिध्यात्मक भागीदारी की बात भी स्वीकारी गई। पुनः; यह प्रतिनिधित्व भी 'व्यक्ति' और उसके 'अभिमत' पर आधारित नहीं था, बल्कि 'पूर्व–आधुनिक पहचानों' (धर्म, जाति आदि) पर केंद्रित समुदायों का प्रतिनिधित्व था।

नगरों में विद्यमान रईसों को समुदाय का प्रतिनिधि मान लिया गया। इस दोहरेपन की सांस्थानिक अभिव्यक्ति विधि–व्यवस्था के भीतर 'पब्लिक लॉ' और 'पर्सनल लॉ' में हुई, जो एक ओर तो मुक्त बाजार में 'व्यक्ति' और उसके 'गुणों' को पुरस्कृत अथवा दंडित करने की बात स्वीकारता था तो दूसरी ओर 'घर' के लिए पूर्व–आधुनिक पहचान और इन पहचानों को 'निर्धारित' करने वाले 'पाठों' के भीतर कुल–गोत्र–वंश के आधार पर न्याय की तुला थामे हुए था। न्याय की इस तुला के दोनों पलड़े असमतोल थे। एक तरफ 'व्यक्ति' के मानक बाट के रूप में रखे हुए थे तो दूसरी तरफ समुदाय के बाट मानक थे। एक पलड़े पर व्यक्ति की 'योग्यता' धरी थी, दूसरे पर हैसियत।

सत्ता–संरचना का यह द्वैध पुराने लोकवृत्त के नये लोकवृत्त में तब्दील होने का भी द्वैध है। हम पुराने लोकवृत्त के सदस्यों को नये लोकवृत्त में नया काम करते हुए पाते हैं; परंतु ये सदस्य उसे अपने पुराने काम का ही विस्तार समझते हैं और नयी व्यवस्था के भीतर अपनी पुरानी 'प्रतिष्ठा' को पुनः अर्जित करना चाहते हैं। लेकिन अफसोस! नया लोकवृत्त ऐसा होने नहीं देता। आचार्य और शास्त्री स्कूल में संस्कृत टीचर बनकर एक निर्वैयक्तिक व्यवस्था में 'वेतनभोगी' और स्कूली प्राईमरों के रचयिता हो जाते हैं। 'कविगण' लेखक में बदलकर कॉपीराईट की व्यवस्था के अंतर्गत पुरस्कार के बदले 'पारिश्रमिक' पाने लगते हैं। धर्म की मीमांसा करने वाले अब 'समाजों' के जरिए धर्मोपदेश करते हैं। अब उनके पास एक संगठन हो जाता है जो सामुदायिक हित के तर्क से राजाओं–महाराजों से 'दान' तो पाता ही है, सर्वसाधारण से 'चंदा' भी वसूलता है। यही नहीं दोहरी सामाजिक संरचना के भीतर 'लेखक' अगर दरबारों में पुरस्कार पाता है और प्रकाशक अगर अपने प्रकाशनों के लिए 'दान' का पात्र समझा जाता है तो बाजार में अखबार या पुस्तक के लिए ग्राहक भी तलाशे जाते हैं। डाकव्यय और लागत के जोड़ में लाभ और घाटे का गणित सोचा जाता है। ऐसे में एक विचित्र मुहावरे का जन्म होता है जो नया भी है और पुराना भी और जिसमें दोनों युग घुलमिल जाते हैं। इसमें उषा की लाली भी देखी जा सकती है और संध्या का मंद पड़ता लोहित आकाश भी।

मिसाल के तौर पर, 'ब्राह्मण' के संपादक प्रतापनारायण मिश्र की इस पंक्ति को देखा जा सकता है –

आठ मास बीते जजमान। अब तौ करौ दक्षिणा दान।। हरिगंगा
आज काल्हि जौ रुपया देव। मानो कोटि यज्ञ कर लेव।। हरिगंगा

एक तरह से अर्थ प्रकट है। 'ग्राहकों' से 'ब्राह्मण' पत्र का संपादक बकाये का भुगतान मांग रहा है। लेकिन, 'जजमान', 'दक्षिणा' और 'यज्ञ' एक अलग अर्थ भी ध्वनित करते हैं। इसमें यज्ञकर्ता पुरोहित अपने यज्ञमान से 'दक्षिणा' माँग रहा है – ऐसा भी आभास होता है। कविता के शब्दों की अर्थबहुलता अथवा संदर्भ (अखबार) के हवाले से कहा जा सकता है कि दूसरा अर्थ बेतुका है। परंतु, तात्कालिक संदर्भ को जरा विस्तृत

करके देखें तो दूसरा अर्थ भी प्राणवान प्रतीत होने लगता है। प्रतापनारायण मिश्र जी एक जगह लिखते हैं:

"आठ वर्ष का बच्चा भी जान सकता था पर खेद है आपकी जानकारी पर कि इतने दिनों में इतना भी नहीं जाना। खैर, अब जान रखिए कि इसका संपादक 'ब्राह्मण' है और इसका कविता संबंधी तखल्लुस भी यही 'बिरहमन' है। इससे नाम रखते समय व्यर्थ की सोच–विचार न करके इसी नाम से काम लेना उचित समझा गया। जो लोग ऊटपटांग, लम्बा–चौड़ा, शेखी से भरा हुआ नाम बहुत सोच साच कर रखते हैं पर कार्यवाही कुछ दिखा नहीं सकते उनका ढंग इस पत्र के संपादक को नापसंद है। हम यदि अपने पत्र का नाम 'आर्यावर्त' या 'देशहितैषी' इत्यादि रखते तो कभी एक संप्रदाय का पक्ष न लेते वरंच समस्त देश के सच्चे हक पर ध्यान देते...."

...और सुनिए, हिंदू जाति का समयानुकूल शुभचिंतन सदा से इसी नाम पर निर्भर रहा है। फिर जिस पत्र का यही एक उद्देश्य हो उसके लिए और कौन नाम युक्ति युक्त हो सकता था?...."

हिंदू धर्म का एकमात्र व्याख्याता ब्राह्मण को बताने के बाद मिश्र जी अपने हिंदू धर्म की भी विशेषता बतलाना जरूरी समझते हैं – "हाँ, इस नाम के साथ वेद और तदनुकूल ग्रंथों का भी संबंध अवश्य है...पर जो लोग वेद का तत्व जानते हैं वह हमारे मूलमंत्र 'प्रेम एवं परोधर्म' को कदापि वेद के विपरीत नहीं कह सकते क्योंकि प्रेम के बिना वेद ही नहीं, परमेश्वर तक की महिमा नहीं स्थिर रहती....।"[62]

इस तर्क से यह बात समझी जा सकती है कि 'प्रेम और परोपकार' का विस्तार ही मिश्र जी अपने 'अखबार' के जरिए हो रहे 'एक संप्रदाय के पक्ष' की बातों में देखते हैं। यह उनके मनोलोक में 'यज्ञ–कर्म' है। इस मनोलोक में आश्चर्य नहीं कि ग्राहक 'यज्ञमान' हो और ब्राह्मण 'शुभचिंतन' करने के कारण 'दक्षिणा' अर्थात् अखबार के मूल्य का हकदार। मिश्र जी का अपने अखबार के बारे में इस भाषा में सोचना कैसे संभव हुआ? इसके कई कारणों में एक स्वयं उनका वंश है। वे स्वयं को इन शब्दों में याद करते हैं – "अपना जीवन चरित्र लिखने से पहले अपने पूर्व पुरुषों का परिचय देना योग्य समझ के यह बात सच्चे अहंकार से लिखना ठीक है कि हमारे आदि पुरुष भगवान विश्वामित्र बाबा हैं। जिनके पिता गाधि महाराज और पितामह कुशिक महाराजादि कान्यकुब्ज देश के राजा थे....हमारी कुलदेवी गार्गी, कुलदेवता बूढ़े बाबू, कुल पुरोहित सत्य शुक्ल यजुर्वेद, धनुर उपवेद, शिव इष्ट देवता हैं.... हम अपने निज बाबा रामदयाल मिश्र से आरंभ करते हैं... सुनते हैं कि वह कवि थे पर काव्य देखने में नहीं आया... यदि एक साधारण गांव में एक साधारण गृहस्थ का परिश्रम लुप्त हो गया तो क्या आश्चर्य। भारत के अभाग्य से नगरों में तो काव्य–रसिक और कवियों के सहायक मिलते ही नहीं जो अपना रुपया उगा के उत्तमोत्तम कविता प्रकाश करते हैं... हमें शोच है कि हम अपने बाबा की कविता नहीं प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि पिताजी नौ वर्ष की

आयु में पितृहीन हुए, 14 वर्ष की आयु में उन्हें गाँव (बैजेगाँव) और घर छोड़कर कुटुंब पालनार्थ परदेश (कानपुर) आना पड़ा... ।"[63]

इस परिचय में 'विश्वामित्र' को अपना पुरखा मानने वाले मिश्र जी 'बाबा की कविता' प्राप्त करने के लिए 'शोच' करते हैं। कविता उन्होंने सीखी भी। मिश्र जी के काव्यगुरु हरदोई के मल्लावां गाँववासी ललिताप्रसाद त्रिवेदी 'ललित' थे। वे कानपुर में गल्ले की दुकान पर मुनीमी करते थे। उन्होंने मिश्र जी को छंदशास्त्र की शिक्षा दी। 'ललित' जी रामलीला, नाटक आदि का आयोजन भी करते थे। मिश्र जी इस 'लीला' में शामिल होते थे और ललित जी की कविताओं का पाठ करते थे। मिश्र जी अगर कुल–गोत्र से ब्राह्मण थे तो विरासत के स्मरण से ही कवि भी। लेकिन, इस 'कवि' के लिए 'दरबार' से ज्यादा कानपुर के चौक और मुहल्ले की रसिकमंडली सुलभ थी। प्रतापनारायण मिश्र जी 'लावनीबाज' भी थे। कानपुर में 'लावनीबाजों' की कई जमातें थीं और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लावनी के प्रसिद्ध कवि बनारसी भी उस समय कानपुर में ही रहा करते थे। लावनी सर्वसाधारण में गायी जाती थी और इसके मुकाबले होते रहते थे। मिश्र जी लावनी गाने वालों की 'कई जमातों में जाते थे।' धर्म, काव्य और 'जमात' के बीच पले–बढ़े मिश्र जी ने 'पंडिताई' नहीं की। पिता ने उन्हें ज्योतिषी बनाना चाहा और इसमें रूचि–गति न देखकर पहले 'अंग्रेजी मदरसे' में नाम लिखाया गया लेकिन उसमें भी ज्यादा दिन नहीं टिक सके। स्वाध्याय से संस्कृत और उर्दू सीखी थी। फारसी गजलों पर अपने उर्दू मिसरे लगाकर 'उनसे मुखम्मस बनाते' थे। ऐसे प्रतापनारायण मिश्र जब स्कूल में थे तो बाबू हरिश्चंद्र का पत्र 'कविवचनसुधा' खूब उन्नत अवस्था में था और इसे पढ़–पढ़कर आप लेखन की तरफ प्रवृत्त हुए।

प्रतापनारायण मिश्र जी के मनोलोक में ब्राह्मण होना विद्यमान था, काव्य की पुरानी परिपाटी संस्कार मौजूद थे और चौक–मुहल्लों की रसिक मंडली मौजूद थी। इसके साथ–साथ स्कूली दिनों से 'कविवचनसुधा' भी मौजूद था। यह 'वाचन' के संसार में 'लेखन' का प्रवेश था और प्रतापनारायण मिश्र 'कविवचनसुधा' पढ़कर लेखक बनने की तरफ प्रवृत्त हुए। ऐसे में इस व्यक्तित्व के आत्मवर्णन में हम 'सुजन प्रिय सहृदय नव रससिद्ध' जैसे शब्द देखते हैं जो पुरानी सामाजिक संरचना के हिस्से हैं तो 'निजता निज भाषा विषय अभिमानी परसिद्ध' जैसे शब्द भी, जो लेखन के बदले हुए संसार में अपने 'स्वत्व' को खोजने की सूचना देते हैं :

कौशिक कुल अवतंश श्री मिश्र संकठादीन।
जिन निज बुधि विद्या विभव वंश प्रशंसित कीन।।
तासु तनय 'परताप हरि' परम रसिक बुध राज।
सुघर रूप सत कवित बिन जिहि न रुचत कुछ काज।।
प्रेम परायन सुजन प्रिय सुहृदय नव–रस सिद्ध।
निजता निज भाषा विषय अभिमानी परसिद्ध।।
श्रीमुख जासु सराहना कीन्हीं श्री हरिश्चंद्र।
तासु कलम करतूति लखि लहै न को आनंद।।[64]

इस तरह की संक्रमणकालीन विशेषता इस युग के हर व्यक्ति में खोजी जा सकती है। 'प्रेमघन' जी 'जीर्ण–जनपद' में अपने पुरखों के गाँव 'दत्तापुर' को याद करते हैं। 'दत्तापुर' पुरानी सामाजिक संरचना का हिस्सा है जहाँ 'कचहरी दीवान, मोदीखाना, मकतबखाना, सिपहखाना' मौजूद है और जीवन नागपंचमी, रामलीला, विजयादशमी तथा फागुन और फाग के बीच बीतता है। 'प्रेमघन' जी दत्तापुर में मौजूद परंपरागत लोकवृत्त को याद करते हैं :

जिन बैठकन सहन में प्रातःकाल जुड़े जन।
रहत प्रनाम सलाम करत हित सावधान मन।।
रजनी संध्या समय जुरत जहँ सभा सुहावनि।
कथा बारता रागरंग लीला कौतुक मय।
मन बहलावन काम काज हित सहित सदामय।।[65]

यह 'लोकवृत्त' जिस सामाजिक संरचना में मौजूद है वहाँ 'न्याय' कचहरियों में नहीं, पंचायतों में होता है :

नहीं अब ऐसे कहुं अंगरेजी न्याय रह्यो तब।
जहँ ऐसे अपराध गिनत अति तुच्छ लोग सब।।
रुपया बिन खरचे नहिं मिलत न्याय कछु विधि जहँ।
होत सांच को झूठ वकीलन की जिरह मँह।।
तब तौ पांच पंच जहँ बैठत ठीक ठीक तहँ।
होत न्याय बिनु खरच बिना श्रम धरी पहर महँ।।
रहत सबै भयभीत सहज सामाजिक त्रासन।
देस रीति कुल रीति करत विधि सों पालन।।

'प्रेमघन' जी अपनी सामंती विरासत को याद करते हुए बदली हुई स्थिति में शोक करते हैं कि :

आज तिनहि के पुत्र भतीजे हम सब इत–उत।
घूमत फिरत अकेले वेष बनाए अद्‌भुत।।
तन अंगरेजी सूट बूट पग ऐनक नैनन।
जेबघड़ी कर छड़ी लिए जनु अस्त्रन सस्त्रण।।
चहै लेय जो पकरि सीस धरि बोझ ढोवावै।
नहि प्रतिकार ततच्छन कछु जो मान बचावै।।[66]

'प्रेमघन' जी 'रईस' थे। आपके पिताजी मीरजापुर का कार्य (पितामह शीतला प्रसाद अपने पैतृक निवास छोड़कर 'मीरजापुर' आ गये थे जो उस समय 'लक्ष्मी पुरी' थी। यहाँ शीतलाप्रसाद व्यवसाय के लिए आये और व्यापार–मंडियों में वाणिज्य के सामानों के निर्यात तथा आयात की चौधराई संभाली। दूकानों से माल लादना, और बनारस, कानपुर आदि शहरों पर सुरक्षित पहुँचाना, वहाँ से हुण्डी का मूल्य लाकर

दिलाना इत्यादि काम चौधरी का होता था। गाड़ीवानों तथा दूकानों से चौधराने की रकम बतौर 'कमीशन' मिलती थी) इन पर छोड़कर स्वयं अयोध्या चले गये। 'प्रेमघन' जी अब अकेले कार्यभार देखने लगे और जीवन में रईसी ने प्रवेश किया। इष्ट–मित्रों का जमघट लगा। शतरंज, गंजीफे और आमोद–प्रमोद में दिन बीतने लगे – "कविताएँ लिखना, सुनना, सुनाना, स्वयं गीतों को लिखना और उसको सुनाना, सुनानेवालों को इनाम देना उनके इंद्र के अखाड़े में हुआ करता था। इसी बीच आपका भारतेंदु से परिचय हुआ, अब क्या था। "खूब बन बैठेगी मिल बैठेंगे दीवाने दो.... की कहावत चरितर्थ हुई...।"[67]

इसी के बाद 'प्रेमघन' जी ने सभा–सोसायटियाँ खोलना, उनमें आना–जाना प्रारंभ किया। यह नये और पुराने की संधि का ही युग नहीं था, कानून ने नये और पुराने को पाठबद्ध करके 'अदालत' और 'स्कूल' में 'म्युनिसिपलिटी' और 'सोसायटियों' के माध्यम से ठोस रूप दे दिया था। दो युगों को साथ–साथ अपने मन में समेटे इस युग के हिंदी बुद्धिजीवी एक ऐसी जगह पहुँच गये थे जहाँ से, ग़ालिब के शब्दों में, 'कुछ हमको भी हमारी खबर नहीं आती।' इयत्ता और अस्मिता की तलाश इस जगह से भयंकर ऊहापोह का रूप ले लेती है। सभा–सोसायटी का संसार 'सार्वजनिक हित' के प्रत्यय पर आधारित समाज था और इसमें प्रवेश करने के बाद 'प्रेमघन' जी की भावना बनी कि 'बिगड़ों जन समुदाय बिना पथ–दर्शक पंडित', क्योंकि 'भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात'।[68]

भारतेंदु हरिश्चंद्र भी एक ही साथ अपने हृदय में दो युगों को सँभाले हुए थे। अगर राजदरबार में उन्हें अपनी कवित्व–शक्ति के लिए पुरस्कार प्राप्त होता था, वंश उन्हें वैष्णव कवि–परंपरा के भीतर अपने को खोजने के लिए रास्ता दिखाता था तो 'महाजनी' की विरासत लोकहित कार्य करने के लिए प्रेरणा देती थी। वे अगर 'ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट' और 'म्युनिस्पल कमिश्नर' के पद पर सुशोभित हुए तो धर्म समाजों के संस्थापक और अगुआ भी बने। उनका व्यक्तित्व अपने जैसे कई व्यक्तित्वों की मंडली तैयार करने में निर्णायक साबित हुआ। राधाचरण जी अगर हरिश्चंद्र मैगजीन पढ़कर 'देशहितैषिता' में सक्रिय हुए तो प्रतापनारायण मिश्र 'कविवचनसुधा' पढ़कर और 'प्रेमघन' जी आपसी मेल–मुलाकात के बाद। भारतेंदु के जीवनीकार शिवनंदन सहाय को भी 'निजभाषा' की कविता की लगन 'हरिश्चंद्र मैगजीन' पढ़कर लगी थी। 'वाचन' और 'वाक्शक्ति' का संसार जब प्रेस और प्रकाशन के माध्यम से 'लेखन और लेखक' के संसार में तब्दील हुआ तो भारतेंदु के इर्द–गिर्द आचार्य, कवि, पंडित यानी पुरानी सामाजिक संरचना का 'शिष्ट समुदाय' लेखक के रूप में 'पब्लिक मेन' की भूमिका ग्रहण करने लगा।

साहित्यकार या प्रबोधक

'लेखक' के सामने सिर्फ छोटी–सी रसिक मंडली नहीं थी। 'दत्तापुर' का 'सहन' और 'चौक' छूट चुका था। डाक–तार–रेल के नये संसार में 'रसिक मंडली' विस्तृत हो चुकी थी और पुस्तक तथा अखबार के माध्यम से खास लिपि में पढ़ने वाला एक शिक्षित समुदाय तैयार हुआ। यह समुदाय एक बड़े भूगोल में फैला था। वकील, शिक्षक, स्कूल इंस्पेक्टर और सभा–सोसायटी के सचिव–अध्यक्ष के रूप में विद्यमान, नौकरशाही के दायरे में बने मध्यवर्ग ने 'लिपि' और 'लेखक' के माध्यम से अपनी 'अस्मिता' पहचानने की कोशिश की। यह मध्यवर्ग न तो 'अंग्रेजी सूट–बूट' धारण कर सकता था और न ही इतना फटेहाल था कि उसे 'सीस पगा न झगा तन में' की दशा प्राप्त करनी पड़े। 'सूट–बूट' और 'नित्य बदलते नये फैशन' के बीच उसे अपनी 'परिवर्तनविमुखता' सताती थी कि 'सूरदास की कारि कामरि चढ़ै न दूजौ रंग'। साथ ही वह नई सभ्यता को 'आध्यात्मिक उन्नति में बाधा' के रूप में देखता था क्योंकि 'भोग–विलास आधुनिक सभ्यता का प्रधान लक्षण' लग रहा था उसे। नई सभ्यता मध्यवर्गीय भारतीय को नई 'शिक्षा' और 'कानून' के जरिए अपने मनोनुकूल तो बनाना चाहती थी, परंतु बराबरी का दर्जा देने के लिए तैयार नहीं थी। भट्ट जी नई सभ्यता के सिद्धांत और व्यवहार में अंतर को लक्ष्य करते हैं – "बहुत से अंगरेज Statesman हमारी दिलजोई करने के लिए हम लोगों को fellow subjects कहते हैं पर यह बात कहाँ तक सच है कि उनके बर्ताव से विदित ही है... हम लोगों को बड़ी आशा थी कि Liberal Government के होने पर हमको हमारे हक मिलेंगे लेकिन उसने साफ निम्बुआ नोन चटा दिया... आजकल हमारे और हम पर शासन करने वालों के बीच में भेड़िया और बकरी का, चोर और जिसके यहाँ चोरी की जाती है उसका रिश्ता है तो बतलाइए क्या यह कभी संभव है कि ये हमारा उपकार करेंगे.... ।"[69]

मध्यवर्ग अगर 'अंग्रेजी तालीम' पाकर भी बराबरी का दर्जा न पाने से असंतुष्ट था तो दूसरी तरफ उसे अपने लोग भी 'बज्रमूर्ख' दीख रहे थे। वह शासन के नये सभ्यतागत मुहावरे में अपने लोगों को देख रहा था। प्रतापनारायण मिश्र लिखते हैं – "हमारे यहाँ यह पदवी (बज्रमूर्ख) बहुधा उन लोगों को दी जाती है जो पढ़ने के नाम काला अक्षर भैंस बराबर समझते हैं। ऐसे लोगों को विश्वास होता है कि बहुत पढ़ने से मनई बैलाय जात है! पढ़े लिखे ते लरिका मेहरा हो जात है।.... हमका पढ़ि कै का पंडिताई करै का है... ।" प्रतापनारायण इस अनपढ़ समाज को शिक्षित करना चाहते हैं क्योंकि इस समाज में वे कुछ संभावनाएँ देखते हैं। 'बज्रमूर्ख' कहे जाने वाले लोग "खेती–किसानी आदि के काम पूरे परिश्रम और धैर्य से करते हैं, यथा लाभ संतोष सुख का सच्चा उदाहरण बने रहते हैं, अपनी दशा के अनुसार कालक्षेप और अपनी जाति की रीति भाँति का निर्वाह तथा सजातीय मान्यपुरुषों का यथोचित करने में चूकते नहीं.... ।"[70]

हिंदी भाषा में तैयार होता मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग इन्हीं खेती–किसानी करने वाले लोगों के बीच धर्म और राजनीति के 'संस्कार कार्य' करना चाहता था। यह बुद्धिजीवी वर्ग अपने को नये शासन की सत्ता–संरचना में मौजूद चंद चयनितों से अलग

करके देखता था। यहाँ भट्ट जी द्वारा वर्गीकृत तीन तरह के 'साक्षर' लोगों का स्मरण हो आता है। ऊपर इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि भट्ट जी पूर्ण शिक्षित (अर्थात् अंग्रेजी में दक्ष और उच्च पद–प्राप्त परंतु 'हिंदुस्तानीपन की बू से दूर) शिक्षित (अर्थात् रोटी कमाय पेट भर लेने लायक जिसने थोड़ा–थोड़ा सब सूँघ रखा है) और अर्द्ध–शिक्षित (आचार्यगण जो शास्त्रार्थ में प्रवीण हैं परंतु 'लेखन' से दूर हैं) में भेद करते हैं। हिंदी के बुद्धिजीवी न तो 'पूर्ण शिक्षित' थे और न ही 'अर्द्ध–शिक्षित'। वे 'रोटी कमा सकने लायक' पढ़े हुए लोग थे और पुरानी सामाजिक संरचना में अपनी विशिष्ट सामाजिक हैसियत के कारण 'खेती–किसानी' करने वाली जनता की तरफ से अपने को नुमाइंदा बनाकर प्रस्तुत कर सकते थे। इस वर्ग ने 'पूर्ण शिक्षितों' से अपने को अलग किया और अपनी वैधता 'खेती–किसानी करने' वाली जनता का तर्क देकर स्थापित की। यह वर्ग 'पूर्ण शिक्षितों' की शासकीय निकटता की वैधता को धर्म, भाषा और 'भेष' के तर्कों से कमजोर कर रहा था। मिश्र जी लिखते हैं कि खेती–किसानी करने वाली जनता 'जिन बातों को धर्म समझती है उन पर पूर्ण रूप से दृढ़ रहती है। "जो बात उनकी समझ में अच्छी तरह जँचा दीजिए कैसे तन–मन–धन प्रान पन से कटिबद्ध हो जाते हैं। देशोद्धार के लिए जो बातें वस्तुतः परमावश्यक हैं वे यदि इनके मध्य प्रचार की जायं तो वह फल निकले जो शहर के लाला भैयों को शिक्षा देते--देते सात जन्म में नहीं निकल सकता....।"[71]

मिश्र जी को 'पूर्ण शिक्षितों' से जरा भी उम्मीद नहीं है। वे भट्ट जी की तरह ही मानते हैं कि ये लोग हिन्दुस्तानीपन की बू से दूर हैं – "मूर्ख, बरंच बज़मूर्ख, वास्तव में वह हैं जिन्होंने बड़ी–बड़ी किताबें रटते–रटते मास्टर का दिमाग, बाप की कमाई और अपना बाल–विनोद स्वाहा कर दिया है। नाम के आगे–पीछे एबीसीडी भर का छोटा वा बड़ा पुछल्ला लगवा लिया है पर परिणाम यह दिखलाया है कि हिंदी का एक अक्षर नहीं जानते पर इतना अवश्य जानते हैं कि वेदशास्त्र पुराणादि सब वाहियात, जंगली असभ्यों के गीत, झूठी कहानी हैं... ईश्वर, धर्म एवं परलोक सब बेउकूफों की गढ़ंत है अथवा कुछ हैं भी तो कब? जब कोई यूरप अमेरिका के महात्मा श्रीमुख से आज्ञा करें तब क्योंकि हिंदुस्तान तो अगले जमाने में बनमानुसों की बस्ती थी और अब भी हाफ–सिविलाईज्ड मुल्क है इसमें मानने लायक मजेदार बातें कहाँ....।"[72] मिश्र जी को इन लोगों से देश–सुधार की उम्मीद नहीं क्योंकि इनके कोट, बूट, पतलून, घड़ी, छड़ी, लंप, कुरसी, मेज जो देखो सो विलायती। देशी केवल चेहरे का रंग–मात्र, उसमें भी विलायती साबुन और चुरूट भरी हुई... दिमाग में विलायती हवा समायी हुई है, पर देश सुधारने का बीड़ा उठाए हुए हैं, सो भी किस रीति से, जाँति–पाँति का भेद मिटा के, देवता–पितरों की पूजा हटा के, सनातनचार को रसातल में पहुँचा के, पुरुषों का धर्म–कर्म और स्त्रियों की लाजशर्म धूल में मिला के, प्रजा का स्वत्व हर के...।"[73]

'शिक्षित' अर्थात् शासन–संरचना में छोटे–मोटे पदों पर मौजूद तबका उपर्युक्त बातों पर 'पूर्ण शिक्षितों' से अलग है। इस अलगाव का कारण है, इस वर्ग की पुराने समाज से जुड़ी पृष्ठभूमि। अपनी विरासत को यह वर्ग पूरी तरह से स्वीकार नहीं कर

सकता, क्योंकि पूर्ण–शिक्षितों की आलोचना उसे ऐसा नहीं करने दे रही। यह वर्ग उसे छोड़ भी नहीं सकता क्योंकि वहीं उसे अपना 'स्वत्व' नजर आता है। ऐसे में बीच का रास्ता अपनाया जाता है। यह रास्ता है धर्मनीति और समाजनीति के अलगाव में देखने का, जिसमें धर्म तो अपरिवर्तनशील है पर उसी से जुड़ी समाजनीति कालानुसार परिवर्तनशील। भारतेंदु अपने बलिया वाले भाषण में यही कह रहे थे।

'शिक्षितों' की दुविधा को समझा जा सकता है। यह वर्ग न तो पूर्ण–शिक्षितों की बराबरी कर सकता था और न ही अपने को खेती–किसानी वाले समाज से जोड़ सकता था। इसने अपनी 'स्वायत्तता' घोषित करने के लिए बीच का रास्ता अपनाया और 'धर्म' तथा 'सुधार' की नई परियोजना में अपने को 'खेती–किसानी' करने वालों का नुमाइंदा तथा संस्कारक घोषित किया। इस वर्ग ने घोषित किया कि 'भारत की पैतृक संपत्ति धर्म है' और माना कि आजकल का विद्यर्मी अंगरेजी राज भी "हमारे धर्म्म में हस्तक्षेप नहीं करता।"[74] इस तर्क से उसने 'पूर्ण–शिक्षितों' के प्रयासों को धर्महीन कहकर अवैध ठहराया। इस वर्ग की इच्छा थी – "हम लोग नहीं चाहते कि अपने धार्मिक और सामाजिक विषय में भी राजनियम के वश में हों", परंतु फिक्र यह सताती थी कि "यह भी कोई मेधावी कैसे चाहेगा कि चाहे कुरीति और कुप्रबंध से समाज वा जाति का सर्वनाश हो जाय परंतु राजनियम द्वारा कदाचित सुधार न हो।"[75] राजनियम के प्रति शंकित इस वर्ग ने समाजनियम को बदलने के उद्योग किए। ऐसा किया गया साहित्य की अवधारणा में बदलाव से। इस वर्ग ने माना कि – "साहित्य का संगठन समय के अनुसार हुआ करता है.... हमारे देश के राजा बाबू और अमीरों का श्रंगार ही से काम था।... आज समय दूसरा है, देश की दशा ने सबकी मुटाई झाड़ दी है, अक्ल ठिकाने आ गई है इसलिए आज के सुलेखकों और ग्रंथकारों को आज की आवश्यकता पूरी करनी चाहिए...।[76] साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' कहा गया और उसे 'जनसमूह के चित्त का चित्रपट' मानकर देखा गया जहाँ काव्य का "मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मान, अपना गौरव, अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके न जाने पावे।" हिंदी बुद्धिजीवी यह मानकर चल रहे थे कि 'भारत के हर एक प्रसंग का तोड़ अंत में इसी बात पर है।"[77] जनसमूह का अर्थ था 'कौम', और साहित्य 'कौम' के हृदय का चित्रपट भी था तथा उसी के अनुसार विकास का माध्यम भी। यह साहित्य 'आर्यों के साहित्य' के रूप में देखा गया और पौर्वात्यवादी तर्क–संरचना को स्वीकार करते हुए मान लिया गया कि 'हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद है।'[78] इस प्रक्रिया की परिणति हम एक धर्मोपदेशक तथा प्रबोधकारी साहित्य के रूप में देखते हैं, जिसमें साहित्यकार जनसमूह के चित्त के विकास के लिए 'जातीय संगीत' का सहारा लेकर 'स्त्रियों और गँवारों' को (जो निरक्षर हैं) 'बाल्य–विवाह, जन्मपत्री की विधि, बालकों की शिक्षा, बालकों से बर्ताव, अंगरेजी फैशन, स्वधर्म चिंता, भ्रूणहत्या–शिशुहत्या, फूट और बैर, मैत्री और एक्य, बहुजातित्व और बहुभक्तित्व, पूर्वज आर्यों की स्तुति, जन्मभूमि, आलस्य और संतोष, व्यापार और उन्नति, नशा, अदालत, स्वदेशी के व्यवहार तथा भारतवर्ष के दुर्भाग्य' के शीर्षक से गुण–दोष विवेचन द्वारा 'प्रबोध' देने पर तत्पर है।[79]

संदर्भ संकेत

1 एरिक स्टॉक (1982) – द इंग्लिश यूटिलिटेरियंस एंड इंडिया, ओयूपी, नई दिल्ली, पृ.1–47

2 वही

3 सत्यप्रकाश मिश्र (1995) – बालकृष्ण भट्ट : प्रतिनिधि संकलन, एनबीटी, नई दिल्ली, पृ.9–10

4 कर्मेन्दु शिशिर (1990) – राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएँ, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.17

5 बाबू शिवनंदन सहाय (1975) – हरिश्चंद्र, हिंदीसमिति, उत्तर प्रदेश, उपसंहार, पृ.3

6 कर्मेन्दु शिशिर, उपर्युक्त, वही

7 धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी (संपादित, सं.2020) : हिंदी साहित्यकोश, भाग–2, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पृ.467

8 कर्मेन्दु शिशिर, उपयुक्त, वही

9 सी.ए. बेली (1999 सं.) – एम्पायर एंड इन्फार्मेशन : इंटेलीजेंसगेदरिंग एंड सोशल कम्युनिकेशन इन इंडिया, 1780–1870, फाउंडेशन बुक्स, दिल्ली, पृ.338–365

10 भीखू पारेख (1989) – कालोनियलिज्म, ट्रेडीशन एंड रिफार्म : एन् एनालिसिस ऑफ गांधी'ज पॉलिटिकल थॉट', सेज पब्लि., नई दिल्ली, पृ.34–70.

11 वसुधा डालमिया (1999) – द नेशनलाइजेशन ऑफ हिंदू ट्रेडिशन : भारतेंदु हरिश्चंद्र एंड नाईनटींथ सेंचुरी, बनारस, ओयूपी, नई दिल्ली, भूमिका

12 बारबरा डी मेटकॉफ, थॉमस आर. मेटकॉफ (2005) – अ कंसाइज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनि. प्रेस, यू.के., पृ.117

13 डॉ चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – प्रतापनारायण मिश्र रचनावली, खंड–4, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ.13–4

14 बारबरा डी मेटकॉफ, थॉमस आर. मेटकॉक, उपर्युक्त, पृ.116–117

15 हेमंत शर्मा (2000) – भारतेंदु समग्र, हिंदी प्रचारक पब्लि., वाराणसी, पृ.1060

16 वही

17 पुरुषोत्तम अग्रवाल (2000) – विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.47–60

18 वही

19 हेमंत शर्मा, उपर्युक्त, भूमिका

20 वही

21 मैनेजर पाण्डेय (1989) – साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़, पृ.8

22 प्रभाकरेश्वर प्र. उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (सं.2003) – प्रेमघन–सर्वस्व द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, पृ.371–385

23 कर्मेन्दु शिशिर, उपर्युक्त, पृ.158

24 किशोरी लाल गुप्त (सं.1970) – शिव सिंह सरोज, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, भूमिका

25 वही

26 धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, उपर्युक्त, पृ.565

27 जी एन देवी (1998) ऑफ मेनी हीरोज, ओरिएंट लांगमैन, पृ.29–30

28 वही

29 वही

30 नलिन विलोचन शर्मा (1997 दूसरा संस्करण) – साहित्य का इतिहास–दर्शन, बिहार राष्ट्र–भाषा परिषद्, पृ.1–4

31 वही

32 वही

33 नलिन विलोचन शर्मा (1997 दूसरा संस्करण) – साहित्य का इतिहास–दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ.1–4

34 हेमंत शर्मा, उपर्युक्त, भूमिका, पृ.12–37

35 वही, पृ.1012

36 पार्थ चटर्जी (1999) – द नेशन एंड इट्स फैग्मेंट्स, ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रे., पृ.3–13

37 वही

38 स्टुअर्ट ब्लैकबर्न, वसुधा डालमिया (संपा. 2001) – इंडिया'ज लिटरेरी हिस्ट्री : ऐसेज ऑन द नाईन्टीन्थ सेंचुरी, में फ्रेंचेस्का ओरसिनी का लेख 'डिटेक्टिव नॉवेलः ए कमर्शियल जॉनरे इन नाइन्टींथ सेंचुरी इंडिया', परमानेट ब्लैक, नई दिल्ली, पृ.435–82

39 डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) उपर्युक्त, खंड–4, पृ.95–96

40 वही, उपर्युक्त में 'अवश्य देखिए' शीर्षक सूचना

41 वही, उपर्युक्त, पृ.187

42 डेविड अर्नाल्ड (2000) – साइंस, टेक्नालॉजी एंड मेडिसीन इन कॉलोनियल इंडिया, कैम्ब्रिज युनि. प्रेस., पृ.113

43 यूलराईक स्टार्क (2003) – 'पॉलिटिक्स, पब्लिक इश्यूज एंड द प्रमोशन ऑफ उर्दू लिटरेचर : अवध अखबार, द फर्स्ट उर्दू डेली इन नार्दन इंडिया', नामक लेख – द एनुअल ऑफ उर्दू लिटरेचर, सं–18, खंड–1, यूनिवर्सिटी ऑफ विस्कोन्सिन मेडिसन।

44 कृष्ण बिहारी मिश्र (2000) – हिंदी पत्रकारिता : जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण भूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.130–31

45 वही, पृ.193

46 कृष्ण बिहारी मिश्र (2000) – उपर्युक्त, पृ.207

47 यूलराईक स्टार्क (2003) – उपर्युक्त, वही

48 स्टुअर्ट ब्लैकबर्न, वसुधा डालमिया (2004) – उपर्युक्त, वही

49 धनंजय भट्ट (संपा. 1983) – हिंदी की दशा और पत्रकारिता : भट्ट निबंधावली, भाग–3, हिंदी–साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.156

50 कृष्ण बिहारी मिश्र (2000) – उपर्युक्त, पृ.147

51 वही, पृ.125

52 धनंजय भट्ट (1983) – उपर्युक्त, पृ.49–51

53 संजय जोशी (2005) – फ्रैक्चर्ड माडर्निटी : मेकिंग ऑफ ए मिडिल क्लास इन कालोनियल इंडिया, ओ.यू.पी., पृ.38–39

54 नत्थन सिंह (1993) – बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़, पृ.232–240

55 टेरी ईगल्टन (2005) – उत्पादक के रूप में लेखक (अनूदित), साखी–2, जुलाई–सितंबर 2005

56 स्टुअर्ट ब्लैकबर्न, वसुधा डालमिया (संपा. 2004) – उपर्युक्त में यूलराईक स्टार्क का 'हिंदी पब्लिशिंग इन द हर्ट ऑफ एन इंडो–पर्शियन कल्चरल मेट्रोपोलिस' शीर्षक लेख, पृ.251–79

57 वही, उद्धृत।

[58] धीरेन्द्र नाथ सिंह (1986) – आधुनिक हिंदी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पृ.64–68

[59] वही

[60] स्टुअर्ट ब्लैकबर्न, वसुधा डालमिया (2004) – उपर्युक्त में मूलराईक स्टार्क का लेख।

[61] धीरेन्द्र नाथ सिंह (1986) – उपर्युक्त, पृ.197

[62] डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – उपर्युक्त, खंड–4, में –'ब्राह्मण नाम का अभिप्राय' शीर्षक लेख।

[63] वही, पृ.123

[64] डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – उपर्युक्त, खंड–4, पृ.123

[65] प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (संपा. शक–1884) – 'प्रेमघन–सर्वस्व', प्रथम भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.151

[66] वही

[67] वही, द्वितीय संस्करण का निवेदन

[68] वही

[69] सत्यप्रकाश मिश्र (संपा. 1995) – बालकृष्ण भट्ट : प्रतिनिधि संकलन, एनबीटी, पृ.158, नई दिल्ली।

[70] डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – प्रतापनारायण मिश्र रचनावली, खंड–2, भारतीय प्रकाशन संस्थान, पृ.130–32

[71] वही

[72] वही

[73] वही

[74] प्रभाकरेश्वर प्र. उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (2003) – प्रेमघन–सर्वस्व, द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.201

[75] वही, पृ.203

[76] वही, पृ.367

[77] सत्यप्रकाश मिश्र (1995) – उपर्युक्त, पृ.13–21

[78] वही

[79] हेमंत शर्मा (संपा) – उपर्युक्त, पृ.1028

अध्याय : चार

वाद–विवाद–संवाद

हिंदी जातीयता – हिंदू जातीयता

हिंदी और उर्दू

इतिहास और अस्मिता

'अन्य' की निर्मिति और 'आत्म' की छवियाँ

पिछले अध्याय में इस बात की चर्चा की गई थी कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में छापे के पूँजीवाद के भीतर हिंदी बुद्धिजीवी वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ होती है। उपनिवेशवाद के 'सभ्यतागत श्रेष्ठता' के दबाव में साहित्य और साहित्यकार की धारणा तथा उनके प्रयोजन में मूलगामी परिवर्तन होता है। 'काव्य' के भीतर 'पुराण' को भी शामिल कर लिया जाता है और कवि 'लेखक' के रूप में 'पब्लिक मेन' के कार्य करता हुआ 'धर्मोपदेशक' की भूमिका में आ जाता है। यह पूरी प्रक्रिया अपनी 'जातीयता' (नेशनलिटी) गढ़ने और घोषित करने के दबाव में घटित होती है। यह एक जटिल प्रक्रिया है और इसके कई चरण हैं। इस अध्याय में इस प्रक्रिया के कुछ पहलुओं मसलन हिंदी भाषा और हिंदी जातीयता/राष्ट्रीयता के पारस्परिक संबंध तथा हिंदू धर्म से उसके रिश्ते की चर्चा की जाएगी। हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के माध्यम से अपने 'स्वत्व' को पहचानने तथा 'अन्य' को अलगाने की स्थितियों, तथा विशिष्ट इतिहासबोध से इसके संबंध की व्याख्या के प्रयास किए जाएँगे। अंत में इस तथ्य का भी विवेचन किया जाएगा कि 'हिंदी और हिंदुस्तान' के पारस्परिक संबंध के भीतर जिस 'हिंदू स्वत्व' को पहचानने की चेष्टा हुई, वह सपाट और इकहरा नहीं था। उसकी दो मुख्य धाराएँ साफ–साफ देखी जा सकती हैं – एक सर्वसमावेशी भक्ति को अपनी आधारभूमि चुनती है तो दूसरी अपवर्जनकारी और विशिष्टताबोधक वेदांत को। इसके एक छोर पर स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र हैं तो दूसरे छोर पर स्वामी दयानंद सरस्वती।

हिंदी जातीयता – हिंदू जातीयता

आलोक राय की पुस्तक 'हिंदी नेशनलिज़्म' की स्थापनाओं के प्रति अपनी असहमति दर्ज कराते हुए रामचंद्र तिवारी का कहना है कि "हिंदी–राष्ट्रवाद मेरे लिए नया मुहावरा है।"[1] वे प्रगति प्रकाशन, मास्को द्वारा प्रकाशित 'दर्शन कोश' के आधार पर राष्ट्रवाद के बारे में बताते हैं – "प्रभुत्वशाली राष्ट्र का महाशक्तिवादी राष्ट्रवाद... जो सर्वहारा मेहनतकशों को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है।... भारतीय संदर्भ में 'हिंदी राष्ट्रवाद' की चर्चा शायद ही कहीं किसी ने सुनी हो।... हिंदू राष्ट्र की आवाज अवश्य उठी... किंतु गांधी की अहिंसक राष्ट्रीयता की अवधारणा के सामने सावरकर की आवाज दब गई।" वे 19वीं सदी में बन रहे हिंदी लोकवृत्त के मुखर नारे 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' का उल्लेख तो करते हैं परंतु साथ में यह भी जोड़ देते हैं कि "यह सिद्धांत पीछे छूट गया" और 'विडम्बना यह है कि भारतीय हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सारी कार्यवाही अंग्रेजी में होती थी।" हिंदी बुद्धिजीवियों के कांग्रेस विरोध को नोट करते हुए वे लिखते हैं कि बाद में (1908) "बालकृष्ण भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह संस्था उच्च वर्ग के हितों को दृष्टि में रखती है।..."

वे रामविलास शर्मा द्वारा प्रस्तावित 'हिंदी जाति' की अवधारणा को उद्धृत करते हैं – "जाति वह मानव समुदाय है, जो व्यापार द्वारा पूँजीवादी संबंधों के प्रसार के साथ

गठित होती है... हिंदी, बांग्ला, मराठी, तमिल आदि भाषाएँ बोलने वाले समुदायों को 'जाति' कहते हैं। प्रत्येक जाति आधुनिक पूँजीवादी आर्थिक संबंधों के विकास का परिणाम है... वे (रामविलास शर्मा) उर्दू को भी हिंदी जाति में ही समाहित कर लेते हैं। डॉ. शर्मा ने कहीं भी 'हिंदी राष्ट्रवाद' पद का प्रयोग नहीं किया है।"[2]

रामचंद्र तिवारी अथवा रामविलास जी की बातें इतिहास के तथ्यों को अपनी विशेष 'दृष्टि' के भीतर अनुकूलित करने का परिणाम है। अव्वल तो रामचंद्र जी ने आलोक राय के प्रयास को ठीक–ठीक चिह्नित नहीं किया है। आलोक राय अपने प्रयास को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि – "मेरा प्रयास हिंदी को पेशेवर हिंदीवालों की जकड़बंदी से मुक्त करने का है – इस भाषा को समर्थ बनाने का प्रयास ताकि यह नागरीप्रचारिणी सभा और हिंदी साहित्य सम्मेलन में पैठे हुए पवित्रता का दिखावा करने वाले अपहर्त्ता–अभिजन के चंगुल से मुक्त हो सके।"[3] राय इसी कारण 'पेशेवर हिंदीवालों' की उस ग्रंथि पर टिप्पणी करते हैं जो हिंदी अथवा हिंदी जाति को अनैतिहासिक मान लेती है – "ऐतिहासिक रूप से देखें तो हिंदी को उसके विरुद्धों की एक श्रृंखला में उर्दू के साथ, बोलियों के साथ, खासकर ब्रजभाषा के साथ, और अन्य प्रांतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी के साथ परिभाषित किया जाता है, समझा और प्रस्तुत किया जाता है।... इन सभी विरुद्धों के साथ (हिंदी को परिभाषित करते समय) हिंदी और उसके पक्षधर अपने को निर्दोष और अनुल्लंघनीय मान लेते हैं, मानों इन विरूद्धों का हिंदी पर कोई द्वन्द्वात्मक प्रभाव न पड़ा हो – मानों हिंदी हमेशा से एक स्थायी और अलांछित पूर्णता के साथ मौजूद रही हो। जहाँ तक 'पेशेवर हिंदीवालों' का सवाल है, उनके लिए हिंदी का कोई इतिहास नहीं, बल्कि स्वयं हिंदी के साथ हुए अंतहीन 'अतिचार' का इतिहास है और इसके बावजूद हिंदी अक्षत–अखंड बनी हुई है।"[4] आलोक राय हिंदी के बारे में ऐसा नहीं मानते। वे हिंदी को इतिहास–क्रम में समझने की कोशिश करते हैं और उस प्रक्रिया की खोजबीन करते हैं जिसमें हिंदी हिंदू–अस्मिता की वाचक और 'संस्कृत की अंग–लालिता कन्या' के रूप में स्वीकार की जाती है; संस्कृत की प्राचीनता के सहारे राष्ट्र की प्राचीनता को सिद्ध किया जाता है तो उर्दू मुस्लिम विरासत के प्रतीक के रूप में स्वीकृत होती है और दो धर्माधारित जाति (नेशन) के प्रतिस्पर्धी भाषागत आख्यान तैयार होते हैं।

राय इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि हिंदी को पहले उर्दू से और अब अंग्रेजी से खतरा महसूस होता है जो उसकी अंदरूनी कठिनाइयों की तरफ संकेत करता है। उनके अनुसार इन कठिनाइयों का रिश्ता स्वयं हिंदी के इतिहास से है जो उसे अंशतः लोकव्यापी, लोकतांत्रिक, सुधार–पसंद तथा प्रगतिशील बनाता है तो अंशतः रूढ़िपसंद, पिच्छलपैरी और प्रतिगामी – "जरूरत हिंदी के बारे में ऐसे बोध को विकसित करने की है जो उसे स्थायी नहीं, सदा गतिमान 'अस्तित्व' माने; स्वीकार करे कि हिंदी अपनी ऐतिहासिक गतिमानता में अपने चयनित 'अन्य' से परिभाषित हुई... इस सवाल से

सीधे टकराना होगा कि इस 'अन्य' ने, संघर्ष के इस इतिहास ने हिंदी की आत्मा को कैसे प्रभावित, संक्रमित और संदूषित किया...।"[5]

आश्चर्यजनक तौर पर, रामचंद्र तिवारी हिंदी के साथ जिस राष्ट्रीयता के भाव को नत्थी करने से इंकार कर रहे हैं वही 19वीं सदी के भयावह उथल–पुथल भरे वक्त में हिंदी लोकवृत्त का मुख्य सरोकार है। जाति अथवा 'कौम' होने के लिए सांस्कृतिक गर्व, स्वशासन के अधिकार के उद्घोष तथा समुदाय रूप में अपनी विशिष्टता–श्रेष्ठता के भाव का होना जरूरी होता है। राष्ट्रीयता का केंद्रीय दावा होता है कि अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे किसी समुदाय के सदस्य आपस में एक इतिहास, भाषा और परंपरा से जुड़े हुए हैं और ठीक इसी आधार पर उन्हें स्वायत्त होने का अधिकार है। लोग जिस तरह अपने परिवार, वंश, गाँव अथवा शहर से जुड़े होते हैं, इस जुड़ाव की स्वाभाविकता का जैसा बोध उन्हें होता है – वैसा किसी 'राष्ट्र' जैसे एक बड़े भूगोल में मौजूद समुदाय के साथ नहीं। इसी कारण हर 'राष्ट्र' सामाजिक संचार के सहारे एक साझे इतिहास की प्रस्तावना करता है। ये बातें उन्नीसवीं सदी के हिंदी लोकवृत्त की चिंताओं में साफ–साफ देखी जा सकती हैं।

मिसाल के तौर पर, बालकृष्ण भट्ट के लेखन को देखा जा सकता है। 'जातीयता के गुण'[6] शीर्षक लेख में वे लिखते हैं कि मनुष्यों में जातीयता का भाव दो कारणों से पैदा होता है – "एक प्राकृतिक दूसरा व्यावहारिक"। जातीयता का व्यावहारिक 'कारण प्रतिवासिता अर्थात् पड़ोस का निवास भाषा, मत या धर्म है।' इसके आगे वे भारत में जातीयता के अभाव को लक्ष्य कर इसका कारण बताते हैं – "हिंदुस्तान में जातीयता और सहानुभूति इसीलिए नहीं होती कि यहाँ मत और भाषा की विभिन्नता बहुत है... प्राचीन भारत जिस समय उन्नति की दशा में था और जातीयता का यहाँ पूर्ण प्रादुर्भाव था उस समय संस्कृत देश भर की एक भाषा रही... पीछे प्रकृत ने जोर पकड़ा जो एक समय ग्रामीण और नीच लोगों की भाषा थी और वही मँजते–मँजते यहाँ तक पुष्ट पड़ गई कि संस्कृत को दबा लिया और अनेक भेद उसके हो गए और भेद होने के साथ ही देश में जातीयता के भी टुकड़े कर डाले। अब मत को लीजिए। जब तक देश भर में वैदिक धर्म था जुदे जुदे संप्रदाय और मत नहीं फैले थे... जब से अनेक धर्म और संप्रदाय चले तब से जातीयता के सैकड़ों टुकड़े हो गये...।" एक भाषा और एक धर्म को जातीयता का कारण सिद्ध करने के बाद भट्ट जी जातीयता के एक तत्व 'समुदाय' की चर्चा करते हैं जो नस्ल के अर्थ में आया है – "जिस समय यहाँ वैदिक धर्म प्रचलित था ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र चारों मिलकर भारत में आर्य के नाम से ख्यात थे। उस समय इनके शोभन मूर्ति पर मोहित हो यवनों की दृष्टि इन पर पड़ी और उन्हें पराजित कर उन्हीं के अंक में इन मुसलमानों ने भी स्थान पाय बस गये... दोनों अंग एक हो अनेक शिराओं में रक्त–संचालन होना आरंभ हो गया। यहाँ तक कि उठना–बैठना, नशिस्त बरखास्त् रीति–नीति–व्यवहार सब एक हो आर्य से यावनिक हो गया सही पर कितनी बातों में जातीयता का आभास बना ही रहा....।" भारतवर्ष में मौजूद

जातीयता के अभाव को लक्ष्य कर भट्ट जी समाधान सुझाते हैं – "एक्य, सहानुभूति, देश भर की एक भाषा, एक मत, आदि जातीयता के उत्कृष्ट गुण जब तक न आवेंगे तब तक भारत का पुनरूत्थान सर्वथा असंभव है... ।"[7]

धर्म, भाषा और नस्ल को एकबद्ध रूप में जातीयता का कारक बताने वाले भट्ट जी 'जातियों का अनूठापन (National Character)'[8] शीर्षक से 'किसी जाति के विशेष धर्म' की खोज करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जब हम किसी एक जाति पर ध्यान देते हैं तो निश्चय ही उस जाति के आचरणों से कुछ ऐसी बातें लक्षित होती हैं जो खास उसी जाति में पायी जाएंगी और वे बातें ऐसी न होंगी जो मनुष्य मात्र में साधारण रीति पर पाई जाएं।" भट्ट जी के अनुसार किसी जाति का अनूठापन "दो चार बातें" हैं जो 'किसी जाति के बिगड़ी या बनी दशा में आदि से पायी जाती हैं।" भट्ट जी अपने जातीय चरित्र का अनूठापन लक्ष्य करते हुए कहते हैं – "बहुत आदि काल से आरंभ कर हम जब से इस जाति को लक्ष्य करते हैं तो उस विभेदक गुण का बीज पाते हैं और इसका नाम मननशीलता रखेंगे।" अगली ही पंक्ति में यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जाति से आशय हिंदू मतावलंबियों का ग्रहण कर रहे है – "यद्यपि संसार में बहुत से मजहब हैं... पर 'मुनि' और 'आश्रम' के जोड़ की कोई बात हम संसार के किसी मजहब में नहीं पाते... ।"

इस बिंदु तक आते–आते यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्ट जी जातीय चरित्र को धर्म में, धर्म को भाषा में और भाषा को नस्ल की विविध अभिव्यक्तियों में निबद्ध मानते हैं। स्वयं अपनी जाति के बारे में यही सूत्र लागू करने पर वे इसे हिंदू धर्म, संस्कृत भाषा और आर्य नस्ल की त्रयी के रूप में पाते हैं। वे इसे National Character के मानक के रूप में स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, आदिकालीन जातीयता के पुनरूत्थान के लिए उनके पास एक उपाय भी है।

'हिंदी प्रदीप' के फरवरी 1886 के अंक में 'भारत की जातीय भाषा'[9] शीर्षक से एक लेख छपा। इसे यहाँ ज्यों–का–त्यों उद्धृत कर देना उचित होगा :

"जबकि हम और – और विषयों में भारतवर्ष में ममता रखते हैं और उसे एक ही देखते हैं तो क्या आश्चर्य वरन् उपहास की बात नहीं है कि यहाँ कोई भाषा एक नहीं जिसे संपूर्ण देश अपनी कह सके? क्या भारतवर्ष देश के भिन्न–भिन्न प्रांतों के लोग मिलकर कह सकते हैं कि हम सब की अमुक एक भाषा है?"

"यदि किसी भाषा को हमलोग भारतवर्ष में व्यापक रूप से प्रचलित देखते हैं तो अंग्रेजी ही को पाते हैं, परंतु क्या वह भारतवर्ष की भाषा है? क्या हम लोग उसमें स्वत्व मान सकते हैं, क्या किसी विदेशी वस्तु में अपनी ममता स्थापन कर सकते हैं? कभी नहीं।"

"बहुत सी वस्तुएं हैं जिनमें हमारा जातीयत्व स्थिर एवं दृढ़ है किंतु कोई एक भाषा ऐसी अकेली नहीं है जिसे भारतवर्ष की जातीय भाषा कह सकें। हाँ! संस्कृत को अवश्य सब देश अपनी कह सकता है परंतु वह सामान्य बर्ताव में नहीं आती। इससे वर्तमानकालीन जातीयता उसमें नहीं है।"

"यह बहुत संभव है कि यदि अंग्रेजी की शिक्षा इसी प्रकार दिन–दिन फैलती गई तो कालांतर में हमारी जातीय भाषा का भाव उसमें आ जाय परंतु यदि ऐसा हुआ तो इस विश्वोन्नत प्राचीन भारतवर्ष के लिए इससे अधिक लज्जा का विषय दूसरा क्या होगा।"

"यदि देश का कुछ भी अभिमान हमको है तो ऐसा उपाय शीघ्र करना चाहिए जिससे हमारी एक जातीय भाषा हो। यहाँ पर इतना हमें अवश्य कहना चाहिए था कि यद्यपि जातीय भाषा हम लोगों की कोई नहीं परंतु जातीय अक्षर हैं और जो कोई हमारी जातीय भाषा कभी होवेगी इसके अक्षर वे ही अक्षर होने चाहिए जिनमें इस समय जातीयता है। वे अक्षर देवनागरी हैं और भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओं में एक ही भाषा ऐसी है जो उक्त अक्षरों में लिखी जाती है, और ईश्वर की कृपा से वह भाषा हिंदी है – फिर यह भी है कि यह हिंदी थोड़े बहुत भारतवर्ष के सब भागों में समझी जाती है और अधिक भागों में बोली जाती है।"

"इससे हमारी समझ में तो यही आता है कि यदि भारतवर्ष की कभी कोई जातीय भाषा होगी तो यही हमारी सर्वगुण आगरी नागरी ही होगी और यथार्थ में इसी को ऐसा बनने का अधिकार भी है।"

पिछले अध्याय में इस बात की चर्चा की चुकी है कि भट्ट जी हिंदी को हिंदूपन की बुनियाद मानते हैं और इसी कारण कायस्थों को उर्दू में अखबार निकालने पर कोसते हैं कि वे घोषित तो अपने को हिंदू करते हैं परंतु हिंदी का मूंड़ काटने पर तुले हुए हैं। वे फारसी और उर्दू पढ़े होने के कारण कायस्थों के समाज को 'महाम्लेच्छ' हो गया बताते हैं। उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि हिंदूपन की बुनियाद हिंदी नहीं बल्कि 'नागरी' है जिसका एक नाम 'प्रेमघन' जी के अनुसार 'बांमनी' भी है।[10]

यहाँ भारतेंदु हरिश्चंद्र के लेख 'लेखक और नागरी लेखक' को भी याद किया जा सकता है जिसमें वे लिपि को जाति के इतिहास और भविष्य से जोड़कर देखते हैं। भारतेंदु के लिए लिपि और इसलिए पुस्तक में भी "सारा भूत बंधा पड़ा है, उस काल की भाषा और शब्दावली मौजूद है। जिस समय के अधिकांश पंचभूत निर्मित पदार्थ अपने स्थूल शरीर को त्याग कर के निज–निज तत्व में जा बसे हैं उस समय के उनहीं पदार्थों का सारा विवरण यदि इस समय जानना चाहो तो शिलाखंड, ताम्रपत्र, भोजपत्र और आजकल के घास–फूस और चिथड़ों से बने हुए कोरे कागज पर के खुदे, लिखे और छपे चिन्हों को देखो...।"[11] भारतेंदु के अनुसार जब "समायांतर में हमारा यह ऐश्वर्य

किसी प्रकार रक्षित न रह सकेगा... उस समय हमारे वर्तमान, धर्म्म, कर्म्म, राज्य, बल, गौरव और धन का हाल" 'भविष्यत की संतानों' को लिपि और लेखक की पुस्तकों से ही मालूम होगा।[12]

आश्चर्य नहीं कि इस युग के 'नागरी लेखक' साहित्य के विकास को किसी जाति की सभ्यता के विकास के रूप में पढ़ते हैं। उनके लिए एक लिपि में बद्ध सभी कुछ किसी खास जाति की सभ्यता के उत्थान और पतन को सूचित करने वाले एक संकेतक में तब्दील हो जाता है। बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं – "साहित्य सभ्यता का प्रधान अंग है। यह कभी संभव नहीं कि कोई देश सभ्यता में बढ़ जाए और साहित्य उस देश की भाषा का पीछे हटा रहे... साहित्य ही इस बात का साक्षी और नपना है कि वहाँ सभ्यता किस दरजे तक पहुँच चुकी थी।"[13] इस युग का साहित्यकार इसी कारण साहित्य के उन्नयन में जातीयता के उन्नयन को देखता है – सभ्यता और साहित्य के घनिष्ठ संबंध के "सूत्र के अनुसार जब तक हमारी भाषा के साहित्य की उन्नति न होगी तब तक उस सभ्यता को भी क्षणिक मानना चाहिए जिसका प्रवेश अंगरेजी राज्य के प्रताप से हमारे देश में हो रहा है क्योंकि पूर्ण सभ्यता बिना देश की भाषा की उन्नति के सर्वथा असंभव है।"[14] इस 'बिन निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को शूल' को अंगरेजी राज्य के प्रताप से प्रवेश करने वाली सभ्यता के संदर्भ में ही समझना उचित होगा।

पिछले अध्याय में इस बात की चर्चा की गई थी कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी साहित्य की अवधारणा में मूलगामी बदलाव आता है। उसके भीतर काव्य, पुराण, श्रुति, स्मृति, इतिहास ज्योतिष, वैद्यक आदि समस्त वाड.मय को शामिल कर लिया जाता है और इस तरह साहित्य की पुरानी भारतीय धारणा, जिसमें इन सबके बीच जरूरी भेद किया जाता था, बदल जाती है। इस बदलाव का मुख्य कारण है साहित्य की उपनिवेशवादी–पौर्वात्यवादी समझ। अंग्रेजी सभ्यता के दबाव में अपना सारा कुछ ब्रिटिश पदों में ही अनूदित करके भारतीय अपनी श्रेष्ठता साबित कर सकते थे। विनय धाड़वड़कर ने ध्यान दिलाया है कि 18वीं सदी के तीसरे दशक से साहित्य को पौर्वात्यवादियों ने भारतीय वाड.मय के रूप में देखना शुरू कर दिया था और ऐसा वे भारतीय सभ्यता का एक इतिहास खोजने की गर्ज से कर रहे थे,' ऐसा इतिहास जो वैज्ञानिक हो, यानी भाषाविज्ञान की नई समझ के अनुसार यह इतिहास खोजा जा रहा था।[15] सर विलियम जोन्स ने 'Indian literature', 'The literature of Asia' तथा 'Sanskrit Literature' जैसे व्यापक पदों का प्रयोग अपने भाषणों और लेखों में किया। साहित्य से उनका आशय 'सभी ज्ञात और वर्तमान पाठ' से था जो किसी भाषा अथवा क्षेत्र में उपलब्ध हो। उन्होंने भारतीय, हिंदू अथवा संस्कृत साहित्य के भीतर वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, भागवत्गीता, मनुस्मृति, शिल्पशास्त्र, नीतिशास्त्र, हितोपदेश, स्कंद–भागवत–मत्स्य आदि पुराण, चरकसंहिता तथा सूर्य–सिद्धांत (ज्योतिर्विद्या) को शामिल किया तो अभिज्ञानशाकुंतलम, गीत–गोविंद और रूपगोस्वामी के भगवतामृत को भी। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी पौर्वात्यवादी इतिहासलेखन में भारत में मौजूद साहित्य

को इतने ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया, जिसमें प्रमुख है 1859 ई. में प्रकाशित हुआ फ्रेडरिक मैक्समूलर का 'A History of Ancient Sanskrit Literature'।

पौर्वात्यवादी साहित्य को इतने व्यापक अर्थ में देख रहे थे तो इसका कारण स्वयं उनके सामने मौजूद वाड.मय की प्रकृति में नहीं, बल्कि साहित्यविषयक उनकी धारणा में मौजूद था। विनय धाड़वड़कर ने ध्यान दिलाया है कि पौर्वात्यवादी, भारत में मौजूद वाड.मय के साथ वही कर रहे थे जो उस वक्त के पश्चिमी विद्वान योरोप की प्राचीन और मध्यकालीन ज्ञान–परंपरा के साथ। सन् 1730 ई. के बाद योरोप में लिटरेचर शब्द का अर्थ हो गया 'लिखित ज्ञानराशि'।[16] योरोप में इस वक्त से उपलब्ध ज्ञानराशि के इतिहास की फिक्र शुरू हो जाती है। मिसाल के तौर पर एडम फर्गुसन के 'ऐसेज ऑन द हिस्ट्री ऑफ सिविल सोसायटी' (1767 ई.) में पहली बार 'हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर' शब्द का व्यवहार होता है और अपने शब्दकोश के लिए प्रसिद्ध सैमुअल जॉनसन सन् 1774 ई. में न सिर्फ 'हमारा प्राचीन साहित्य' जैसा शब्द गढ़ते हैं, बल्कि इस सदी के अंतिम दशक में लिखित अपनी पुस्तक 'लाइव्स ऑफ पोएट' में इसका इस्तेमाल भी करते हैं।[17] सैमुअल जॉनसन के 'शब्दकोश' में 'लिटरेचर' का अर्थ कौशल के रूप में दिया गया है और उसे 'पढ़ने और लिखने के ज्ञान' के रूप में निरूपित किया गया है। इन्हीं सैमुअल जॉनसन को भारतेंदु ने अपने लेख 'लेखक और नागरी लेखक' में यह कहते हुए उद्धृत किया है कि प्रत्येक जाति को अपने लेखकों ही के गौरव और उच्चाशय द्वारा सर्वोच्च यश की प्राप्ति होती है।[18] 'साहित्य' के अर्थ की इस व्यापकता का संबंध तत्कालीन योरोपीय समाज में 'शिक्षा' की अवधारणा से था। ब्रिटेन में यही वक्त 'नागरिक समाज' के उदय और जन–शिक्षण के प्रसार का है। जी एन देवी के अनुसार पिछली चार सदियों में ब्रिटेन में मुख्य जोर औद्योगिक समाज की जरूरतों के तहत भौतिक रूप से उपयोगी शिक्षा देने पर रहा है और 'स्वच्छंदतावादी' सांस्कृतिक विद्रोह से पहले ब्रिटेन में 'अंग्रेजी साहित्य' के अध्ययन का कोई नामलेवा तक न था। 18वीं सदी के इंग्लैंड में शिक्षा विषयक बहुत–सी बातों ने वहाँ के कॉफी हाउसों में आकार ग्रहण किया। काफी हाउसों के जरिए ही 'ब्रिटिश सोसायटी ऑफ आर्टस्' का जन्म हुआ। इस सोसायटी के सदस्यों में दो रसायनशास्त्री विलियम शिप्ले और राबर्ट डोजी शामिल थे। इन दोनों ने डॉ. जॉनसन को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने वैज्ञानिक विचारों के प्रसार के लिए इन्हें एक संस्था खोलने में मदद देने का वायदा किया था।[19]

विलियम जोन्स भी उपयोगी ज्ञान के नजरिए से ही भाषा को देख रहे थे और भारत में नागरिक समाज के गठन का रास्ता प्रशस्त करने की अपनी 'नेकनीयती' में, पाठाधारित हिंदुत्व की खोज करके 'कानून' की संहिता बनाने के काम में जुटे हुए थे। अगर प्रबोधनकालीन प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म ने 'धर्म' की मूल पुस्तक खोजने के क्रम में भाषाई शुद्धता को जाँचने के लिए वैज्ञानिक विधियों का इस्तेमाल किया था तो विलियम जोन्स इसी वैज्ञानिकता का इस्तेमाल हिंदू धर्म की मूल पुस्तक खोजने के लिए कर रहे

थे। वे अपने भाषाविज्ञान के बल पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे – "इसमें कोई संदेह नहीं कि वेद की भाषा इस देश के अधिकांश भागों में प्रचलित थी और जब तक ब्रह्म धर्म का इस देश में प्रचार रहा था तब तक प्रचलित रही।"[20] यह जोन्स ही थे जिन्होंने हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तांन के आत्यंतिक संबंध का आविष्कार किया। उन्होंने स्पष्ट लिखा कि "भारत से मेरा आशय उस विशाल भूभाग से है जिसमें हिंदुओं का प्राचीन धर्म और भाषा आज तक कमोबेश प्राचीन शुद्धता के साथ प्रचलित है और जिसमें (भाषा और धर्म में) नागरी लिपि अब भी अपने मूल रूप से थोड़े से ही बदले रूप में प्रयोग की जाती है।"[21] जोन्स ने अपने भाषाविज्ञान के बल पर संस्कृत को लैटिन और ग्रीक से ज्यादा पूर्ण तथा शब्द–समृद्ध ही नहीं ठहराया, बल्कि इन तीनों भाषाओं को एक ही स्रोत से उत्पन्न माना।

शेल्डन पोलॉक का तर्क है कि संस्कृत, लैटिन, ग्रीक और जर्मन भाषाओं की पारस्परिक एकता की इस खोज का गहरा संबंध जर्मनी की राष्ट्रीयता और आत्मबोध से है।[22] जोन्स के इस खोज को आधार मानकर योरोप के विभिन्न विश्वविद्यालयों में भाषावैज्ञानिक अध्ययन हुए और भाषाओं की पारस्परिक एकता के आधार पर उन्हें प्रयुक्त करने वाली एक 'आर्य' नस्ल की कल्पना की गई। इन अध्ययनों ने भारोपीय भाषा–परिवार नामक कोटि बनायी और एक ही मूल से उत्पन्न होने को आधार मानकर इस भाषा–परिवार के बोलने वालों के मूल–स्थान की खोज हुई। रोमिला थापर की टिप्पणी है कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते–आते योरोपीय विद्वान आर्य जाति और उसके मूल–स्थान के बारे में, भाषाविज्ञान के खोज के आधार पर आश्वस्त हो चुके थे।[23]

जर्मनी में इन विचारों का इस्तेमाल जर्मनी को शेष योरोप से अलग बताने में हुआ। शेल्डन पोलॉक के अनुसार जर्मनी ने 'राष्ट्र' के रूप में अपनी आत्म–परिभाषा 19वीं सदी के आरंभ से कुछ पहले शुरू कर दी थी। जर्मनी एक तरफ अपने को 'लैटिन क्रिश्चियन योरोप' से अलगाना चाहता था तो दूसरी तरफ, प्रबोधन की परियोजना से प्रकट सार्वभौम मानवतावाद से भी। संस्कृत और उसके आर्य–मूल की खोज ने जर्मनी के इस विश्वास को पुष्ट किया कि एक 'राष्ट्र' के रूप में वह 'लैटिन क्रिश्चियन योरोप' से न सिर्फ स्वतंत्र है, बल्कि प्राचीन भी। वहाँ इसी क्रम में 'इंडो–जर्मन' और 'सामी योरोप' का प्रत्यय तैयार हुआ।[24]

वसुधा डालमिया ने जर्मनी की राष्ट्र–रूप में की गई अपनी आत्म–परिभाषा से संबद्ध तीन व्यक्तियों जॉन गॉटफ्रेड हर्डर (1744–1803), फ्रेडरिक श्लीगल (1772–1829) तथा फ्रेडरिक मैक्समूलर (1823–1900) को भारत के लिए महत्त्वपूर्ण माना है और इनके संबंध को सविस्तार दिखलाया है।[25] यहाँ हर्डर अथवा शेष दोनों की विस्तार से चर्चा न करके, भाषा और राष्ट्रीयता से संबंधित इनके विचारों की महज एक बानगी प्रस्तुत कर देना समुचित होगा। हर्डर ने सन् 1784 ई. में प्रकाशित 'मैटिरियल्स फॉर द फिलॉस्फी

ऑफ द हिस्ट्री ऑफ मैनकाइंड' में लिखा – "जैसे लवणयुक्त पानी अपने घटक, चालन–शक्ति और स्वाद उस मिट्टी से ग्रहण करता है जिससे होकर वह बहता है, उसी तरह लोगों का प्राचीन चरित्र उनकी वंशगत विशेषताओं, वातावरण, जीवन और शिक्षण, शुरुआती काम–धाम और रोजगार आदि की विशेषताओं से निर्धारित होता है। पुरखों के तौर–तरीके उनके वंशजों में गहराई तक जड़ जमाते हैं और उनके भीतर आद्यरूप में मौजूद रहते हैं। यहूदियों के लेखन और कामकाज से हमें उनके चिंतन के तरीके की पर्याप्त जानकारी मिलती है। हम इसी की मिसाल लें। वे अपनी पितृभूमि तथा दूसरे राष्ट्रों में भी उसी तरह रहते हैं जैसे पहले रहते आए हैं और दूसरे लोगों से घुल–मिल जाने के बावजूद कई पीढ़ियों के बाद भी उनको अलग से साफ पहचाना जा सकता है। सभी प्राचीन जातियों – मिस्री, चीनी, अरब, हिंदू आदि – के साथ यही बात देखने को मिलती है... क्या किसी जाति को अपने पूर्वजों की भाषा से ज्यादा प्यारी कोई चीज हो सकती है? पुरखों की वाणी में जाति का पूरा चिंतन, उसकी परंपरा, इतिहास, धर्म और जाति के हृदय तथा आत्मा का वास होता है... जाति की सर्वोत्तम संस्कृति किसी विदेशी भाषा में अभिव्यक्त नहीं हो सकती... यह संस्कृति जाति की भूमि पर ही सबसे ज्यादा सुंदर ढंग से खिलती है और जाति को विरासत में प्राप्त तथा विरासत से प्राप्त करने योग्य भाषा में ही खिलती है....।"[26]

इन्हीं हर्डर ने भाषा को राष्ट्र की आत्मा घोषित करते हुए कहा था कि मातृभाषा के बिना राष्ट्र अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि मातृभूमि से प्रेम करने वाला विदेशी भाषाओं के महाजाल में मातृभाषा के दिशानिर्देश के बिना खो जाएगा और मातृभाषा ही विभिन्न प्रकार की भाषाओं की भूलभुलैया में किसी एक का दूसरे से एक्य स्थापित करती है।[27] योरोपीय प्रबोधन की सार्वभौमिकता तथा उसके भीतर प्रस्तावित मनुष्य की अवधारणा से हर्डर के संस्कृति संबंधी विचारों के अलगाव का एक सारगर्भित अध्ययन भीखू पारेख ने किया है।[28]

भाषा और जातीयता संबंधी हर्डर के विचारों की गूंज श्लीगल और फ्रेडरिक मैक्समूलर में सुनायी देती है। वसुधा डालमिया ने ध्यान दिलाया है कि सन् 1859 ई. में मैक्समूलर की रचना 'अ हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडियन लिटरेचर' प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने वैदिक काल के साहित्य और धर्म का महिमागान किया और छपने के पाँच माह के भीतर पुस्तक का पहला संस्करण बिक गया। मैक्समूलर ने इस पुस्तक का उद्देश्य 'अपने पुरखों की भाषा, धर्म तथा दंतकथाओं के प्रथम मणि–मुक्ता' को खोजना बताया था – "उन देवों का ज्ञान जो अकेला यहूदियों का ही ईश्वर नहीं है'.... । इस पुस्तक की शुरुआत में ही मैक्समूलर ने स्पष्ट कर दिया है कि वह अपने धर्म, भाषा और दंतकथाओं के उद्गम के बारे में लिख रहे हैं, न कि सामियों के।[29]

भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र या बालकृष्णभट्ट आदि के लेखन में 'निज भाषा' और 'स्वत्व' का पारस्परिक संबंध अगर हम हिंदी–हिंदू–हिंदुस्तान के सूत्र के रूप

में पाते हैं तो उसकी बुनियाद में जोन्स से लेकर मैक्समूलर तक फैला पौर्वात्यवादी ज्ञान जरूर सक्रिय है। यह उन्हें मिल और मैकाले के उपयोगितावादी दंभाख्यान से भी सगर्व बच निकलने की राह दिखता है और सुधर्मवादियों के विरूद्ध तर्क भी प्रदान करता है।

हिंदी और उर्दू

नागरी लिपि में लिखी हिंदी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के भीतर ही हिंदू और हिंदुस्तान का वाचक बनी थी। इस प्रक्रिया में 'हिंदी' ने अपने को सचेत रूप में न सिर्फ फारसी लिपि से अलगाया, बल्कि वह लिपि के स्तर पर कैथी और मुंड़िया–महाजनी लिपि से भी अलग हुई और इसके साथ–साथ भाषा के स्तर पर ब्रज से अलगाव की कोशिशें भी हुईं। यह घटना 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक सुनिश्चित रूप धारण करती है और उस प्रक्रिया की तरफ इशारा करती है जिसमें राष्ट्रीयता के गठन के लिए सामाजिक संचार केंद्रीय भूमिका निभाता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन में उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को लक्ष्य किया जा सकता है जिसके कारण हिंदी एक बहुत बड़े भूभाग– में फैले जनसमूह की मातृभाषा कहलायी – "जो लोग हिंदी भाषा को अपने साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों का माध्यम बना चुके हैं उनकी मातृभाषा यही भाषा नहीं है। उन्होंने इन भाषा को माध्यम मान कर देश की एकता को दृढ़ किया है। यह समझना भूल है कि सभी हिंदीभाषी कहे जाने वाले लोगों की मातृभाषा ठीक अर्थों में हिंदी ही है। हिंदी की उपभाषा समझी जाने वाली कितनी ही बोलियों का पुराना साहित्य किसी भी प्रादेशिक मानी जाने वाली भाषा के पुराने साहित्य से टक्कर ले सकता है। राजस्थानी, मैथिली, ब्रजभाषा और अवधी, पंजाबी आदि पुराने साहित्य के टक्कर का पुराना साहित्य किन भाषाओं के पास है? इन सब बोलियों के बोलने वालों ने स्वेच्छा से अपनी–अपनी भाषाओं के स्थान पर परिनिष्ठित हिंदी को स्वीकार किया...।"[30]

इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हिंदी साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों के लिए माध्यम के रूप में स्वीकार की गई भाषा है। इसका उद्देश्य देश की एकता को दृढ़ करना है तथा जिन लोगों ने इसे माध्यम के रूप में अपनाया उनकी मातृभाषा हिंदी की उपभाषाएँ अवधी, मैथिली आदि हैं, साथ ही हिंदी को माध्यम के रूप में स्वेच्छा से अपनाया गया। द्विवेदी जी का हिंदी के बारे में यह बयान अत्यंत मूल्यवान है। यह स्वीकार करता है कि जिन समुदायों ने देशहित में 'हिंदी' को अपनाया, उनकी भाषाएँ हिंदी से तनिक अलग थीं। द्विवेदी जी साहित्य के इतिहास के मर्मज्ञ हैं और जिस साहित्य का वे संकेत कर रहे हैं उसके पात्र भी अपने समय में कुछ–कुछ ऐसा ही कर रहे थे।

शिक्षा नीति से संबंधित हंटर आयोग ने भारतेंदु से जो सवाल पूछे थे, उसमें एक यह भी था – 'जो देसीभाषा मान्यता प्राप्त है और स्कूलों में पढ़ायी जाती है क्या वही लोगों की बोली है? यदि नहीं, तो क्या इस कमी के कारण वह कम उपयोगी और कम

जनप्रिय है?' इसके उत्तर में भारतेंदु ने कहा कि हमारी बोली क्या है इसका उत्तर देना कठिन है क्योंकि भारत का प्रमाणित सत्य यह है कि प्रत्येक योजन (आठ मील) के बाद बोली बदल जाती है और अकेले उत्तर–पश्चिमी प्रांत में कई बोलियाँ हैं। उन्होंने उदाहरण देकर बताया कि इस प्रांत की बोली में जाति, जन्म–स्थान और वक्ता की शैक्षिक योग्यता के अनुसार भिन्नता है "अतः मैं इस प्रांत की भाषा उस भाषा को मानता हूँ, जो सब लोग सार्वजनिक स्थानों में सार्वजनिक अवसरों पर बोलते हैं, जैसे राज–दरबारों में, अदालतों में, सार्वजनिक सभाओं में...।" भारतेंदु के अनुसार पश्चिमोत्तर प्रांत में ऐसी भाषाएँ केवल दो हैं – ब्रजभाषा और खड़ी बोली। 'ब्रजभाषा का प्रयोग हिंदी की पद्य–रचना में किया जाता है और खड़ी बोली दो विभिन्न रूपों में सारे प्रांत में बोली जाती है। जब उसमें फारसी शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है और फारसी शब्दों की लिपि में लिखी जाती है तो वह उर्दू कहलाती है, जब वह वाह्यमिश्रण से अछूती रहती है और नागरी लिपि में लिखी जाती है हिंदी कहलाती है।"[31]

भारतेंदु इस बयान में स्पष्ट ही पश्चिमोत्तर प्रांत में राजकाज और सार्वजनिक व्यवहार में प्रयुक्त भाषा को 'हिंदी' कह रहे हैं और इस हिंदी की पहचान है कि वह 'वाह्यमिश्रण' से अछूती रहकर नागरी लिपि में लिखी जाय। द्विवेदी जी जिसे 'सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक कार्य' कह रहे हैं वह भारतेंदु के बयान का 'सार्वजनिक स्थान' और 'सार्वजनिक अवसर' है। यहाँ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि भारतेंदु लोगों के आपसी बोलचाल की भाषा को जिसमें जाति, जन्मस्थान और वक्ता की शिक्षा के प्रभाव से पारस्परिक भिन्नता होती है – 'प्रांत' की भाषा नहीं मान रहे।

'सार्वजनिक कार्य' के लिए प्रयुक्त भाषा का तकाजा होता है कि वह एकरूप हो। सार्वजनिक दायरे में पारस्परिक संवाद–कर्म चूँकि सर्वजन के हित के मुद्दे पर होता है, इसलिए सिद्धांततः यह क्षेत्र सबकी भागीदारी के लिए खुला हुआ क्षेत्र है। अगर सभी भागीदारों के संवाद की भाषा अलग–अलग हो तो सार्वजनिक दायरे में पारस्परिक संवाद संभव ही नहीं – ऐसे में न तो सर्वजन के हित के मुद्दे पर एक साथ सोचा–विचारा जा सकता है और न ही उक्त मुद्दे पर जनसमर्थन हासिल किया जा सकता है। दूसरे, सार्वजनिक कार्य सार्वजनिक ढाँचे के भीतर ही संभव है और इस ढाँचे के भीतर संवाद मौखिक नहीं, लिखित होता है। लेखन की अपनी जरूरतें हैं। 'लिपि' की एकरूपता के बगैर लिखित संवाद संभव नहीं। भारतेंदु जिस युग में ये बातें कह रहे थे उसमें विधि–आधारित राजव्यवस्था ने सार्वजनिक ढांचे को स्कूल, कॉलेज, कचहरी और न्यायपालिका आदि के रूप में साकार किया था। इस ढाँचे में भागीदारी का आधार लिखित भाषा ही है – चाहे यह पाठ्यपुस्तक, अदालती दस्तावेज, सरकारी आदेश, रिपोर्ट सूचना आदि के रूप में हो या अखबार के रूप में।

खड़ी बोली के 'वाह्य प्रभाव' से मुक्त होने और नागरी लिपि में लिखी होने का तर्क भारतेंदु यों ही नहीं दे रहे थे। विधि–व्यवस्था ने जो सार्वजनिक ढाँचा कायम किया

था उसमें उसने अपनी नीति के अनुसार पश्चिमोत्तर प्रांत में एक भाषा पहले से ही चला रखी थी। उच्च शिक्षा की भाषा अंग्रेजी थी तो प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों की भाषा उर्दू तथा हिंदी। प्राथमिक–माध्यमिक स्तर पर पढ़ाई जा रही भाषा का कोई मानक रूप भी न था और इस मामले में सरकार की प्रयोगधर्मी नीति के अनुसार वह बदलती रहती थी। अदालतों की भाषा फारसी लिपि में लिखी फारसी–बहुला उर्दू थी और नगरपालिकाओं की भी। अगर इनमें प्रवेश करना हो तो फारसी लिपि जानना अनिवार्य शर्त की तरह था। निष्कर्ष यह कि सार्वजनिक जीवन में भागीदारी की लिपि फारसी और अंग्रेजी थी।

इस सार्वजनिक दुनिया में सभी भागीदार नहीं हो सकते थे। सिद्धांततः भागीदारी का हक सबको था, लेकिन इसके लिए जरूरी थी शिक्षा। शिक्षा तक पहुँच उसी की थी जो उसके लायक फीस चुका सके। शिक्षा सिर्फ उभरते हुए मध्यवर्ग की पूँजी थी जो पुरानी सामाजिक संरचना में अपनी विशिष्ट हैसियत के कारण पढ़–लिख सका था। ग्रामीण जनता और परंपरागत पेशे से जुड़े लोग मसलन पुरोहित, महाजन, शिल्पी और खेतिहरों की बड़ी संख्या अभी सार्वजनिक ढाँचे में सीधे–सीधे भागीदार होने लायक शिक्षित नहीं हो पायी थी। यह जनता अदालतों में न्याय मांगने जाती थी, लेकिन मध्यस्थ के रूप में अमलों की पूरी फौज मौजूद थी। यह नगरपालिकाओं से बरताव करती थी, लेकिन उसके अदब–कायदे से अनजान थी। सरकारी आदेश उस पर लागू होते थे, लेकिन इन आदेशों को कोई बाँचकर सुनाये तभी उसे पता चलता था। मौखिक संस्कृति पर आधारित समाज में अभी लिखित संस्कृति या कहें कि प्रिंट–आधारित समाज को पैर रखने की जगह मिली थी, पैर पसारने की नहीं। इसी कारण, इस युग का मध्यवर्ग जनसाधारण की बात उसे ही सुनाना चाहे तो जनता असमर्थता जाहिर करती थी। यही कारण था कि पं. अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने इस युग के सार्वजनिक संवाद के एक माध्यम, अखबार, के बारे में लिखा – "इन दिनों हिंदी पाठक बहुत कम थे, इसलिए ग्राहक तो लोग बन जाते थे, पर पत्र पढ़ न सकते थे। यह समस्या इस तरह हल की गई कि पं. दुर्गाप्रसाद कई गदि्दयों में जाकर 'भारतमित्र' पढ़कर सुना आया करते थे...।"[32]

जो लोग लिखत–पढ़त से पेशेवर जरूरतों के कारण जुड़े थे उनकी लिपि भी एक न थी कि एक 'भूगोल' का व्यक्ति दूसरे 'भूगोल' के व्यक्ति के साथ लिपि के आधार पर अपनी एकता महसूस करे। बालमुकुंद गुप्त इसकी पहचान एक अन्य संदर्भ में करते हैं – "बनिये–महाजनों की बात लेकर नागरी अक्षरों को अयोग्य कहना ठीक नहीं। बही–खाते की चाल को लेकर बहस करना है तो दिल्ली के प्रायः सब दुकानदार मुसलमान महाजनी अक्षरों में अपने बही खाते रखते हैं, कलकत्ता के कोल्हू टोला में दिल्ली के मुसलमानों का बड़ा जोर है, यहाँ भी उनका खाता मुड़िया अक्षरों में चलता है। फिर यह भी नहीं कि मुसलमान साधारण महाजनों की तरह अनपढ़ होते हैं।

लखनऊ के मुसलमानों को इनसे पूछना चाहिए कि वह फारसी के अक्षरों में बही खाता क्यों नहीं लिखते?"[33]

राजा शिवप्रसाद सिंह ने भी सन् 1868 ई. में पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा निरीक्षक की हैसियत से सरकार को लिखे अपने द्वितीय अभ्यर्थना–पत्र में प्रकारांतर से यही बात स्वीकार की थी। लेकिन उन्होंने खास उद्देश्य से भाषाविज्ञान का सहारा लेकर बोलियों और लिपियों की भिन्नता का लोप कर दिया। इस अभ्यर्थना–पत्र में उन्होंने कहा कि सरकार अगर अंग्रेजी को जनता पर इसलिए नहीं लाद रही क्योंकि उसे राजकाज देशी भाषा में करना है तो फिर वह दूसरी विदेशी भाषा अर्थात् अर्द्धफारसी, फारसी लिपि में लिखी उर्दू को क्यों लाद रही है। यह काम तो मुस्लिम राजाओं ने भी नहीं किया – "जब मुसलमानों का भारत पर आधिपत्य हुआ तो उन्होंने पाया कि इस देश की भाषा हिंदी है और इसी भाषा तथा लिपि में सारे काम–काज होते हैं...।" इसके बाद वे हिंदुस्तान और हिंदी से अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हैं – "देश से मेरा आशय मैदानी इलाके के हिंदुस्तान से है जिसमें बिहार, पश्चिमोत्तर प्रांत, अवध, राजपूताना, पंजाब और मध्यप्रांत शामिल है। हिंदी से मेरा आशय इस विशाल भाग में बोली जाने वाली भाषाओं से है और लिपि से आशय अशोक के शिलालेखों पर उत्कीर्ण लिपि से जो पालि की अपनी शैशवावस्था के बाद पल–बढ़ कर अपनी पूर्णता देवनागरी, कैथी, महाजनी, मुंडा, टंकारा, मारवाड़ी में प्राप्त करती है...[34]

सवाल उठता है कि भाषा–बोली और लिपि की इतनी भिन्नता के बावजूद 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सिर्फ दो भाषाएँ – हिंदी और उर्दू तथा दो लिपियाँ – देवनागरी और फारसी लिपि ही पश्चिमोत्तर प्रांत में अदालत, स्कूल–कालेज और नगरपालिका की भाषा के रूप में अपनी दावेदारी के लिए क्यों संघर्षरत् हुईं? इसका एक उत्तर तो स्वयं सार्वजनिक ढाँचे की स्थापना करने वाली विधि–व्यवस्था में छुपा है। इस विधि–व्यवस्था ने शुरूआती दिनों से ही हिंदुस्तान के इतिहास को दो प्रमुख धार्मिक समुदायों – हिंदू और मुसलमान – के इतिहास के रूप में देखा था। विधि–व्यवस्था की स्थापना करने की प्रक्रिया में संहिताओं का निर्माण इन समुदायों की धर्म–परंपरा को खोजकर किया गया और खोज का आधार स्वयं भाषा बनी। फारसी लिपि को मुस्लिम धर्म और नागरी लिपि को हिंदू धर्म का प्रतीक–चिह्न मानकर यह खोज हुई थी। जोन्स, कोलब्रुक और हाल्हेड भाषा, धर्म, दर्शन आदि के सहारे भारत के दो धर्मों का इतिहास खोजने के काम पर लगे। इसी उद्यम में ईसाई मिशनरी भी लगे थे। ईसाई मिशनरियों में एक विलियम कैरे थे जो सन् 1793 में भारत आये और 'न्यू टेस्टामेंट' को भारतीय भाषाओं में अनूदित करने के कार्य के सूत्रधार बने। कैरे ने अपनी भाषाविषयक समझ की गलती को स्वीकार करते हुए लिखा – "भाषाओं के संबंध में खोज करते हुए हमें यह पता चला कि जहाँ तक संस्कृत से उद्भूत भाषाओं का प्रश्न है, हमारा ज्ञान इस संबंध में ठीक नहीं है... हम लोगों को यह ठीक तरह से पता था कि संस्कृत से 8 अथवा 9 भाषाएँ निकली हैं। हम लोगों का ऐसा अनुमान था कि संस्कृत भाषा से ही तमिल, कन्नड़,

तेलुगु, गुजराती, उड़िया, बंगला, मराठी, पंजाबी तथा हिंदुस्तानी की उत्पत्ति हुई है और शेष भाषाएँ हिंदी के विविध रूप हैं... यद्यपि इसी ऊपर के विचार को लेकर हम अपने कार्य की पूर्ति में अग्रसर हुए थे किंतु अंततोगत्वा हमें ये विचार छोड़ने पड़े... कारण यह कि... कोई–कोई भाषा... हिंदी से इतनी भिन्न थी कि उसे हिंदी का रूप या बोली कहना उचित नहीं। वास्तव में हमें यह पता चला है कि यहाँ 20 से अधिक ऐसी भाषाएँ हैं जिनके शब्द–समूह समान हैं और संस्कृत से इनका संबंध भी एक रूप में है ही, किंतु उनके प्रत्यय विभिन्न हैं। अतएव उन्हें स्वतंत्र भाषाएँ माना जा सकता है... भारत में कोई एक ऐसी सामान्य भाषा भी नहीं जिनकी ये बोलियाँ हो सकें। संस्कृत, जिससे ये सभी भाषाएँ प्रसूत हुईं, देश में कहीं भी बोलचाल की भाषा नहीं है। हाँ, यह दूसरी बात है कि समस्त भारत के पंडित इसे बोलते हैं...।"[35]

विलियम जोन्स और विलियम कैरे नवविकसित भाषा विज्ञान के आधार पर भारत की खोज कर रहे थे। इस भाषाविज्ञान की शेष कमियाँ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते–आते दूर कर ली गईं। इस भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया की तरफ इशारा करते हुए पीटर फॉन डे फीर ने लिखा है – "भारतविद्या–शास्त्र (Indology) एक विज्ञान के रूप में भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के क्रम में सुस्थापित हुआ। इसमें वे नियम खोजे गये जो बताते थे कि कैसे एक भाषा परिवर्धित होकर दूसरी भाषा में बदलती है, और भारोपीय भाषाओं का एक परिकल्पनात्मक मूल खोजा गया। इस भाषायी उद्यम और पाठालोचन (संहिता निर्माण) की परियोजना में गहरा संबंध है जिससे भाषा वैज्ञानिक एक मूल पाठ की खोज करता है। कहा जा सकता है कि भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन ने भाषाविज्ञान को वैज्ञानिक हैसियत प्रदान की। 'वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता' के तर्क से भाषाविज्ञानी अपनी निर्भरता स्थानीय और देशी व्याख्याताओं से हटा सका...।"[36]

भाषा के बारे में दृष्टि बदलने से समाजविषयक दृष्टिकोण में बदलाव आता है। सर जॉन गिलक्राइस्ट जब इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि उत्तर भारत में जनता की भाषा हिंदुस्तानी और उसके विविध रूप हैं और इसको मानकीकृत रूप देना जरूरी है तो अपनी इस योजना के तहत उन्होंने सैमुअल जॉनसन की रीति पर एक शब्दकोश तैयार करना चाहा। ऐसा कंपनी की प्रशासनिक जरूरतों के मद्देनजर ही किया जा रहा था। मगर इस क्रम में एक दिलचस्प घटना घटी। 'डिक्शनरी' निर्माण के लिए गिलक्राइस्ट (1759–1847) लोगों के बीच घूमे और पूछा कि "क्या कोई देशी शब्दकोश है जिसकी मदद ली जा सके" तो लोगों का आश्चर्यमिश्रित प्रत्युत्तर था – "क्या कोई ऐसा भी देश है जहाँ लोगों को अपनी जबान बोलने के लिए शब्दकोश और 'निरूक्त' देखना पड़ता हो...।"[37] गिलक्राइस्ट के समय में हिंदुस्तानी जनता अभी सार्वजनिक ढाँचे के लिखित संवाद की दुनिया से दूर थी और वह इसी कारण भाषा–लिपि–इतिहास के आपसी संबंधों के बीच बनने वाले राष्ट्रीयता के आख्यान से भी। शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सक्रिय थे – सार्वजनिक ढाँचे में कार्यरत एक सार्वजनिक प्राधिकारी के रूप में। वे नव–भाषाविज्ञान के तर्क के प्रयोग से न सिर्फ शेष भाषाओं से भारोपीय

मूल की भाषाओं को अलगा सकते थे, संस्कृत को हिंदी की जननी बता सकते थे, एक लिपि से शेष लिपियों की उत्पत्ति सिद्ध कर सकते थे; बल्कि यह भी कह सकते थे कि – "हमारे समय की फारसी नीम–अरबी है और मुझे सरकारी नीति में कोई विवेक नजर नहीं आता जो हिंदुओं के हृदय में एक सामी तत्व बलात् आरोपित करके उन्हें अपनी आर्यभाषा से दूर कर रही है। सिर्फ भाषा से ही नहीं, उन सारी चीजों से दूर कर रही है जो आर्य मूल के हैं क्योंकि भाषा के द्वारा ही विचार बनते हैं और विचार से ही आचार–व्यवहार। फारसी पढ़ना इस्लामी होना है, हमारे विचार भ्रष्ट हो जाते हैं और हमारी जातीयता नष्ट हो जाती है... और मुझे इस (सरकारी) नीति में कोई विवेक नजर नहीं आता तो आज सारे हिंदुओं को नीम–मुसलमान बनाने पर तथा हमारी हिंदू जातीयता को नष्ट करने पर तुली हुई है...।"[38]

'सितारेहिंद' को दुख था कि तहसीली और हल्काबंदी विद्यालयों में विभक्त सभी ग्रामीण विद्यालयों में हिंदी के स्थान पर नीम–फारसी चलायी जा रही है। जहाँ ऐसा नहीं किया जा रहा, वहाँ हिंदी का कोई महत्त्व नहीं है। राजा शिवप्रसाद के अनुसार स्कूलों और न्यायालयों में देवनागरी के प्रवेश से नौ सूत्री लाभ होंगे – "1. हिंदू राष्ट्रीयता की पुनर्स्थापना होगी। 2. यदि हम सिकंदर के काल के हिंदू नहीं बन सके जब पोरस ने सिकंदर के आक्रमण का अत्यंत वीरतापूर्वक मुकाबला किया था तो पृथ्वीराज और जयचंद के काल के हिंदू बन सकते हैं जिन्होंने बारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में मुसलमानी आक्रमण के समय अपने प्राणों की आहूति दी थी। 3. संस्कृत का अध्ययन किया जाएगा। 4. एक देशीय भाषा होगी। 5. कचहरी के कागजात दुर्बोध एवं जनता के लिए अभेद्य नहीं रहेंगे। 6. ज्ञान का साधन सुगम हो जाएगा। 7. देसी भाषा के साहित्य की वृद्धि होगी। 8. संपूर्ण भारत में एक्य का संचार होगा। 9. सैनिक और सैन्य पदाधिकारियों को दो लिपि और दो देसी भाषाओं के भार से मुक्ति मिलेगी।"[39]

इस वक्त तक मैक्समूलर की पुस्तक के माध्यम से हर्डर भारत तक पहुँच चुके थे और 'आर्य कुल' की भाषाओं में विधि–व्यवस्था द्वारा परिभाषित 'समुदाय' अपना 'स्वत्व' पहचान सकता था। डेविड लेलिवेल्ड ने बर्नाड कोहन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "भारतीय भाषाओं की ब्रिटिश खोज प्रभुत्व–स्थापन का ही एक उपक्रम थी। लगभग सौ वर्षों तक ब्रिटिश व्यापारी और सिपाही स्थानीय दुभाषियों अथवा पुर्तगीज और फारसी के सीमित ज्ञान के सहारे अपना काम चला रहे थे। उन्हें मात्र इतना पता था कि हिंदुस्तानी एक मिली–जुली भाषा है और इसका रिश्ता मुसलमानों से है तथा सिपाहियों और नौकरों को आदेश देने में यह भाषा उपयोगी है। अंग्रेजों ने संस्कृत, बंगाली और हिंदुस्तानी का गंभीर अध्ययन अपना राजनीतिक प्रभुत्व प्रत्यक्ष कायम कर लेने के बाद ही शुरु किया। लेकिन विलियम जोन्स के वक्त से ही भारतीय भाषाओं के अध्ययन से अंग्रेजों ने न सिर्फ व्यावहारिक फायदे उठाये बल्कि उसका विचारधारात्मक इस्तेमाल किया। भाषा को एक स्वायत्त वस्तु माना गया जिसे वर्गीकृत और सुव्यवस्थित करके विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। विभिन्न भाषाओं के विभिन्न

इतिहास थे। यह इतिहास उन भाषाओं का इस्तेमाल साहित्य–रचना के लिए करने वालों का इतिहास हो गया, फिर इन इतिहासों का तुलनात्मक अध्ययन हुआ ताकि यह जाना जा सके कि विगत इतिहास में किसी कौम ने दूसरे पर कैसे बढ़त हासिल की... भारत भाषावैज्ञानिक उद्यम का समृद्ध क्षेत्र बन गया।"[40]

आश्चर्य नहीं कि इस भाषावैज्ञानिक उद्यम के भीतर शब्दकोश, व्याकरण और पुस्तकों की रचना तथा लिपि के मानकीकरण के प्रयास[41] हुए और अंग्रेजी प्रशासन ने अपने भाषाबोध के सहारे प्रशासन का सार्वजनिक ढाँचा विकसित किया। कई लिपियाँ एक ही लिपि का विस्तार मान ली गईं, कई भाषाएँ एक ही भाषा का रूप मानी गईं। हिंदी–उर्दू के विवाद का विचारधारात्मक आधार भाषावैज्ञानिक अध्ययन और इस अध्ययन से ब्रिटिश प्रशासन के आत्यंतिक रिश्ते ने तैयार किया। जैसा कि क्रिस्टोफर किंग ने ध्यान दिलाया है, उत्तर भारत में 18वीं–19वीं सदी की प्रभावी मुगल संस्कृति का प्रतीक उर्दू बनी। नागरी के पक्ष में उठा आंदोलन सचेत हिंदू जातीयता का आंदोलन था और इसने, अगर कोई साझी संस्कृति थी तो उसके प्रतीकों से अपने को अलगाया। इसने लिखित अथवा मौखिक संस्कृति के लोकव्यापी रूपों से अपने को अलग किया और नागरी हिंदू संस्कृति का प्रतीक बनी।

हिंदी और उर्दू का आंदोलन सन् 1850 ई. के बाद ही आरंभ होता है। सन् 1836 ई. में स्कूल की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनी पुस्तक 'भूगोलसार' (लेखक – ओंकार भट्ट जोशी) पर डॉ. मुरलीधर ने बड़े जतन से लिखी और मूल सामग्री पर आधारित अपनी पुस्तक 'हिंदी के योरोपीय विद्वान : व्यक्तित्व और कृतित्व' में टिप्पणी की है कि 'लल्लू जी और सदल मिश्र की रचनाओं के 25 वर्ष बाद ऐसी भद्दी और भौंडी भाषा देखकर दुख होता है।'[42] उन्होंने बालमुकुंद गुप्त को उद्धृत किया है – "पर दुख की बात है लल्लू जी के पीछे बहुत काल तक ऐसे लोग उत्पन्न नहीं हुए जो उनके दिखाए मार्ग पर चलते और उनके किए गए काम की उन्नति करते। इसी से उनका काम जहाँ का तहाँ रह गया। देवनागरी अक्षरों में प्रेमसागर के ढंग की नई–नई रचनाएँ करने वाले लोग साठ साल तक फिर दिखाई नहीं दिए....।"[43] डॉ. मुरलीधर कारण बताते हैं कि 'सन 1845 ई. तक किसी अंग्रेज अधिकारी का हिंदी पुस्तकों को लिखवाने में विशेष अनुराग नहीं था... 1845 ई. के बाद पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई ठीक से प्रारंभ होने पर शिक्षा विभाग का मुख्य ध्यान पाठ्यपुस्तकों पर गया....।"[44]

देवनागरी अक्षरों में नई–नई रचनाएँ करने वाले लोग अगर 60 साल तक नहीं दिखाई दिए तो इसका कारण यही था कि बालमुकुंद जी के समय के अंग्रेजी शासन और लल्लूलाल जी के समय के ब्रिटिश शासन में फर्क था। कंपनी शासन को क्राउन शासन से अलगाने वाली 'क्रांति' (1857 ई.) घट चुकी थी। क्राऊन शासन में 'महारानी' ने सबको सिद्धांततः ब्रिटिश प्रजा माना और 'धर्म के अधिकार की रक्षा' के साथ–साथ

कानून के समक्ष बराबरी के बरताव का वायदा किया। क्राऊन शासन 'दंड' के साथ–साथ 'सहमति' पर भी चलने वाला शासन था और स्वशासन (नगरपालिका) के माध्यम से शासन में भागीदारी का, नौकरशाही के माध्यम से आजीविका का तथा 'स्वतंत्र व्यापार' के माध्यम से 'लाभ' का अवसर दे रहा था। इस शासन में 'राजभक्ति' सर्वोच्च गुण थी और 'डिसलायल्टी' अक्षम्य अपराध।

आश्चर्य नहीं कि हिंदी–उर्दू विवाद ने उन्हीं संस्थानों के संदर्भ में आकार ग्रहण किया जहाँ नौकरी या अधिकार विद्यमान थे। यह 'एक भाषा और धर्म' को आधार बनाकर 'दूसरी भाषा और धर्म' के अभिजन को चुनौती देने की रणनीति थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लिखा – "जिस भाव से हिंदूमत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा। अब हम लोगों का बल न्यून हो गया, विदेशी शिक्षाओं से मनोवृत्ति बदल गई, जीविका और धन उपार्जन के हेतु अब हमलोगों को पाँच–पाँच छह–छह पहर पसीना चुआना पड़ेगा, रेल पर इधर से उधर कलकत्ते से लाहौर और बंबई से शिमला दौड़ना पड़ेगा। सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का, इंजीनियरी का इम्तहान देने को विलायत जाना होगा, बिना यह सब किए काम नहीं चलेगा क्योंकि देखिए कृस्तान, मुसलमान, पारसी यही हाकिम हुए जाते हैं, हम लोगों की दशा दीन हुई जाती है।"[45]

बड़ी नौकरियों में तो नहीं, लेकिन छोटी नौकरियों में उर्दू लिपि का ज्ञान अनिवार्य शर्त की तरह था। कचहरी (लोअर कोर्ट) और नगरपालिका का काम भी उर्दू लिपि में होता था। स्कूली पाठ्यक्रम की पुस्तकों को तैयार करने का बड़ा व्यवसाय था, स्कूलों में भाषा की नौकरियाँ थीं। राजस्व विभाग का बहुत–सा काम उर्दू लिपि में होता था। मध्यवर्गीय हिंदू मानस इसे अपनी 'उन्नति' में बाधा के रूप में देख रहा था। भट्ट जी को मलाल था – "हा! अभागी हिंदी! हम निश्चय जान गये कि तू निःसंदेह बड़ी करम फूटी है कि ऐसे उदार गवर्नमेंट में भी तेरी कदर और यथोचित न्याय तेरे लिए नहीं किया जाता... उर्दू, फारसी की इतनी कदर कि जनाब मौलाना साहब की संख्या भी शिक्षा विभाग में अधिक रहे और तनख्वाहें भी बड़ी–बड़ी फटकारें। हिंदी, संस्कृत अध्यापक दो की जगह एक रहें, उसमें भी मासिक तनख्वाह मौलवियों की अपेक्षा आधी।"[46] 19वीं सदी में विधि–आधारित 'समुदाय' के प्रतिनिधि के रूप में ही भारतेंदु के इस कथन को पढ़ना उचित होगा कि – "अंगरेजों से जो नौकरी बच जाती है उस पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती हो जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी नहीं, केवल नौकरी आदि की थी सो भी धीरे–धीरे खिसकी...।"[47]

सार्वजनिक ढाँचे पर 'हिंदी' के माध्यम से दावेदारी प्रस्तुत कर रहे मध्यवर्ग ने नगरपालिका को भी अधिकार के एक प्रतिष्ठान के रूप में चिह्नित कर, वहाँ जारी उर्दू की वैधता को चुनौती दी – "म्युनिसिपल वा लोकल बोर्ड का काम जो कुछ है वह सब रियाया का है, जिसे सरकार आज तक आप खुद करती रही, पर अब वह प्रजा के हाथ में सौंप दिया गया है। इसका कुल काम जैसे रुपया वसूल करना, जमा घटाना–बढ़ाना,

मेम्बरों की अदल–बदल इत्यादि सब कमिटी की राय से होता है। इस म्यूनिसिपलटी की जान चुंगी है जिसके देने वाले मुख्यकर महाजन, दूकानदार और सौदागर हैं, जिनके बही–खाते, बीजक चिट्ठी पत्री आदि सब हिंदी में होते हैं, तब उर्दू अक्षर जो किसी हालत में प्रजा के बरताव में नहीं आते और इसलिए वे अक्षर साधारण प्रजा के किसी तरह नहीं कहे जा सकते, जो म्यूनिसिपलटी के दफ्तर पर सब ओर से आक्रमण किए हुए हैं....? उर्दू अक्षरों के कारण चुंगी का महसूल देना अथवा फेर लेना व्यापारियों के लिए कितना कष्टदायी होता है और कभी–कभी तो महाअन्याय भी होता है। हिंदी अक्षरों में दफ्तर का काम होने से हम प्रण कर सकते हैं कि ऐसे–ऐसे अन्याय कभी न होंगे।"[48]

हिंदी और उर्दू की तरफदारी में तर्क देने वाले अभिजन सन् 1857 ई. के बाद एक नयी व्यवस्था में रह रहे थे। रेल, डाक, तार ने स्थानीयताओं को एक सूत्र में बाँध दिया था और हुकूमत जनगणना, रिपोर्ट, सर्कुलर, आदेश आदि के जरिए सूचनाओं को एक हद तक सार्वजनिक कर रही थी। इस व्यवस्था में न सिर्फ सूचनाएँ सार्वजनिक थीं, बल्कि उन सूचनाओं के आधार पर किसी मांग के पक्ष में अर्जी, मेमोरंडम आदि भी दिया जा सकता था। पिछले अध्याय में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि 1857 ई. के बाद का 'राज' एक सीमा तक शासन में देसीजनों की भागीदारी को स्वीकार कर रहा था और उसका जोर 'जनमत' को ध्यान में रखकर शासन करने का था। अब सभा–सोसायटियाँ स्थापित की जा सकती थीं और 'धर्म' को 'अधिकार' के अंतर्गत स्वीकार कर लिया गया था। इस स्थिति में 'हिंदी' को आधार बनाकर सार्वजनिक ढाँचे में अपने प्रतिनिधित्व की बात करना 'समुदाय' के प्रतिनिधियों के लिए सहज था। हिंदी का आंदोलन ऐसे में हिंदू समुदाय के आंदोलन के रूप में उठा – "यह देश हिंदुस्तान है, यहाँ हिंदुओं की भाषा रीति–नीति सब प्रचलित होनी चाहिए क्या किया जाय, हिंदू जाति ऐसी घस्सड़ है कि वह यवन संपर्क अब तक नहीं छोड़ना चाहती। अंगरेजी राज्य को यहाँ सौ वर्ष हो गए, अब हम किसी तरह मुसलमानों के बाधित नहीं है तब उनकी भाषा और उनके अक्षर तथा रीति–नीति की यहाँ अब क्या आवश्यकता है, इत्यादि कह अपने भाइयों को उद्‌बोधन करना कोई पाप है जो 'मारिफ' (अलीगढ़ से प्रकाशित उर्दू साप्ताहिक) इस कदर से चिढ़ गए हैं....।"[49]

उर्दू–हिंदी का आंदोलन सभा–सोसायटियों की स्थापना, शब्दकोश–व्याकरण आदि की रचना, अखबार की बहस, पुरानी पांडुलिपियों की खोज और प्रकाशन, खड़ी बोली में फारसी और संस्कृत के शब्दों के अत्यधिक मेल, प्राथमिक–माध्यमिक स्तर पर पाठ्यपुस्तकों की अलग–अलग लिपियों में रचना तथा देसी भाषा में साहित्य–रचना के बीच साकार हुआ। क्रिस्टोफर किंग का निष्कर्ष है कि 'हिंदू' और 'मुस्लिम' अभिजन ने सरकारी नौकरी की आपसी प्रतिद्वन्द्विता में यह विवाद चलाया और इसमें तर्क समुदाय के प्रतिनिधित्व के दिए गए।[50]

हिंदी के पक्षधरों का तर्क था कि ज्यादातर लोग नागरी लिपि में लिखी हिंदी का व्यवहार करते हैं; उर्दू की लिपि विदेशी हैं; यह लिपि दुर्बोध है इसके द्वारा अर्थ का अनर्थ किया जा सकता है और इस लिपि के कारण फारसी और अरबी के कठिन शब्दों को खड़ी बोली में भरने में मदद मिलती है तथा सरकारी दफ्तर–कचहरी आदि में नागरी लिपि के प्रवेश से शिक्षा के प्रसार में भी मदद मिलेगी क्योंकि पढ़नेवालों के लिए नौकरी की संभावनाएँ होंगी। एक तर्क यह भी था कि नागरी लिपि बहुत तेजी से लिखी जा सकती है।[51]

उर्दू के समर्थकों का तर्क था कि सुदूर गाँव के लोग भी सहज प्रवाह में उर्दू बोल लेते हैं; उर्दू भाषा स्वयं भारत में जन्मी, भले ही उसकी लिपि विदेशी हो; किसी भी लिपि में जालसाजी की जा सकती है; हिंदी की विभिन्न बोलियाँ हैं इसलिए उसका कोई मानक स्वरूप नहीं बन पाया है; हिंदी का शब्द–सामर्थ्य भी खास नहीं और उसमें तकनीकी और वैज्ञानिक शब्दावली का अभाव है।[52]

इन तर्कों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था संख्या का उल्लेख। सन् 1873 ई. के 'कविवचनसुधा' के एक अंक में तर्क दिया गया कि सरकार को जनमत का ध्यान रखते हुए नागरी लिपि को दफ्तर–कचहरी में लागू करना चाहिए। ऐसा करने से मुसलमानों को थोड़ी हानि होगी, लेकिन उनकी संख्या कम है और हिंदुओं की ज्यादा और जिसकी संख्या ज्यादा हो उसके हितों का ध्यान सरकार को पहले रखना चाहिए। यह तर्क बाद में इस कटुता तक जा पहुँचा कि 'हंटर आयोग' के समय सर सैयद ने हिंदी को 'गँवारों की भाषा' कहा तो भारतेंदु ने उर्दू को 'वेश्याओं की भाषा' बताया।

हिंदी–उर्दू विवाद के कारणों में एक था दोनों समुदायों का सन् 1857 ई. के बाद 'राज' की नजर में अपने को निष्ठावान सिद्ध करना, अपने को सन् 1857 ई. की साझी विरासत से अलगाना और उन्नति का इतना अवसर पाकर अपने–अपने समुदाय की भलाई के काम में उद्यमशील होना। 'जनमत' और 'समुदाय' की विधिक उपस्थिति इस काम को सहज बना रही थी और दोनों समुदाय एक–दूसरे को मध्यकालीन संदर्भों में याद करके अपनी 'अस्मिता' के लिए अलग–अलग इतिहास बना रहे थे। भारतेंदु इस बात को रेखांकित करते हैं – "वे दिन लद चुके हैं जब ब्राह्मण और पंडित गायत्री भी फारसी के माध्यम द्वारा सीखते थे।"[53] दूसरी तरफ सर सैयद इस बात की पहचान कर रहे थे कि जहाँ तक साहित्य का सवाल है – "यह बात माननी ही चाहिए कि किसी कौम के साहित्य का संबंध उसके धर्म से होता है" और इसी कारण मुसलमान "अंग्रेजी भाषा में प्रदत्त ज्ञान से दूर रहते हैं", क्योंकि यह उन्हें "ईसाईयत कबूल करने जैसा लगता है।" सर सैयद का तर्क था कि अंग्रेजी विज्ञान की शिक्षा इसी कारण उर्दू लिपि में दी जानी चाहिए क्योंकि बगदाद के खलीफाओं के वक्त यूनानी दर्शन और विज्ञान अरबी–फारसी में अनूदित होने के कारण मुसलमानों द्वारा धर्म का ही हिस्सा मानकर स्वीकार कर लिए गए थे – "यूनानी दर्शन, विज्ञान, तर्कशास्त्र, अरबी में अनूदित हुए

और पूरे मुस्लिम जगत् ने उसे बेहिचक स्वीकार किया तथा थोड़े हेर–फेर के साथ इस ज्ञान का प्रवेश मुसलमानों की धर्म–पुस्तक में हो गया तथा समय बदलने के साथ विज्ञान को धर्म मान लिया गया, इनकी हैसियत धर्म–विश्वास के समान ही ऊँची हो गई।"[54]

यहाँ दोनों ही पक्ष लिपि और भाषा को 'धर्म' के वाचक के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। लिपि भेद समुदाय के भेद का प्रतीक था और समुदाय प्रतिनिधि सार्वजनिक ढाँचे में जगह बनाने के लिए लिपि और भाषा के सहारे सामुदायिक पहचान को दृढ़ कर रहे थे। इसी प्रक्रिया का एक पक्ष था पूर्ववर्ती भाषा–साहित्य से अपने को जोड़ने और अलगाने की ऊहापोह। खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा के विवाद में यह सबसे ज्यादा प्रकट हुआ। खड़ी बोली में पद्य–रचना का आंदोलन अयोध्याप्रसाद खत्री के नेतृत्व में उठा। खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा के विवाद में राधाचरण गोस्वामी ने ब्रजभाषा में ही पद्य–रचना करते रहने के पक्ष में तर्क दिए तो श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में कविता करने के पक्ष में। राधाचरणजी के तर्क 11 नवंबर 1887 ई. के 'हिन्दोस्थान' में प्रकाशित हुए थे। इसमें उन्होंने कहा कि 1. खड़ीबोली ब्रजभाषा से भिन्न होकर स्वतंत्र भाषा नहीं है। खड़ीबोली और ब्रजभाषा में केवल क्रिया का अंतर है। खड़ी बोली ब्रजभाषा, कन्याकुब्जी, शौरसेनी आदि कई भाषाओं के मिश्रण से बनी है। 2. खड़ीबोली में हिंदी के उत्तम छंदों का निर्वाह नहीं हो सकता। 3. दयानंदी और मिशनरी संस्थाओं ने जिस पद्य का प्रारंभ किया है उसे रसिक समाज 'डाकिनी' समझता है।[55] इन तर्कों का प्रतिवाद श्रीधर पाठक ने 20 दिसंबर 1887 के 'हिन्दोस्थान' में किया। उनके कई तर्कों में एक यह भी था कि ब्रजभाषा की कविता सब देशों में नहीं समझी जाती और खड़ी बोली की कविता सब समझेंगे।[56] इस विवाद में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि भी शामिल हुए। इस बहस के मूल में हिंदी राष्ट्रीयता ही थी। गोस्वामी जी अगर इसके एक पक्ष पर ध्यान दिला रहे थे कि "ब्रजभाषा के भंडार को हिंदी से निकाल देने से फिर हिंदी में क्या गौरव की सामग्री रह जाएगी" तो पाठक जी दूसरे पक्ष पर कि 'खड़ी बोली की कविता सब देशों में समझी जाएगी।' राष्ट्रीयता की विशेषता है कि वह अपने को प्राचीन साबित करना चाहती है और साथ ही प्राचीनता के किसी 'सारतत्व' की निरंतरता वर्तमान तक मौजूद बताती है। गोस्वामी जी निरंतरता की फिक्र करते हुए इतिहास से जुड़े रहना चाहते हैं, पाठक जी इस निरंतरता को सब देशों (प्रांत) में देखना चाहते हैं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के अंतर को एक व्यक्ति छंदशास्त्र और विरासत का प्रश्न उठाकर पाटना चाहता है तो दूसरा यह फिक्र करता है कि कहीं साहित्य की स्थानीयता (ब्रजभाषा) व्यापक भूगोल में जातीयता के गठन में बाधक न बने। इसीलिए पाठक जी दोनों भाषाओं में कविता रचना के हामी थे यानि विरासत भी मौजूद रहे और उसका व्यापक भूगोल में दूसरी भाषा प्रसार करे। गोस्वामी जी भाषा की निरंतरता बनाए रखना चाहते हैं, पाठक जी लिपि की।

उर्दू और हिंदी के मध्य चले लिपि–संबंधी विवाद की व्याख्या कुछ विद्वान सिर्फ अभिजन की राजनीति के रूप में करते हैं। ऐसे विद्वानों के अनुसार अभिजन प्रतीकों के चयन और उसके इर्द–गिर्द मिथकों के गठन द्वारा किसी समूह को अपनी राजनीतिक परियोजना का हिस्सा बनाते हैं और अपना स्वार्थ–साधन करते हैं। ऐसी व्याख्या मानती है कि अभिजन इस प्रक्रिया में सार्वजनिक दायरे में मौजूद सामाजिक संचार के माध्यमों मसलन पाठ्यपुस्तक, अखबार, सभा–सोसायटी आदि का इस्तेमाल करते हैं और समूह उनकी रणनीति में मूक भागीदार होता है अर्थात् संदेश का अभिप्रेत बगैर बदले योजनानुसार साकार हो जाता है। उत्तर भारत में धर्म, भाषा और राजनीति के पारस्परिक संबंधों पर केंद्रित पॉल आर. ब्रास का अध्ययन भी कुछ इस तरह की व्याख्या प्रस्तुत करता है। ब्रास किसी जनसंख्या की तीन क्रमिक अवस्थाओं को चिह्नित करते हैं – 1. एथनीक अवस्था : इस अवस्था में किसी मानव–समूह में कुछ साझी और वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ विद्यमान होती हैं, जैसे धर्म और भाषा' परंतु वह इन विशेषताओं के बारे में सजग नहीं होता; 2. समुदाय की अवस्था : इस अवस्था में एथनीक समूह सजग–सचेत होकर आत्म–परिभाषा करता है अर्थात् वस्तुनिष्ठ विशेषताओं के प्रति सजगता आ जाती है; 3. राष्ट्रीय या जातीय समूह की अवस्था : आत्म–परिभाषा कर चुका समुदाय इस अवस्था में सक्रिय राजनीतिक भागीदारी करने लगता है और राजनीतिक मांग के जरिए महत्त्वपूर्ण सफलता, जैसे कि स्वतंत्र राष्ट्र अथवा किसी संप्रभु राष्ट्र के भीतर विशेष हैसियत हासिल करता है।[57]

ब्रास के अध्ययन का मुख्य विषय किसी मानव–समूह की इन तीन अवस्थाओं के आपसी संबंध पर है, यानि इस बात पर कि विभिन्न एथनीक समूहों में विद्यमान वस्तुनिष्ठ विभिन्नताएँ (भाषा और धर्म) कैसे आत्म–परिभाषा युक्त समुदाय–चेतना में तब्दील होती है और फिर कैसे इसी चेतना का रूपांतरण राजनीतिक मांग के रूप में होता है। ब्रास का तर्क है कि भाषा और धर्म 'प्रदत्त' नहीं होते, उनमें हेर–फेर किया जा सकता है। अभिजन इसमें से किसी एक प्रतीक को चुनते हैं और बाकी प्रतीकों को उसी के इर्द–गिर्द 'फिट' करते हैं। कई प्रतीकों को एक योजना में 'फिट' करने की इस प्रक्रिया को ब्रास ने 'प्रतीकों का सहमेल' (Multi-symbol Congruence) कहा है। ब्रास के अनुसार 'प्रतीकों का सहमेल' एक राजनीति है जिसके जरिए राजनीतिक अभिजन किसी एथनीक समूह को सपाट, मगर आत्मसजग समुदाय में बदलता है। किसी निर्णायक सांस्कृतिक प्रतीक को चुनकर वह इसके इर्द–गिर्द 'समूह' के अन्य प्रतीकों को सजा देता है। ब्रास के अनुसार उत्तर भारत में राजनीतिक अभिजन ने धर्म को प्राथमिक प्रतीक के रूप में चुना तथा भाषा और शेष प्रतीकों को इसके सहमेल में स्थापित किया। रूपांतरण की प्रक्रिया के उन्होंने दो चरण बताये हैं। पहला चरण है एथनीक समूह का आत्मसजग होना। इसके अगुआ अभिजन बनते हैं, वे कुछेक वस्तुनिष्ठ विशेषताओं को

ज्यादा मूल्यवान बताते हैं, इसके मिथक बनाते और गढ़ते हैं। समुदाय का अग्रगामी हिस्सा इस मिथक और प्रतीक के भीतर अपने को सोचना शुरु कर देता है। इस चरण के लिए जरूरी चार बातें हैं – अभिजन की मौजूदगी, किसी समुदाय में एक अग्रगामी (मध्यवर्ग) तबके की मौजूदगी, अपने से अलग बताने के लिए किसी दूसरे समुदाय का होना और प्रतीकों के एक पुंज की मौजूदगी जिसके आधार पर दूसरे समुदाय से विभेद किया जा सके। दूसरे चरण में 'समुदाय' राजनीतिक मांग करने लगते हैं। ब्रास के अनुसार 'समुदाय' की आत्म–परिभाषा स्थिर होने के पहले ही राजनीतिक मांग उठाये जा सकते हैं और उन्हें हुकूमत मान भी सकती है। परंतु कोई एथनीक समूह जातीय समूह में बदला या नहीं इसका प्रमाण मात्र यह है कि समूह के अधिकारों को राजनीतिक गतिविधियों के जरिए लगातार उठाया गया या नहीं, उन्हें हासिल किया गया या नहीं।

ब्रास की ये स्थापनाएँ इसी तर्कश्रृंखला के अंतर्गत पश्चिमोत्तर प्रांत के मुस्लिम अलगाववाद और बाद में पाकिस्तान के निर्माण की व्याख्या करती हैं। ब्रास की स्थापना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हम 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदू धर्म, हिंदी भाषा, हिंदू स्त्री और हिंदुस्तान में या फिर इस्लाम, उर्दू और इस्लाम मानने वाली स्त्री के बीच एक संगति देखते हैं। ब्रास की स्थापना के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंदू धर्म अथवा इस्लाम का प्रतीक समुदाय–चेतना विकसित करने के लिए अभिजनों (भारतेंदु, सर सैयद आदि) द्वारा चुना गया और शेष प्रतीकों मसलन भाषा, स्त्री आदि को उसके मेल में स्थापित किया गया। लेकिन ब्रास की स्थापनाएँ एक गहरी दिक्कत का भी संकेत करती हैं। ब्रास यह नहीं बताते कि अभिजन किसी एक प्रतीक को सर्वाधिक निर्णायक मानकर क्यों चुनता है, वे यह भी नहीं बताते कि यह 'चयन' अपने लक्ष्य–समुदाय में स्वीकृत क्यों होता है। ब्रास मानकर चलते हैं कि अभिजन प्रतीकों का हेर–फेर कर लेता है अर्थात् वह अपने 'समुदाय' का द्रष्टा होता है; स्वयं समुदाय–चेतना का हिस्सा नहीं। दूसरे शब्दों में, ब्रास 'अभिजन' को अपने लक्ष्य–समुदाय से अलग रखते हैं और उसे 'कर्त्ता' मानते हैं। ब्रास को यह स्वीकार नहीं कि समुदाय–चेतना किसी इतिहास का हिस्सा होती है और इस इतिहास का 'कृत्य' जैसे समुदाय–विशेष के अन्य सदस्य होते हैं वैसे ही अभिजन भी।[58]

सन् 'सत्तावन' के बाद कायम नई व्यवस्था में 'महारानी' ने 'प्रजाजनों' को अपना धर्म मानने का अधिकार दिया था। इसमें यह वायदा शामिल था कि स्वयं ब्रिटिश–ताज तो ईसाई आदर्शों का हामी है, लेकिन वह अपनी प्रजा के धर्म–विश्वास में दखल नहीं देगा। महारानी के 1 नवंबर, 1858 ई. के घोषणापत्र में कहा गया था कि हम स्वयं ईसाई धर्म–मत के मानने वाले हैं और कृतज्ञतापूर्वक धर्म का आश्रय स्वीकार करते हैं, लेकिन इसके साथ ही अपनी प्रजा पर अपना यह 'विश्वास' थोपना हमें पसंद नहीं। इसे हमारी राज्याज्ञा समझा जाय कि हमारी प्रजा के साथ उसके धर्ममत के कारण भेदभाव नहीं बरता जाएगा और सबको कानून की निष्पक्ष सुरक्षा प्राप्त होगी तथा हमारे

अधिकार–क्षेत्र में रहने वाले किसी व्यक्ति के धार्मिक विश्वास अथवा उपासना में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा।[59] धर्म को 'अधिकार' की संज्ञा मिली, साथ ही उसे कानून के समक्ष निष्पक्ष 'सुरक्षा' की गारंटी भी। सन् 'सत्तावन' के बाद 'राज' अपनी प्रविधि को लेकर ज्यादा सतर्क था। बेंटिक और डलहौजी के समय का यह उत्साह कि 'राज' अपनी प्रजा को 'सभ्य' बनाने के लिए मनचाहे ढंग से शिक्षित करेगा और खास ढाँचे में रखेगा – भंग हो चुका था। सेना, वित्त, प्रदेश और भूस्वामियों से संबंधित नियमों में ही 'राज' ने बदलाव नहीं किए ; धर्म के मामले में भारतीय जनता को बड़ी 'छूट' दी। यह बात मान ली गई कि 'पश्चिमी मूल्यों' के आलोक में भारत का मनचाहा रूपांतरण संभव नहीं और भारतीय समाज के प्रभुत्वशाली वर्गों की आवाज सुनी जानी चाहिए। उनकी सलाह पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

भारत के प्रभुत्वशाली वर्ग (अर्थात् 'राज' की समझ से दो प्रमुख धर्म–समुदाय हिंदू और मुसलमान के नुमाइंदे) अपने–अपने बारे में क्या कह रहे थे, कैसी सलाह दे रहे थे? 'धर्म' को अधिकार के अंतर्गत स्वीकार कर लिए जाने के बाद भारतेंदु ने सोचा – "वे दिन लद चुके हैं जब ब्राह्मण और पंडित गायत्री भी फारसी के माध्यम से सीखते थे।" यह बात शिक्षा से संबंधित नीति तैयार करने के लिए सलाह ले रहे हंटर आयोग से कही गई। सर सैयद इसी आयोग से कह रहे थे कि मुसलमानों को अंग्रेजी भाषा में पढ़ना ईसाईयत को स्वीकार करने जैसा लगता है, इसलिए अंग्रेजी विज्ञान की शिक्षा उन्हें उर्दू भाषा में दी जानी चाहिए।

भारतेंदु अपने कथन में 'मुसलमानी राज' के दिन लद जाने की बात कह रहे हैं। सर सैयद की चिंता दूसरी है। वे अपने 'धर्म' के साथ विज्ञान के तनाव को दूर करने की कोई विधि खोज रहे हैं। ऐसा क्यों है? दोनों के कथन के सरोकार अलग–अलग हैं। इसका उत्तर दोनों के इतिहास–बोध में छुपा है। भारतेंदु 'बादशाह दर्पण' की भूमिका कहते हैं – "क्या मुसलमान, क्या अंग्रेज भारतवर्ष को सभी ने जीता, किंतु इनमें उनमें तब भी बड़ा प्रभेद है।" और यह भेद बड़ी मानीखेज है भारतेंदु के लिए, बावजूद इस स्वीकृति के कि "मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है और अंग्रेजी क्षयी का।" वे इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं – "जो कुछ हो, मुसलमानों की भाँति इन्होंने हमारी आँखों के सामने हमारी देवमूर्तियाँ नहीं तोड़ीं और स्त्रियों को बलात्कार से छीन नहीं लिया, न घास की भाँति सिर काटे और न ही जबर्दस्ती मुँह में थूककर मुसलमान बनाए गए – विशेषकर अंग्रेजों से हम लोगों को जैसी शुभ शिक्षा मिली है उसके हम ऋणी हैं। भारत कृतघ्न नहीं है। यह सदा मुक्त कंठ से स्वीकार करेगा कि अंग्रेजों ने मुसलमानों के कठिन दण्ड से हमें छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गये किंतु पेट भरने को भीख मांगने की विद्या भी सिखा गये।"[60]

कोई चाहे तो भारतेंदु के इस कथन में उपनिवेशवादी इतिहासलेखन की गूंज सुन सकता है। सर हेनरी एम. ईलियट ने जॉन डाउसन की सहायता से फारसी स्रोतों

के आधार पर History of India as told by its own Historians (1849) में लिखा – "जनता दुर्दशा और हताशा में निमग्न हो चुकी थी। महत्त्वहीन संदर्भों में भी मुसलमान विवाद की स्थिति में हिंदुओं की हत्या कर देते थे। जुलूसों, पूजापाठ तथा धार्मिक स्थानों पर व्यापक प्रतिबंध लगा दिया जाता था। अन्य असहिष्णुतापूर्ण कार्यवाही जैसे – मंदिरों के ध्वंस, हिंदुओं का जबरन धर्मांतरण और बलात् विवाह जैसे भी कृत्य होते थे। इसके लिए उत्तरदायी तानाशाहों की कामुकता और नशाखोरी की झाँकियाँ भी मिलती हैं।"[61] ईलियट का मंतव्य साफ है कि "इस समय बाबू लोग सरकार के शासन में पूर्ण स्वतंत्रता का भोग कर रहे हैं और ऐसे विशेषाधिकार का उपयोग करते हैं जो पराजित जातियों के भाग्य में कभी नहीं थे। जब ये लोग इन भारतीय इतिहासों को पढ़ेंगे तो देशभक्ति के गीत नहीं गाएँगे और अपनी वर्तमान हीन दशा पर आंसू नहीं बहाएँगे। यदि ये बाबू लोग इन जिल्दों में डूबकी लगाएँगे तो इन जोरदार वक्ताओं को थोड़े समय में ही पता लगेगा कि उस अंधकार युग में जिसकी वापसी के लिए वे इतने उत्सुक हैं, इस प्रकार के हास्यास्पद विचार यदि प्रकट किए जाते तो सरकार उन्हें सुनकर चुप नहीं रहती और न ही उनके प्रति घृणा प्रकट करती, बल्कि उनके कंठ में या तो गला हुआ गर्म शीशा डाल दिया जाता या उनकी खाल खिंचवा ली जाती।"[62]

भारतेंदु को इतिहासलेखन की जबर्दस्त चिंता थी – "जब से यहाँ का स्वाधीनता सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समय का उत्तम श्रृंखलाबद्ध कोई इतिहास नहीं। मुसलमान लेखकों ने जो इतिहास लिखे हैं उनमें आर्यकीर्ति का लोप कर दिया है।"[63] लेकिन, उन्होंने इतिहासलेखन में मध्यकालीन पराधीनता पर क्यों जोर दिया? उनके भाव–तंत्र में अकबर और औरंगजेब एक ही सिक्के के दो पहलू क्यों हैं? उन्होंने अकबर के बारे में लिखा कि "उसकी नीति अंग्रेजों की भांति गूढ़ थी। मूर्ख औरंगजेब उसको समझा नहीं, नहीं तो आज के दिन हिंदुस्तान मुसलमान होता। हिंदू–मुसलमान में खाना–पीना शादी कभी चल गयी होती। अंग्रेजों को जो बात नहीं सूझी वह उसको सूझी थी।"[64] भारतेंदु ने इतिहास लिखने की कोशिशें भी भरपूर कीं। यह उनके लिखे हुए ग्रंथ की सूची देखने से स्पष्ट हो जाता है।[65]

भारतेंदुकालीन हिंदी लोकवृत्त की इतिहास–चिंता 'स्वत्व निज भारत गहै' से उपजती है। इस पर पौर्वात्यवादी इतिहास का प्रभाव जरूर है लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं। सन् 'सत्तावन' के बाद स्थापित 'राज' में धर्म के 'अधिकार' के दायरे में स्वीकृत हो जाने के बाद शुरु हुई इस प्रक्रिया में हिंदू और मुसलमान दोनों इतिहासलेखन करते हैं। मुख्य अंतर पौर्वात्यवादी इतिहासदृष्टि के भीतर अपने समुदाय की हैसियत को लेकर है। दोनों समुदाय अपनी हैसियत के लिए मध्यकाल की अलग–अलग व्याख्या करते हैं। इस अंतर को चिह्नित करते हुए प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने ध्यान दिलाया है कि "हिंदी क्षेत्र के हिंदू और मुस्लिम अभिजन का जो परस्पर अविश्वास हिंदू–उर्दू प्रतिस्पर्धा में व्यक्त हो रहा था –वह अविश्वास अपने 'समुदाय' को1857 की जिम्मेदारी से मुक्त करने की इच्छा से भी जुड़ा हुआ था। हिंदी क्षेत्र में

चाहे 'हिंदी नवजागरण' हो या 'देहली रेनेसांस' वह 1857 ई. से प्रारंभ नहीं होता बल्कि 1857 की संवेदना तथा चेतना से अपने 'समुदाय' को प्रयत्नपूर्वक अलग करने से शुरु होता है। हिंदी और उर्दू के बौद्धिक 1857 ई. से प्रेरणा नहीं बल्कि 'सबक' लेते दीखते हैं कि कैसे 'गदर' की जिम्मेवारी अपने बजाय प्रतिस्पर्धा के जिम्मे डाल दी जाए। 1857 ई. में निहित अंग्रेजी राज के प्रति 'सचेत वैरभाव' की जगह 'सचेत राजभक्ति' ले लेती है।"[66]

सर सैयद अहमद खान ने 'असबाबे बगावत' नाम से एक पुस्तक 'गदर' के तुरंत बाद लिखी। इसमें 'गदर' में शामिल लोगों के लिए उन्होंने कोई सहानुभूति नहीं जतायी। लेकिन यह माना कि भारतीय प्रजा की कुछ जरूरी शिकायतें थीं जिन पर अंग्रेजी सरकार को ध्यान देना चाहिए था। उन्होंने इस तथ्य का खंडन किया कि इस विद्रोह के जिम्मेदार मुसलमान थे और तर्क दिया कि 'सरकार अवाम के तौर–तरीके, पसंद–नापसंद, रीति–नीति और सोच से अपने को करीब न रख सकीं।' सर सैयद के अनुसार इसी कारण सरकार, अपनी रीति–नीति में हस्तक्षेप से क्रोध में उबल रहे लोगों की शिकायतों को न सुन सकी। उन्होंने कहा कि सरकारी नियम–कानून हिंदुस्तानी रिवाजों से मेल नहीं खाते थे और मिशनरियों की कार्यवाही से हर कोई चाहे 'अदना हो या अव्वल, अशराफ हो या अज़लाफ' इस बात से सहमत था कि सरकार ईसाई बनाने पर तुली हुई है। सर सैयद का सुझाव था कि राजा–प्रजा के बीच पारस्परिक संवाद से नजदीकी बढ़े, सांस्कृतिक मसलों पर पर्याप्त सहानुभूति से विचार किया जाय। सहानुभूति से सर सैयद का आशय था कि 'दरबार' की प्रथा कायम रहे, अशराफ को खिताब से नवाजा जाय और अतीत में भारत पर शासन करने वाली मुस्लिम कौम की इज्जत और हैसियत का विशेष ध्यान रखा जाय।[67]

जाहिर है, सर सैयद अपने कौम को शासक कौम के रूप में स्वीकार कर उसके लिए गुजरे वक्त की 'शान' के हवाले से विशेषाधिकार की मांग कर रहे थे। अंग्रेज हुकूमत ने अगर 'मुस्लिम' को 'विद्रोही' करार दिया था तो वे इसका कारण हिंदुस्तानी की रीति–नीति में सरकारी हस्तक्षेप को मान रहे थे। हिंदू अभिजन की इतिहास–चिंता इसी कारण मुस्लिम अभिजन की इतिहास–चिंता से भिन्न है। एक औपनिवेशिक इतिहासदृष्टि के भीतर अपनी विशिष्ट हैसियत बनाए रखने की मांग करता है तो दूसरा बराबरी की। भारतेंदु ठीक पहचान कर रहे थे कि – "मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिंदुस्तान में बस कर वे लोग हिंदुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भांति हिंदुओं से बरताव करें। ऐसी बात, जो हिंदुओं का जी दुखाने वाली हो न करें।"[68] स्पष्ट है कि अगर सर सैयद अपने इतिहासबोध से पूरे मुस्लिम कौम की 'विशिष्ट हैसियत' बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील थे तो भारतेंदु उस 'विशिष्ट हैसियत' को मुसलमानों के पारंपरिक आधिपत्य के रूप में देख रहे थे। आलोक राय की टिप्पणी सटीक है कि – "उर्दू और उसकी सामासिक संस्कृति पारंपरिक आधिपत्य का ही रूप थी" और 'हिंदी आंदोलनकारी... इस वर्चस्व को चुनौती दे रहे थे।[69]

सर सैयद ने लुधियाना में छात्रों की एक जमात को संबोधित करते हुए कहा था – "याद रखो कि कोई कौम तब तक कुछ नहीं जब तक असली मायने में कौम न हो। वे सभी व्यक्ति जो इस्लाम मानते हों एक साथ मुसलमान कौम हैं। जब तक वे अपने धर्म का आचरण करते हैं और उसे मानते हैं तभी तक वे कौम हैं। याद रखो कि तुम्हें इस्लाम के लिए जीना और मरना है और इस्लाम के आचरण से ही हमारी कौम, 'कौम' रहती है। अजीज नौजवानों! अगर कोई जन्नत का तारा भी बन जाए और मुसलमान न रहे तो वह हमारे लिए है क्या? वह हमारी कौम का सदस्य न रहा। इसलिए इस्लाम पर आचरण करते हुए प्रगति करना ही कौम की तरक्की है।"[70]

सर सैयद का इस्लामी विशिष्टताबोध इतना गहरा था कि वह श्रेष्ठता के अपने दंभ को छोड़ नहीं सकता था। 'कांग्रेस' पर उनका इसी कारण आरोप था – "कांग्रेस के लक्ष्य और उद्देश्य इतिहास और वर्तमान सच्चाइयों की अनदेखी पर आधारित हैं, वह इस बात पर ध्यान नहीं देती कि भारत में विभिन्न जातीयताओं का वास है; वह मानकर चलती है कि मुसलमान, मराठा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, बनिया, शूद्र, सिख, बंगाली, मद्रासी और पेशावरी – सबके साथ एक ही बरताव किया जा सकता है। कांग्रेस सोचती है कि ये सब एक ही धर्म मानते हैं, एक ही भाषा बोलते हैं और उनके जीने की रीति–नीति तथा रिवाज एक ही हैं और इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण भी समान है तथा समान ऐतिहासिक परंपरा पर आधारित है।"[71] सर सैयद की यह इस्लामी श्रेष्ठता ही थी कि अवध से मद्रास कांग्रेस में भाग लेने गए मुस्लिम प्रतिनिधियों को 'मुस्लिम प्रतिनिधि' कहने वालों का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि जो कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन (1987) में गए थे उन्हें मुस्लिम प्रतिनिधि क्योंकर कहा जाय। उन्हें तो दस मुसलमानों ने भी नहीं चुना – "हमारे दोस्तों को खुद ही तटस्थता से फैसला करना चाहिए कि लक्ष्य–उद्देश्य में परस्पर विरोधी दो कौम क्या कोई नेशनल कांग्रेस बना सकते हैं। चाहे यह ठीक जान पड़े या नहीं लेकिन कोई भी मुसलमान चाहे वह मोची हो या अशराफ कभी इस बात के लिए राजी नहीं होगा कि मुसलमान ऐसी हैसियत को पहुँचे कि वह दूसरी कौम का जो उसकी बगलगीर हो, गुलाम बन जाए, भले ही वक्त की मार ने उन्हें (अर्थात् मुसलमानों को) बहुत नीचे बैठा दिया है और आगे ज्यादा नीचे बैठाने वाली है।"[72]

सर सैयद के इस इस्लामी श्रेष्ठताबोध की व्याख्या ब्रास के सिद्धांत से कि अभिजन धर्म का प्रतीक चुनकर उसके मिथक गढ़ता है – नहीं होती। दक्षिण एशिया के इस्लाम के एक शोधकर्त्ता फ्रांसिस रॉबिन्सन का प्रस्ताव है कि अभिजन द्वारा धर्म को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल का कारण उस समय–विशेष में तो खोजा ही जाना चाहिए जब प्रतीक महत्त्वपूर्ण हो रहे हों, साथ ही धर्म–विशेष की बनावट में भी खोजा जाना चाहिए।[73] रॉबिन्सन के अनुसार इस्लाम के भीतर एक परंपरा मौजूद है जिसके तहत मुसलमानों में धर्म के आधार पर राजनीति में सक्रिय होने की प्रवृति पायी जाती है। यह इस्लामी परंपरा विश्वव्यापी 'उम्मत' अर्थात् एक धर्म समुदाय की परिकल्पना पर जोर

देती है। 'उम्मत' का सदस्य होना मुसलमान होने की जरूरी शर्त के रूप में स्वीकार लिया जाता है। रॉबिन्सन के अनुसार इस्लामी हिजरी मुहम्मद साहब के जन्म अथवा कुरान के 'नाजिल' होने से आरंभ नहीं होती। वह मुहम्मद साहब के मक्का से मदीना, अपने साथियों के साथ हिजरत से शुरु होती है। इसी वक्त कुरैश–कबीले के लोगों ने अपनी निष्ठा किसी कबीले के बजाय अल्लाह में व्यक्त की। इसके बाद 'उम्मत' बाकी जनसमुदायों से विशिष्ट और श्रेष्ठ बनी। 'उम्मत' का आधार होता है 'इज्मा' अर्थात् 'शरीअत' को बनाये रखने की आपसी सहमति और शरीअत स्वयं 'अल्लाह की आज्ञा' है जो सिर्फ 'उम्मत' को प्राप्त हुई। 'उम्मत' के बोध को बनाए रखने में इस्लाम के कुछ मूलभूत कर्मकांड मसलन रोजा–नमाज आदि तथा एक 'पुस्तक' की मौजूदगी मददगार होती है। रॉबिन्सन ने इन बातों को सविस्तार लिखा है और बताया है कि सर सैयद इस्लाम में मौजूद 'उम्मत' के विचार पर जोर देने वाली परंपरा के ही विस्तार थे।

रॉबिन्सन ने ध्यान दिलाया है कि मुसलमानों के भारत में प्रवेश के साथ ही उनका 'उम्मत' का सदस्य बने रहना अर्थात् उसके आदर्शों का पालन संभव न रहा। 10वीं सदी तक इस्लाम के साम्राज्य में क्षेत्रीय ताकतों का उदय हो चुका था। 13वीं सदी से 18वीं सदी के बीच के मुस्लिम इतिहासकार इस बात को स्पष्ट करते हैं कि भारत में इस्लाम का इतिहास, इस्लाम के वैश्विक इतिहास का ही हिस्सा है। 'खलीफा' की सत्ता के पराभव के बाद 'उलेमा' 'इस्लाम रक्षक सुल्तान' के सिद्धांत पर सहमत हुए। सिद्धांत यह था कि मुसलमान होने की पहचान 'इस्लाम के खलीफा' के आदेशों के अनुकूल रहना नहीं, बल्कि स्वयं इस्लाम के कानूनों के अनुकूल रहना है और 'खलीफा' की भूमिका अब कहीं का भी राजा निभा सकता है; बशर्ते वह 'काजी' के आदेश के अनुकूल 'शरीअत' लागू करे अथवा मुसलमानों को शरीअत के विपरीत आचरण के लिए बाध्य न करे। रॉबिन्सन लिखते हैं कि इस सिद्धांत का तनाव यह था कि गैर–मुसलमानों के साथ कहीं का 'इस्लाम रक्षक सुल्तान' किस भूमिका में हो – यह परिभाषित न हो पाया।

भारत के मध्यकालीन मुस्लिम शासक हिंदुओं के समर्थन के बगैर राज–काज नहीं कर सकते थे। उन्हें हिंदुओं के राजनीतिक समर्थन के साथ–साथ उनसे राजस्व और श्रमशक्ति की भी जरूरत थी। ऐसे में 'उम्मत' के आदर्शों के साथ बहुदेववादी हिंदू धर्म के अनुयायियों की संगति बैठानी मुश्किल थी। कभी इस भेद की अनदेखी की जाती तो कभी 'अहले–किताब' होने के नाते हिंदू जनता पर 'हिंदू' होने की एवज में 'जजिया' लगाया जाता था। साम्राज्य–विस्तार के क्रम में हिंदुओं के समर्थन की ज्यादा जरूरत पड़ी तो अकबर के शासन में हिंदुओं के साथ बराबरी का व्यवहार रहा। लेकिन इस तरह का व्यवहार 'इस्लाम' के कुछ व्याख्याकारों को पसंद नहीं था। 'उम्मत' के आदर्श के अनुरूप राजव्यवस्था चलती न देखकर 'उलेमा' शासक के साथ लड़ाई की मुद्रा में आ जाते थे। इसकी शुरुआत लोदी वंश के शासन के समय में ही हो चुकी थी। जौनपुर के सैयद मुहम्मद के नेतृत्व में महदवी आंदोलन इस विचार से चला कि हर

मुसलमान का कर्तव्य यह देखना है कि शरीअत पर अमल पूरी तरह हो रहा है या नहीं।

18वीं सदी में, मुगल शासन के पराभव के साथ हिंदू–सिख राजाओं का उद्‌भव हुआ और इस क्रम में 'इस्लाम रक्षक' उलेमाओं की चिंता बढ़ी कि भारत में इस्लाम का भविष्य खतरे में है। इस्लाम को शुद्ध करने, उसमें से विजातीय संपर्क से आ मिले तत्व हटाने के प्रयास शुरु हुए। शाह वलीउल्लाह ऐसे ही 'उलेमा' थे। 18वीं सदी के भारत में उन्होंने इस्लाम से 'विजातीय संपर्क' के कारण आ घुसे तत्वों को निकालने के उद्यम किए। उन्होंने छोटी शक्तियों के रूप में विद्यमान मुस्लिम राजाओं से 'हिंदू राजशक्ति' से 'ज़िहाद' करने का आह्‌वान किया। कोशिश कामयाब न हुई तो अफगानिस्तान के अहमदशाह की सहायता मांगी। वलीउल्लाह का तर्क था कि भारत के मुसलमान हिंदू–संपर्क से दूषित हो गए हैं और उनके लिए कोई 'इस्लाम रक्षक' सुल्तान जरूरी हो गया है।

इसी परंपरा की कड़ी थे सैयद शाहिद बरेलवी। वलीउल्लाह के प्रपौत्र उनके सहायक थे। वे भारत में 'उम्मत' के आदर्शों के अनुरूप ऐसे मुस्लिम समुदाय के गठन के प्रयास में थे जिसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में इस्लाम के आचारों का बेधड़क पालन हो सके। सन् 1826–27 में वे 'दारुल हर्ब' हिंदुस्तान में इसकी संभावना न देख अपने आदर्शों को साकार करने उत्तर–पश्चिम सीमाप्रांत 'हिजरत' कर गए। रॉबिन्सन ने 'उम्मत' के आदर्शों के अनुकूल समाज–व्यवस्था कायम करने के प्रयासों की लंबी परंपरा दिखाई है जिसमें 'उलेमा' न सिर्फ विशुद्ध इस्लाम की खोज करते हैं, बल्कि 'दारुल इस्लाम' के लिए आंदोलन भी चलाते हैं।

सर सैयद 'इस्लाम' की इसी परंपरा से जुड़े थे। यह ठीक है कि अभिजन मुस्लिम के हितों की अगुआई करते हुए सन् सत्तावन के बाद उन्होंने शिक्षा, नौकरी और नगरपालिका में मुस्लिम प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए हर संभव प्रयास किए और इस कार्य में उन्होंने वैश्विक इस्लाम की निष्ठा को बाधा नहीं बनने दिया। उन्होंने 1877–78 के रूस–तुर्क युद्ध के बाद, यह सोचकर कि कहीं भारत के मुसलमान तुर्की के खलीफा के प्रति अपनी निष्ठा न व्यक्त करे, घोषित किया कि अंग्रेजी राज 'इस्लाम रक्षक सुल्तान' की भूमिका में है और निष्ठा उसी के प्रति होनी चाहिए। बहरहाल, इससे यह निष्कर्ष निकालना दिक्कततलब है कि वे 'वैश्विक इस्लाम' की जगह 'स्थानीय इस्लाम' के हामी थे। 'खिलाफत' के बारे में उनके विचारों से ही यह स्पष्ट हो जाएगा।

सर सैयद, मुहम्मद साहब की तीन विशेषताएँ मानते हैं[74] – 1. मसीहा, क्योंकि अल्लाह के आदेश उन पर 'नाजिल' हुए, 2. पैगम्बर, क्योंकि इन आदेशों को उन्होंने लोगों को सुनाया, 3. शासक, क्योंकि उन्होंने शासन किया, इन आदेशों को लागू किया, लोग इनके अनुरूप आचरण करें इसका ध्यान रखा, अपने लोगों की रक्षा की और शत्रुओं को मार भगाया। पहली विशेषता मुहम्मद साहब के साथ समाप्त हो गई, मसीहा

अब कोई नहीं हो सकता। दूसरी विशेषता विरासत में उलेमाओं को प्राप्त हुई क्योंकि वे धर्म–नियम के ज्ञाता हैं। तीसरी विशेषता हर उस व्यक्ति की कही जाएगी जो 'उलेमाओं' द्वारा निर्धारित 'शरीअत' के अनुसार शासन करे। यही बातें 'खलीफा' की सत्ता के विघटन के बाद स्वीकृति हुई थीं। सर सैयद ने स्वीकार किया कि आज मुसलमान विश्व के हर भाग में रहते हैं। ऐसे में उनका शासक कोई मुसलमान हो यह जरूरी नहीं। ऐसे में मुसलमानों का शासक उस वक्त का 'खलीफा' नहीं, बल्कि वह माना जाएगा जिसके शासन में वे अपने धर्मानुसार रहते हों। इसके आधार पर अंग्रेज उनके लिए 'इस्लाम रक्षक सुल्तान' थे – "हर मुसलमान का कर्तव्य है कि वह उस शासक को पहचाने जिसके शासन में वह रहता है और उसमें निष्ठा रखे। कोई भी मुसलमान खलीफा उन मुसलमानों का शासक नहीं जो उसके शासन में नहीं रहते हों।"[75]

सर सैयद के लिए अंग्रेज 'इस्लाम रक्षक' थे क्योंकि – "हम लोग भारत के निवासी हैं और ब्रिटिश सरकार की प्रजा हैं, जिसने हमें धर्म की स्वतंत्रता प्रदान की है। हमें जीवन और जायदाद की सुरक्षा प्राप्त है और हमारे निजी मामले – शादी, तलाक, उत्तराधिकार, धर्मादा और वसीयत – सब शरीअत के अनुसार चलते हैं। इन मामलों में कोई ईसाई न्यायाधीश भी मुसलमानों का फैसला इस्लामी कानून के अनुसार करने को बाध्य है।"[76] ठीक इन्हीं आधारों पर उन्होंने मुगल शासकों को 'स्वेच्छाचारी' बताया था – "मुगल शासक स्वेच्छाचारी थे। उनकी मर्जी ही कानून थी और वे किसी के प्रति जवाबदेह नहीं थे। अकबर से लेकर औरंगजेब तक 'उलेमाओं' के विशेषाधिकार छीन लिए गए थे जबकि मुगलों से पहले शरीअत का आदर किया जाता था। सिद्धांत और व्यवहार में मुगल शासक शरीअत की अनदेखी करते थे। मृत्युदंड राजा की मर्जी से दिया जाता था और अपराधी की पत्नी–बच्चों को गुलाम के रूप में बेचा जा सकता था। वंशाधारित अमीर–उमरा थे ही नहीं, जो राजा के स्वेच्छाचार के खिलाफ उठ खड़े होते।"[77] सर सैयद भारत में मौजूद इस्लाम को 'उलेमाओं' की 'जागीर' के रूप में देखते हैं। वे 'उम्मत' के मूल तर्क को स्वीकार कर लेते हैं जो इस्लामी आचरण की उलेमा–प्रदत्त व्याख्या को एक विशिष्ट जनसमुदाय में रूपायित मानता है। इसी कारण वे शाह वलीउल्लाह और सैयद अहमद बरेलवी की परंपरा में हैं। उन्हीं की तर्ज पर वे 'मुसलमानों के शादी–ब्याह और जनाजे की रस्म में हिंदू प्रभावों को दूर'[78] कर विशुद्ध इस्लाम खोजने की डगर पर हैं – वह इस्लाम जो कभी अरब में 'सर्वश्रेष्ठ समुदाय' के रूप में स्वीकृत हुआ था। सर सैयद के कतिपय उद्धरणों से यह साबित करने वाले कि वे कभी हिंदू–मुस्लिम एकता के हामी थे, इस तथ्य की अनदेखी करते हैं कि सर सैयद से पहले भारत में इस्लाम की कई परंपराएँ मौजूद हैं और सर सैयद उसमें से किस परंपरा को चुनते हैं।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुस्लिम अभिजन के सामने भी आत्म–परिभाषा की समस्या थी। अंग्रेजी शासन ने इस्लाम को भी हिंदू धर्म की तरह 'दोषपूर्ण' पाया था।

19वीं सदी में इस्लाम के प्रति ब्रिटिश नजरिए का एक उदाहरण है 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' का यह अंश – "ईसाई धर्म सभ्य लोगों का धर्म है और पूर्णतया आध्यात्मिक है। इसके अंदर इंद्रियों की वासना को शमित करने लायक सब कुछ विद्यमान है; इन्हें उत्तेजित करने वाले तत्व इसमें नहीं हैं। सभ्यता के सोपान पर जो शिशु हैं उन्हीं का धर्म इस्लाम है और यह मात्र इंद्रियों को उद्दीप्त करता है। अपने विस्तार के क्रम में ईसाई धर्म ने अपनी दिव्योत्पत्ति का तथा सत्य के सर्वशक्तिमान होने का सर्वश्रेष्ठ साक्ष्य प्रस्तुत किया है लेकिन इस्लाम के साथ, जिसका जन्म ही मतांधता से हुआ, जो तलवार के बूते फैला; भय, विजय तथा विध्वंस के बल पर स्थापित हुआ – ऐसी बात नहीं।"[79] चार्ल्स ग्रांट ने अपने 'सुधर्मी' मानक पर हिंदुओं को अगर 'अंधकार' और 'अज्ञान' में पड़ा साबित किया तो मुसलमानों को "घमंडी, लड़ाकू और विधिविहीन जो अपने अंधविश्वासों से चिपके रहते हैं" और जिनकी विशेषता है "निरंतर षड्यंत्र, कत्लो–गारत तथा लूट।" ग्रांट के अनुसार मुसलमान 'लोलुपता' और 'धर्मांधता' के शिकार हैं और 'नैतिकता के सारे बंधन तोड़कर स्वेच्छाचार' में लिप्त रहते हैं।"[80]

इस आलोचना के बरक्स 19वीं सदी के मुस्लिम अभिजन ने अपने स्वाभिमान को तलाशते हुए भारतीय मध्यकाल की उसी परंपरा से स्वयं को जोड़ा जो सदा विशुद्धता की खोज में लगी रहती थी; जो अपने को 'विश्वव्यापी उम्मत' का हिस्सा मानती थी। इस खोज को अपना स्वत्व शेख सरहिंदी में दिखता था, न कि सरमद में। सर सैयद इसी कारण अंग्रेजी–शासन को इस्लाम के दिव्य कानून के अनुकूल बता रहे थे और उनके सारे प्रयास इस बात पर केंद्रित थे कि इस्लाम और सेकुलर विज्ञान के तनाव में कैसे संगति बैठायी जाए। सर सैयद के इस प्रयास को उनके ही कुछ समर्थक खतरनाक मानते थे।[81] अल्ताफ हुसैन हाली और अल्लामा शिबली नोमानी ऐसे ही समर्थक थे।

इन दोनों ने एक ऐसे इतिहासबोध को जगाने में मदद की जो हिंदू आकांक्षाओं से अपने को सचेत रूप से अलग करे। हाली का 'मुसद्दस' सन् 1879 में प्रकाशित हुआ। इसमें इस्लाम के अभ्युदय, उपलब्धि और पतन की गाथा बड़े मार्मिक शब्दों में कही गई। स्वयं हाली के शब्दों में – "इस मुसद्दस के आगाज में पाँच–सात बंद तमहीद के लिखकर अव्वल अरब की उस अबतर (हीन) हालत का खाका खींचा है जो जहूर–ए–इस्लाम से पहले थी और जिसका नाम इस्लाम की जबान में जाहिलियत रखा गया। फिर कौकब–ए–इस्लाम (इस्लाम के सितारे) का तुलू होना (ऊपर चढ़ना) और नबी उम्मी की तालीम से उस अब्रे रहमत का उम्मत की खेती को रहलत के वक्त हरा–भरा छोड़ जाना और मुसलमानों का दीनी व दुनियावी तरक्कीयात से तमाम आलम पर सबंकत (सर्व–अग्रणी होना) ले जाना बयान किया है। उसके बाद उनके तनज्जुल का हाल लिखा है और कौम के लिए अपने बेहुनर हाथों से एक आइनाखाना बनाया है जिसमें आकर वह अपने खतोखाल देख सकते हैं कि हम कौन थे और क्या हो गए।"[82]

'हाली' को अफसोस यह है कि –

वो दीन–ए–हिजाजी का बेबाक बेड़ा। निशां जिसका अक्सा–ए–आलम में पहुँचा।।
मजाहम हुआ कोई खतरा न जिसका। न उमां में ठिठका न कुल्जुम में झिझका।।
किए पैसपर जिसने सातों समंदर। वो डूबा दहान–ए–गंगा में आकर।।

हाली को 'उम्मा' की श्रेष्ठता पर और शेष दुनिया की कमतरी पर गहरा विश्वास है –

इधर हिंद में हर तरफ था अंधेरा। कि था ज्ञान–गुन का लदाया सा डेरा।।
उधर था अजम में जहालत ने घेरा। कि दिल सब ने केश–ओ–कस से था फेरा।।
न भगवान का ध्यान था ज्ञानियों में। न यजदांपरस्ती थी यजदानियों में।।

शिबली नोमानी साहब की भी इतिहासदृष्टि यही साबित करती थी। उन्होंने न सिर्फ तुर्क साम्राज्य की यात्रा की, बल्कि इस्लाम की सर्वोच्चता सिद्ध करने की भरपूर कोशिशें की। उन्होंने 'हनफी संप्रदाय' की नींव मजबूत की और 'अबू हनीफ' की जीवनी लिखकर साबित किया कि "कूफा में उस वक्त धर्मशास्त्रीय प्रश्नों पर बहस इतनी आम थी कि कोई उसे सुन–सुन कर ही विद्वान हो जाय।"[83] उन्होंने दूसरी जीवनी खलीफा उमर की लिखी और उमर को इस्लामी शासकों में सर्वश्रेष्ठ बताया। तीसरी जीवनी नोमानी साहब ने मुहम्मद साहब की लिखी। इससे पहले मुहम्मद साहब की जीवनी अरबी में इब्न इशाक ने लिखी थी। वही बातें दुहरायी गईं और 'अरब' की श्रेष्ठता धर्म, विधि, शासन – सबमें साबित की गई।

यह इतिहासबोध अगर किसी गैर इस्लामी को उस वक्त बराबरी का दर्जा न दे; भारतेंदु के शब्दों में 'नीचा' समझे और "भाइयों सा बरताव न करे तो क्या आश्चर्य! इसी कारण तत्कालीन हिंदी लोकवृत्त सामासिक संस्कृति के प्रतीकों को, जिनमें कायस्थ भी शामिल थे, अपने ऊपर परंपरागत आधिपत्य के चिह्न के रूप में देख रहा था।

'अन्य' की निर्मिति और 'आत्म' की छवियाँ

औपनिवेशिक शासन भारतीय समाज में मूलगामी परिवर्तन लाने वाला साबित हुआ। औपनिवेशिक समाज–प्रणाली ने भारत में 'व्यक्ति' और उसके 'अधिकारों' को परिभाषित किया तथा निर्वैयक्तिक सत्तातंत्र की स्थापना की। औपनिवेशिक शासन और 'प्रिंट' की तकनीक के मिले–जुले प्रभावों को नोट करते हुए फ्रांसिस रॉबिन्सन ने इस्लाम के बारे में लिखा है – "इस्लाम पाठाधारित हुआ; मुस्लिम पहचान के भीतर वैश्विक इस्लाम की भावना गहरी हुई; शरीअत के व्याख्याकार के रूप में उलेमाओं के अधिकार को चुनौती मिली; ज्ञान के संचार के लिखित रूप ने मौखिक संचार अर्थात् वैयक्तिक संचार को एक कोने में कर दिया; मुस्लिम मानस 'पश्चिमी ज्ञान' से औपनिवेशीकृत हुआ और इस्लाम को समझने के नई तरीके कि इस्लाम 'आधुनिक' है या 'मूलतत्ववादी' – सामने आये...।"[84]

क्या यही बातें हिंदू धर्म के बारे में कही जा सकती हैं? क्या हिंदू धर्म पाठाधारित हुआ? क्या हिंदू धर्म ने अखिल भारतीय धर्म का रूप लेकर अपनी दावेदारी पेश की? क्या हिंदू धर्म के परंपरागत व्याख्याकारों को चुनौती मिली? और, क्या हिंदू मानस 'पश्चिमी ज्ञान' से औपनिवेशीकृत हुआ? हिंदी लोकवृत्त का मुख्य सरोकार 'स्वत्व–चिंता' है तो इसी कारण कि औपनिवेशिक शासन की सार्वजनिक दुनिया में 'पश्चिमी ज्ञान' और 'संस्थाओं' को विजयी देख एक ऐसे कोने की तलाश शुरु होती है जहाँ पहुँचकर लगे यह 'मेरा निजी कोना है और यहाँ किसी का हस्तक्षेप नहीं'। हिंदी बुद्धिजीवी इस कोने की 'तलाश' धर्म के रूप में करते हैं लेकिन 'धर्म' स्वयं औपनिवेशीकृत हो चुका हो तो? प्रिंट के प्रभाव ने धर्म को सार्वजनिक दुनिया में ला दिया था और स्वयं विधि–व्यवस्था ने 'धर्म' को एक मानकीकृत रूप दिया था। 'हिंदू सभ्यता' को ढूँढ़ने का पौर्वात्यवादी प्रयास भारत में विधि–स्थापना के प्रयास का ही हिस्सा था। फिर, योरोप को अपने आत्मबोध के लिए एक 'अन्य' की तलाश थी जिसकी तुलना में वह अपनी श्रेष्ठता साबित कर सके।

'धर्म' औपनिवेशिक भारत में कोई निजी कोना न था। इसी कारण 'धर्म' पर बहसें खूब हुईं और इन बहसों के भीतर हिंदू धर्म की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई, अस्मिता की तलाश में हिंदू धर्म का जो इतिहास प्रस्तुत किया गया वह अखिल भारतीय हिंदू धर्म का प्रस्तावक तो था, लेकिन उसमें बहुदेववादी स्थानीयताओं के लिए भी जगह थी; वह अगर औपनिवेशीकृत हुआ तो उसमें इस औपनिवेशीकरण के बरक्स भारतीय आधुनिकता के प्रस्ताव को रखने का साहस था; 'व्यक्ति' की ऐसी धारणा को गढ़ने का साहस जो इहलौकिक हो, लेकिन अपनी 'अस्ति' को मात्र इहलौकिकता तक ही सीमित करके न देखे।

'धर्म' प्रिंट के उस खुलते हुए संसार में सबकी बहस का विषय था। वह अब धर्माचार्यों की आधिकारिक व्याख्या तक सीमित न रह गया था। एक–दो साक्ष्यों से इसकी पुष्टि हो जाएगी। प्रतापनारायण जी की 'परिहास–प्रीति' को याद करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – 'प्रतापनारायण मिश्र जी बाजारों में धर्मशिक्षा देने वाले पादरियों से बहुत उलझा करते थे और उनको खूब छकाते थे। एक बार आप कह बैठे कि दुनिया की प्रथम पुस्तक कोकशास्त्र है। पादरी के प्रश्न पर आपने इस शास्त्र के सिद्धांतों का परिचय देकर बहुत–से सामान्य धर्म, कर्म उसी के अंदर कह सुनाए। यह सुनकर पादरी साहब बहुत ही छके। पादरी साहब और उनसे इस तरह की बातचीत हुई। पादरी – आप गाय को माता कहते हैं? प्रताप – जी हाँ! पादरी – तो बैल को आप चचा कहेंगे? प्रताप – बेशक, रिश्ते से क्या इनकार है? पादरी – हमने तो एक दिन अपनी आँख से एक बैल को मैला खाते देखा था। प्रताप – अजी साहब! वह बैल ईसाई हो गया होगा!! हिंदू समाज में ऐसे भी बैल होते हैं!!! पादरी साहब चुप ही रहे, कहते ही क्या?"[85]

ऐसी ही एक नजीर बालमुकुंद गुप्त ने प्रतापनारायण जी के बारे में लिखी है – "जिन दिनों स्वामी दयानंद जी के नाम की बड़ी धूम–धाम थी, उन दिनों मुरादाबाद में मुंशी इंद्रमणि के नाम की भी बड़ी धूम थी। आदि में स्वामी जी का कुछ मेल भी था। उन दिनों एक खत्री मुसलमान हो गया था। उसने हिंदुओं के विरुद्ध उर्दू में एक पोथी लिखी थी। मुंशी जी ने उत्तर में एक फारसी पुस्तक लिखी। तब दूसरे मुसलमान उस नये मुसलमान की हिमायत को खड़े हुए। मुंशी जी ने उनकी पोथियों के उत्तर में भी कई पोथियाँ लिखीं। यह सब पोथियाँ पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने पढ़ डाली थीं। एक बार इंद्रमणि कानपुर गए थे; प्रताप उनसे मिलने गए... आपने प्रताप से पूछा फारसी कहाँ तक पढ़े हो? प्रताप ने जवाब दिया – 'तोहफतुल इस्लाम' और 'पादाशे इस्लाम' तक।... उक्त दोनों फारसी की पोथियाँ वहीं थीं, जो मुंशी जी ने मुसलमानों के उत्तर में लिखी थीं।"[86]

ये घटनाएँ महज प्रतापनारायण जी की विनोदप्रियता की सूचना नहीं देती। इन घटनाओं से उस व्यापक महाभारत का पता चलता है जो धर्म के कुरुक्षेत्र में रचा जा रहा था। ब्रिटिश 'ताज' ने भारतीय प्रजा को धर्म का अधिकार दिया था। स्वत्व–रक्षा का प्रश्न अब धर्म–रक्षा का प्रश्न था और इसी कारण धर्म पर होने वाली बहसों के माध्यम से अपने 'स्वत्व' के इस या उस रूप पर बहसें हो रही थीं। इन बहसों का माध्यम प्रिंट बना और अब बहसों का दायरा बड़े भूगोल में फैल गया। संचार के साधनों के विकास–विस्तार के साथ दूरियाँ सिमटती हैं और स्थानीयताएँ अपना अलगाव बनाए नहीं रख पातीं। औपनिवेशिक शासन की जरूरतों के क्रम में संचार–साधनों के विस्तार ने; शासन की आधुनिक, पर साथ ही औपनिवेशिक पद्धति – ने अब भारत का नक्शा मुद्रित पन्नों के माध्यम से खींच डाला था। कई संस्कृतियों का मुखामुखम मध्यवर्ग की गतिशीलता के बीच 'मुद्रित पन्नों' पर आकार ले रहा था और स्थानीयताएँ अपना चरित्र बदल रही थीं। सर सैयद इस परिवर्तन को भाँप रहे थे। वे 'हंटर आयोग' को कह रहे थे – "सन् 1854 ई. के डिस्पैच के बाद से आज तक लगभग 30 साल गुजर गए। इस अवधि में भारत की दशा में उल्लेखनीय बदलाव आए हैं। रेलवे ने सुदूरवर्ती प्रांतों को एक में जोड़ दिया है और मेल–जोल बड़े पैमाने पर बढ़ा है। टेलीग्राफ के तार पूरे देश में फैल गए हैं और दूर–दूर रहने वाले व्यक्ति अब इस तरह बात कर लेते हैं मानो एक ही कमरे में बैठे हों। इस चीज ने व्यावसायिक जीवन में एक नई जिंदगी डाल दी है और हर तरह की गतिविधि को नयी उत्तेजना मिली है...।"[87]

मध्यवर्गीय गतिशीलता 'देश' को 'कमरा' बना रही थी। भारतेंदु के शब्दों में अब इस मध्यवर्ग को 'छह–छह पहर पसीना चुआना था' और रेल से इम्तहान देने 'कलकत्ते से शिमला' तक जाना था। मध्यवर्ग अपने 'कमरे' में; या कहें कि राष्ट्र रूप में कल्पित एक आभासी भूगोल में मुद्रित पन्नों पर 'स्वत्व' की बहसें कर रहा था। 'स्वर्ग में विचार सभा' के अधिवेशन में 'परमेश्वर' यदि केशवचंद्र और दयानंद सरस्वती के स्वर्ग में रहने या नहीं रहने के सवाल पर फैसला देने से पहले 'सिलेक्ट कमिटी' की स्थापना करते हैं

तो 'सिलेक्ट कमिटी' अधिवेशन करती है। इसमें – "सब कागज पत्र देखे गए। दयानंदी और केशवीग्रंथ तथा उनके अनेक प्रत्युत्तर और बहुत से समाचार पत्रों का मुलाहिजा हुआ...।"[88] ग्रंथ और अखबार ने शास्त्रार्थ की प्रकृति बदल दी थी। अब इसमें हर कोई भागीदार हो सकता था और एक–दूसरे के कथन उद्धृत करके खंडन–मंडन कर सकता था। अब पिछली बात को बदलने का, उससे मुकरने और बिना जिम्मेवारी लिए रद्द करने का कोई तरीका न था; लिपिबद्ध बात अब साक्ष्य थी।

मुद्रण की दुनिया में तैयार होते हिंदी लोकवृत्त में बहस के दो ध्रुव हैं। एक ध्रुव दयानंद सरस्वती का है तो दूसरा भारतेंदु–मंडल के लेखकों का। इसका यह अर्थ नहीं कि इन दो ध्रुवों के अतिरिक्त इस बहस में और कोई नहीं। इसमें 'पादरी साहब' हैं, 'मुलना' साहब हैं तो ब्रह्मसमाजी भी। लेकिन ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और पादरी साहब–मुलना साहब को उनकी साझी विशेषताओं के कारण एक साथ रखा जा सकता है। तपस्या के बल पर स्वर्ग पहुँची ऋषि–मुनियों की आत्माओं का 'कंसरवेटिव दल' जब 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन' करने बैठा तो दयानंद पर क्या आरोप लगाए गए? आरोप यह थे कि "इसने पुराणों का खंडन किया; मूर्ति पूजा की निंदा की; वेदों का अर्थ उलटा–पुलटा किया; दशनियोग करने की विधि निकाली; देवताओं का अस्तित्व मिटाना चाहा...। केशवचंद्र पर आरोप लगे "इसने भारतवर्ष का सत्यानाश कर डाला; वेद–पुराण सबको मिटाया...।"

आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज अपनी विभिन्नताओं के बावजूद एक बात में सहमत हैं कि हिंदू धर्म पुस्तक–आधारित एकल धर्म है और एक खास पुस्तक परंपरा में ही उसे खोजा–पाया जा सकता है। दोनों 19वीं सदी में ईसाईयत के मॉडल पर हिंदू धर्म का ढाँचा खड़ा करना चाहते हैं। केशवचंद्र के बजाय यहाँ ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय की चर्चा उचित होगी। राजा राममोहन राय 'नई इंजील' के नैतिक सिद्धांतों को स्वीकार करने के लिए तैयार थे, लेकिन मिशनरियों द्वारा दूसरे का धर्म परिवर्तन करना उन्हें स्वीकार न था। उनका आक्षेप था कि अंग्रेज शासकों ने ईसाई मिशनरियों को हिंदुओं और मुसलमानों के धर्मों का उपहास करने वाली पुस्तक लिखने की अनुमति देकर धार्मिक तटस्थता के अपने वचन को भंग किया है। इसके साथ ही वह हिंदुओं के बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, पशु–बलि और सतीप्रथा जैसे रस्मों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। पुनर्जन्म और अवतारवाद जैसी स्थापनाओं से भी उनकी असहमति थी। 'प्रामाणिक पाठ' की पौर्वात्यवादी धारणा को स्वीकार करते हुए उन्होंने सन् 1817 ई. में ही तय कर लिया था कि – "धर्मशास्त्रीय विवादों की वैधता मुख्यतः प्रामाणिक शास्त्र पर आधारित है।"[89]

प्रामाणिक शास्त्र से राज राममोहन राय का आशय वेद, उपनिषद तथा वेदांत दर्शन की प्रपत्तियों से था। शंकराचार्य उन्हें सर्वाधिक प्रिय थे। चूँकि राजा राममोहन राय उपनिषद् को सर्वाधिक प्रामाणिक मानते थे, इसलिए वेद–वर्णित विभिन्न देवों की उन्होंने

नोटिस नहीं ली। उन्होंने उपनिषद के एकतत्ववाद को भी एकेश्वरवाद ही मान लिया। राजा राममोहन राय का तर्क था कि बहुदेववाद तो परवर्ती शास्त्रों की देन है, खासकर पुराणों की। उनका सवाल था – "क्या ये सभी विचित्र देव ब्रह्म हैं अथवा तुम इनमें से किसी एक को ब्रह्म मानते हो? इनमें प्रत्येक को ब्रह्म मानते हो तो वेद का कथन गलत है जो सर्वत्र एक ही ब्रह्म की बात करते हैं और बहुत सारे स्वतंत्र ब्रह्म की बात करना बुद्धि–विरोधी है... क्योंकि जिस तरह पुराण एक काल्पनिक व्यक्तित्व को ब्रह्म कहते हैं उसी तरह दूसरी जगहों पर बहुत से अन्य कल्पनाप्रसूत व्यक्तित्वों को ब्रह्म कहते हैं और इस तरह किसी पुस्तक के एक स्थल की बात को सत्य मानना और उसी पुस्तक के दूसरे स्थल की बात को असत्य मानना असंगत है।"[90]

वेद–उपनिषद्–वेदांत से अलग परवर्ती परंपरा को राजा राममोहन राय ने निंदा भाव से देखा, पुराणों की कटु आलोचना की और भक्त चैतन्य को तो एक तरह से उन्होंने फटकार लगायी। वेद परंपरा से अलग किसी धर्म के बारे में उनका कहना था – "विष्णु–भक्त कभी भी अपनी धर्म–प्रणाली के पक्ष में सार्वभौम ज्ञात दश उपनिषद्, वेद, वेदांत, न्याय तथा चार अन्य दर्शन मन्वादि के प्रसिद्ध अठारह स्मृतियों और सर्वप्रसिद्ध महाभारत के प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते क्योंकि इनमें उनके जुगल भजन और भातृद्वय के बारे में कुछ नहीं लिखा। इसके अतिरिक्त जिन पुराणों और तंत्रों का सही ढाँचा नहीं खोजा जा सकता वहाँ से वे झूठे दावे सामने लाते हैं। इन्हें विश्व में ख्याति प्राप्त नहीं, न ही इनका भाष्य है। पढ़ा–लिखा आदमी प्रसिद्ध शास्त्रों से मेल न खाने वाली प्रणाली को कभी नहीं मानेगा...।"[91] राजा राममोहन राय की टेक थी – "तुम लोग ब्रह्मोपासना क्यों नहीं करते जो शास्त्र–विहित है... तुम लोग ब्रह्मोपासना की उपेक्षा क्यों करते हो जिसका वेद–पुराण स्मृतियों और तंत्रों, सब जगह आदेश है? अपना समय मूर्तिपूजा में क्यों बर्बाद करते हो...?"[92] राजा राममोहन राय का पाठाधारित, बुद्धिसंगत और एकल हिंदू धर्म मात्र "मनु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ट, गौतम, व्यास तथा ऐसे ही अन्य लोग जिन्होंने मात्र परमब्रह्म की उपासना की अनुमति दी हो" को महात्मा स्वीकार करता था।

'आर्यसमाज' की पद्धति भी इसी के अनुकूल थी। दयानंद ने भी हिंदू धर्म को पाठाधारित माना, हिंदू धर्म को 'एकल धर्म' के रूप में देखा; एक पुस्तक – एक भाषा और प्रामाणिक पुरोहित – की सामी धर्मपद्धति में हिंदू धर्म को रचने की कोशिश की। 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रकाशकीय वक्तव्य में यह बात सूत्रबद्ध की गई है। इसमें कहा गया है – "1. इस ग्रंथ में ब्रह्मा से लेकर जैमिनी मुनि पर्यंत ऋषि–मुनियों के वेद–प्रतिपादित विचारों का संग्रह है। अल्पविद्यायुक्त, स्वार्थी–दुराग्रही लोगों ने जो वेदादि सच्छास्त्रों के मिथ्या अर्थ करके उन्हें कलंकित करने का दुःसाहस किया था, उनके मिथ्या अर्थों का खंडन और सत्यार्थ का प्रकाश आकट्य युक्तियों और प्रमाणों से किया गया है। 2. वेदादि सच्छास्त्रों के अध्ययन के बिना सत्यज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं। 3. जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत मानव जीवन की ऐहलैकिक और पारलौकिक समस्त

समस्याओं के सुलझाने के लिए यह ग्रंथ ज्ञान का एकमात्र भंडार है। 4. ऋषि दयानंद से पूर्ववर्ती ऋषियों के काल में संस्कृत का व्यापक रूप से व्यवहार था और वेदों के ही सत्य–अर्थ का प्रसार था। उस समय सभी आर्ष ग्रंथ संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध होते थे। महाभारत के पश्चात् सत्य वेदार्थ का लोप और संस्कृत का ह्रास हुआ। विद्वानों ने अल्पविद्या और स्वार्थ के वशीभूत होकर जनता को भ्रम में डाला एवं मतवादियों ने बहुत से आर्ष ग्रंथ बनाये। उनके ग्रंथों में प्रक्षेप किया गया जिससे सत्य ज्ञान का लोप हुआ। इस नष्ट हुए विज्ञान को महर्षि ने इस ग्रंथ में प्रकट किया है।"[93]

यह प्रबोधन के बाद इहलौकिक और तर्कबुद्धिपरक होती ईसाइयत और इस ईसाइयत के भाव–तंत्र के भीतर विकसित पौर्वात्यवादी ज्ञान राशि का ही आत्मसातीकरण है। वीरभारत जी तर्क देते हैं कि दयानंद अंग्रेजी नहीं जानते थे। वे इस तथ्य की अनदेखी करते हैं कि दयानंद प्रिंट–आधारित समाज में लिखित संवाद कर रहे थे। उन्हें 'अनुवाद' और 'अनुवादक' उपलब्ध थे। दयानंद जब पहली बार सन् 1869 ई.में शास्त्रार्थ के लिए बनारस आये तो उनका संपर्क ईसाई मिशनरियों और मराठी धर्मसुधारकों के अलावा बंगाली ब्रह्मसमाजियों से हुआ। ब्रह्मसमाजियों ने देवेन्द्रनाथ ठाकुर की ओर से उन्हें कलकत्ते आने का न्यौता दिया। कलकत्ते में ब्रह्म–समाजियों ने न सिर्फ उनके खाने–ठहरने की व्यवस्था की, बल्कि उनके व्याख्यान भी करवाये। उन्होंने उत्साहपूर्वक दयानंद को बंगाल में चल रहे धर्म और समाजसुधार आंदोलन से परिचित कराया। उनके लिए सुधार–संबंधी साहित्य जुटाया और उसे पढ़ने समझनें के लिए अनुवादकों की सुविधा दिलायी। इन सबका दयानंद के विकास पर महत्त्वपूर्ण असर पड़ा। जब दयानंद बंबई गये तो वहाँ प्रार्थना समाज के सदस्यों की मदद से उन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। खुद प्रार्थना समाज ब्रह्मसमाजियों की मदद से बना था। ये तथ्य बताते हैं कि दयानंद जी योरोपीय आधुनिकता के संपर्क में आये थे। यह अलग बात है कि वीरभारत तलवार इन तथ्यों को लिखने के बाद भी कहते हैं कि "दयानंद योरोपीय आधुनिकता के संपर्क में नहीं" आये।[94]

दयानंद जी मानते थे कि मूर्तिपूजा वेद–विरुद्ध होने से अधर्म रूप है। वह एक "बड़ी खाई है जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है" मूर्तिपूजक। मूर्तिपूजा के विरोध में उन्होंने उपयोगितावादी तर्क दिए, जैसे – स्त्री–पुरुषों का मंदिर में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई, बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं..।" दयानंद जी को भक्ति की पूरी परंपरा स्वीकार थी। वल्लभाचार्य के लिए उन्होंने लिखा है "फिर ब्रजदेश में कि जहाँ अविधा ने घर कर रखा है जाकर अपना प्रपंच अनेक छल–युक्तियों से फैलाने लगा।" वे महाभारत के कृष्ण के चरित्र को तो उत्तम मानते हैं परंतु भागवत के कृष्ण को वल्लभाचार्य की छल–युक्तियों के कारण निंदनीय; कबीर उनके लिए "जाल में मूर्ख फसाने वाले व्यक्ति हैं" तो रामानंद को उन्होंने 'चक्रांकित' बताया है। 'कंजर जाति में उत्पन्न शठकोप' से उन्होंने चक्रांकितों को जोड़ा है और 'शठकोप' के बारे में लिखा है कि वह 'शास्त्रविरुद्ध मनमानी बात चलाता था।' इसी परंपरा में रामानंद को रखकर

उन्होंने लिखा कि रामानंद ने 'शंकराचार्य की बहुत सी निंदा की।"[95] थोड़े में कहें तो दयानंद भी ब्रह्मसमाज के समान ही भक्ति की पूरी परंपरा से अपने को अलग कर रहे थे।

राजा राममोहन राय ठीक कह रहे थे कि पढ़ा–लिखा कोई व्यक्ति शास्त्रों से मेल न खाने वाली प्रणाली कभी नहीं मानेगा और पुराणों को विश्व में ख्याति नहीं प्राप्त है। यह उस युग के पढ़े–लिखे समाज की समस्या थी कि वह अपने धर्म को 'शासक' की नजरों में श्रेष्ठ बताये। 'शासक' स्वयं ईसाई 'मतावलंबी' था और धर्म की उसकी समझ यही थी कि जो बहुदेववादी है अथवा मूर्तिपूजक है वह ऐसा 'शैतान' के वश में कर रहा है। मिशनरी जानते थे कि 'दिव्य सत्य' उनकी पूँजी है और ईसाइयत का सत्य ही संसार को 'पापमुक्त' कर सकता है। उन्हें विश्वास था कि ईश्वर के 'चंद चयनितों' में वे एक हैं और जिन्होंने 'गॉस्पल' नहीं सुना उनको पापमुक्त करना उनका काम है। मिशनरियों ने बहुत पहले से संसार के धर्मों को चार हिस्सों में बाँट रखा था – ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, इस्लाम और धर्मच्युत जन। पहले के तीन धर्म इनके लिए 'प्रकाशना' पर आधारित थे इसलिए 'धर्म' थे जबकि बाकी धर्म विकृत थे; उन पर 'शैतान' का कब्जा था। बाद के दिनों में ईसाइयों ने पहचाना कि भारत धर्मविच्युत जनों का देश नहीं, बल्कि यहाँ के निवासी Gentoo या Hindoo हैं और इनका धर्म 'ब्राह्मण धर्म' हैं। मिशनरियों का विश्वास था कि "ईश्वर ने सृष्टि–रचना के बाद अपनी सभी संतानों को एक बुद्धिपरक प्रकृत धर्म प्रदान किया लेकिन समय के साथ इस प्रकृत धर्म की हानि हुई। सामी धर्म को न मानने वाले शैतान के प्रभाव में प्रकृत धर्म से अलग हटे और भ्रष्ट हुए। मिशनरी यह भी मानते थे कि इस प्रकृत धर्म के अवशेष भारत सहित अन्य देशों में बाकी हैं। परवर्ती अंधविश्वास को छाँटकर इस धर्म की खोज होनी चाहिए जिसके आधार पर ईसाई धर्म–संदेश और चर्च के सिद्धांत लागू किए जा सकें।"[96] भारतीय धर्म के बारे में ईसाई मिशनरियों की यह आरंभिक धारणा जोन्स ने भी स्वीकार की और माना कि भारत में जब तक विशुद्ध संस्कृत का प्रचलन था तब तक ब्रह्म धर्म भी प्रचलित था। 'वाह्य संपर्क' से संस्कृत में अशुद्धि आयी तो ब्रह्म धर्म में भी।[97]

औपनिवेशिक शासन के भीतर 'सभ्यता' के तर्क के तले दबे हुए मध्यवर्ग के बीच अगर ब्रह्मसमाज या आर्यसमाज का प्रचलन बढ़ा तो इसी कारण कि ये 'विशुद्ध पाठ' पर जोर देते थे; धर्म के बुद्धिमूलक होने पर इनका बल था; ये 'धर्म' को एक उपयोगी साधन के रूप में देखते थे जो रोजमर्रा के काम–धाम में नैतिकता का आधार हो। ये 'समाज' अपने धर्म को विश्व में स्वीकृत तथा प्रतिष्ठित 'धर्म' की तर्ज पर गढ़ रहे थे। इस धर्म में जरूरी था प्रामाणिक पाठ का होना; धर्म के प्रामाणिक व्याख्याताओं का होना; इस धर्म का एकेश्वरवादी होना भी जरूरी था। मध्यवर्गीय मानस को 'मिथक' से ज्यादा अब 'इतिहास' पसंद था। मिथक तो भूलभूलैया थे, कल्पना–प्रसूत थे और जेम्स मिल कल्पना को अनुपयोगी तथा व्यर्थ साबित कर चुके थे। 'समाजों' ने ऐतिहासिक व्यक्तित्व से भरे ऐतिहासिक धर्म की रचना की ताकि यह विज्ञानसम्मत जान पड़े। इन पर 'नई

रोशनी' का आतंक इतना ज्यादा था कि भारतेंदु के शब्दों में दयानंद जी ने "वेद में रेल, तार, कमेटी, कचहरी दिखाकर" आर्यों की कटती नाक को बचाने का प्राणपण से उद्यम किया, भले ही 'भाष्य के कई अर्थ जबर्दस्ती किए।"[98]

धर्म की यह व्याख्या हिंदी लोकवृत्त में सहज स्वीकार न हुई। इसे कठोर चुनौती मिली। ऐसा नहीं कि भारतेंदु अथवा उनकी मंडली 'धर्म' की धारणा पर एकमत थी, परंतु इस मंडली को एक बात आर्यसमाज या ब्रह्मसमाज से अलग करती थी। इस मंडली ने मूर्तिपूजा को अंधविश्वास नहीं माना और न ही धर्म को किसी एक पाठ–परंपरा से जोड़ा। यह मंडली धर्म को विश्वास का विषय मानती थी और संसार को विज्ञान का। इसने 'विज्ञान' से आक्रांत होकर स्वयं 'धर्म' को विज्ञान के हवाले नहीं कर दिया। न सही सुस्पष्ट तरीके से, अनगढ़ ही सही, लेकिन इसने भाव–क्षेत्र और ज्ञान–क्षेत्र को अलग–अलग बनाए रखने के प्रयत्न भरपूर किए।

प्रतापनारायण मिश्र यह तो मानते थे कि 'हिंदू जाति का समयानुकूल शुभ चिंतन सदा से' ब्राह्मण नाम पर निर्भर रहा है और "इस नाम से वेद और तदनुकूल ग्रंथों का भी अवश्य संबंध है", परंतु इसके साथ यह भी जोड़ना जरूरी समझते थे – "जो लोग वेद का तत्व जानते हैं वह हमारे मूलमंत्र 'प्रेम एवं परोधर्म' को कदापि वेद के विपरीत नहीं कह सकते क्योंकि प्रेम के बिना वेद ही नहीं, परमेश्वर तक की महिमा नहीं स्थिर रह सकती।"[99] बालकृष्ण भट्ट हिंदू जातीयता को वेद पर निर्भर जरूर मानते थे, लेकिन भट्ट जी के लिए 'वेद' भारतीयता का विज्ञान नहीं कि उसमें कोर्ट, कचहरी और रेल–तार भी खोज लिया जाय। भट्ट जी के लिए 'वेद' ज्ञान से ज्यादा भावना का क्षेत्र है – "भाव अर्थात् विश्वास में देवता रहते हैं, इसलिए विश्वास ही प्रधान है। सच्चा विश्वास अब इस समय हम देखते हैं तो बहुत कम हो गया है और ज्यों–ज्यों तालीम पर जोर बढ़ता जाएगा, सच्चा विश्वास उच्छिन्न होता जाएगा... आजकल के संशोधक रूखी तबीयत वाले, जिनमें प्रेम और भक्ति का कहीं स्पर्श भी नहीं है, उन्हें चिरकाल का प्रचलित वर्तमान हिंदू धर्म सब ओर से दंभ ही दंभ जँचता है। कदाचित् ऐसा हो भी, क्योंकि मजहब के साथ मक्कारी ने अपना घनिष्ठ संबंध जोर रखा है पर धर्म–संबंधी सब दंभ ही दंभ है – हम ऐसा कभी न मानेंगे, बल्कि उन्हीं संशोधकों का थोड़ा दोष है, जिनमें भक्ति का थोड़ा लगाव नहीं... कृष्ण, चैतन्य–प्रभु, नानक और कबीर आदि पुराने संशोधकों और इस समय के संशोधकों में बड़ा फर्क आ गया है। पुराने संशोधक भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से पूर्ण थे... इन दिनों के संशोधक गला फाड़–फाड़ गली–गली चिल्लाते हैं पर उनके कहने का किसी पर कुछ असर नहीं होता, इसलिए कि ये रुखे वैज्ञानिक बन भक्ति, श्रद्धा और सच्चे विश्वास को अपने में नहीं आने देते... इन दिनों झूठा विश्वास False belief चल पड़ा है। सभ्य समाज वाले अपढ़ मूर्खों को किसी धर्म संबंधी कार्य में लगे हुए देखकर उनके विश्वास को 'फाल्स बिलीफ' कह उन्हें हँसते हैं, पर हम कहते हैं विश्वास ऐसी चीज है कि वह झूठा हो ही नहीं सकता... आस्तिक्य

बुद्धि, ईश्वर में प्रीति यह सब बात बड़े कल्याण की है, न जानिए क्यों हमारे सुसभ्यों को इधर से अरुचि है... ।"[100]

सुसभ्यों को अरुचि होनी ही थी, वे धर्म को भी तभी स्वीकार कर सकते थे जब वह वैज्ञानिक हो, दरअसल वे सिर्फ विज्ञान को स्वीकार करना चाहते थे। यह आधुनिकता का एकाधिकारी विज्ञान था जो अपने से अलग हर कुछ से अपना तर्क स्वीकार कराना चाहता था। इसमें थे देकार्त्त, जो 'जानने' से अपना 'होना' सिद्ध करते थे। यह जानना शुद्ध गणितीय था जो पत्थर को सिर्फ पत्थर स्वीकार करता था। भट्ट जी को "मानो तो देव नहीं तो पत्थर" की सुविधा वह नहीं दे सकता था। गणित के आकलन से अलग, सत्य को जानने की अगर कोई प्रविधि थी तो वह 'आधुनिकता' को स्वीकार नहीं थी। भक्ति और भावना उसके लिए 'फाल्स बिलीफ' ही हो सकते थे। 'आधुनिकता' के लिए 'धर्म' एक उपादेय चीज थी। वह ईश्वरविहीन आधुनिकता को 'मोरालिटी' देती थी। इससे ज्यादा का दावा, मसलन किसी ऐसे सत्य को खोजने का दावा जो विज्ञान की पहुँच से बाहर हो – धर्म नहीं कर सकता था। आधुनिकता का 'सत्य' एक था – पार्थिव 'मनुष्य'। इस मनुष्य का लक्ष्य तय था – 'भौतिक सुख'; और सत्य को तलाशने तथा प्रयोजन को सिद्ध करने की प्रविधि तय थी। यह प्रविधि अनुभवगम्यता और बोधगम्यता की थी, अर्थात् हर चीज को इहलौकिक विज्ञान के अंतर्गत 'मात्रा' और 'संख्या' में तब्दील करने की तरकीब। जो कुछ 'संख्या' और 'मात्रा' में न बदल सके, अर्थात् इंद्रियबोध से परे हो उसे यह वैज्ञानिकता ज्ञान की श्रेणी में नहीं रखती थी। भारतेंदु और उनकी मंडली इस ज्ञानमीमांसा का प्रतिपक्ष थी।

भारतेंदु अनगढ़ रूप से ही सही पर यह कह सकते थे कि "वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरणकमल का भजन है" और इस तरह वे वास्तविक धर्म से 'समाज धर्म' का भेद कर सकते थे जो "देशकाल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं।" भारतेंदु के अनुसार भारत में धर्मनीति और समाजनीति को दूध–पानी की तरह मिला दिया गया है और बीच में खराबी यह हुई कि महात्माओं ने "ये धर्म क्यों मानन लिखे थे, इसका लोगों ने मतलब नहीं समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया।" भारतेंदु इस विभाजन से एक संभावना उत्पन्न करते हैं कि धर्म का निजी कोना बचा रहे और शेष सब जो वास्तविक धर्म का ठीक–ठीक अर्थ न लगाने के कारण समाजविरुद्ध माना जाता है परंतु "देश और काल के जो अनुकूल और उपकारी हो", उसे 'धर्मशास्त्रों के विधान के अनुसार ग्रहण किया जा सकता है। इस तरह यहाँ 'धर्म' भावना का क्षेत्र रहता है, आस्था और विश्वास का क्षेत्र। वह 'विज्ञान' के आगे दंडवत होने से बचा रह जाता है। यह विभाजन यह स्वीकार कर लेता है कि 'धर्म' की अपनी दुनिया है और वह भी अपंना एक निजी सत्य तलाशता है और मनुष्य की समग्र सत्ता से संवाद करके उसे पूर्ण बनाता है क्योंकि मनुष्य जितना इहलौकिक है उतना ही आध्यात्मिक भी। प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में कहें तो भारतेंदु का वास्तविक धर्म "मनुष्य की अध्यात्म पिपासा को तृप्त" करता है और "सामाजिक नैतिकता और अनुशासन के नियम" को

धर्मेतर अनुशासनों के लिए छोड़ देता है। इस तरह भारतेंदु का 'वास्तविक धर्म' किसी 'संगठित धर्म' अथवा 'धर्मसत्ता' में बदलने से बच जाता है। प्रो. अग्रवाल लिखते हैं कि धर्मसत्ता मनुष्य की आध्यात्मिक पिपासा कि "मेरा यह जीवन न मुझ तक सीमित है, न यहाँ तक' को बुझाने के नाम पर मांग करती है कि मनुष्य "विशेष समाजसत्ता को भी पावन माने; उस समाजसत्ता द्वारा निर्धारित की गई सामाजिक अस्मिता को भी पावन माने! इस तरह धर्मसत्ता मनुष्य की सहज आध्यात्मिक पिपासा को तृप्त करने के नाम पर एक विशेष सामाजिक–राजनीतिक सत्तातंत्र को ही पावन आस्था का विषय बना देती है।"[101]

भारतेंदु अथवा उनके 'मंडल' ने हिंदू अस्मिता और उसकी अखिल भारतीयता का प्रस्ताव जरूर किया, लेकिन इस अस्मिता की समाजनीति और धर्मनीति को परस्पर अलग बताने का साहस और विवेक उसमें था। इसका कारण है – भारतवर्ष की कल्पना सिर्फ वेद–परंपरा पर ही नहीं, बल्कि भक्ति–परंपरा के आधार पर भी करना। यह प्रस्ताव भी भारत को 'पाठ' के भीतर ही देखता था, लेकिन यह ठहरा हुआ 'पाठ' नहीं था। यह परिवर्धनशील 'पाठ' था जिसमें निरंतर कुछ–न–कुछ जुड़ता जाता है। यह 'पाठ' वेद–उपनिषद्–स्मृति तक ही नहीं रुकता, पुराण और तंत्र तक आता है। इसमें व्यास, वाल्मीकि और मनु भर शामिल नहीं, बल्कि वल्लभाचार्य, यमुनाचार्य और रामानुजाचार्य शामिल हैं तो रामानंद और कबीर भी, सूरदास और तुलसीदास भी। भारतेंदु भारतवर्ष की कल्पना 'वैष्णवता' के आदर्श पर करते हैं। वे वेदों के "आदि समय की वैष्णवता" से "आधुनिक समय की वैष्णवता" तक के चरण बेखटके उद्धृत कर सकते थे और हर भारतीय को "अदीक्षित वैष्णव" भी कह सकते थे। वे बता सकते थे कि वैष्णव मत अनेक आचार्यों ने इसी आशा से 'प्रवृत किया कि इसमें सब मनुष्य समानता लाभ कर और परस्पर खान–पान आदि से लोगों में एक्य बढ़े और किसी जाति, वर्ण, देश का मनुष्य क्यों न हो वैष्णवपंक्ति में आ सके..।"[102]

भारतेंदु पारिवारिक परंपरा से स्वयं पुष्टिमार्गी थे जिसकी शब्दावली में 'वैष्णव' वह था जो 'आचरज महाप्रभू जी को' तन–मन–धन के संपूर्ण समर्पण के साथ स्वीकार करे और पुष्टिमार्गी वैष्णव के लिए किसी अन्य आस्थातंत्र से जुड़े व्यक्ति के हाथ का पानी पीना तक आपद्धर्म ही था, भले ही वह व्यक्ति किसी दूसरे वैष्णव संप्रदाय से क्यों न जुड़ा हो। लेकिन जैसा कि प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने रेखांकित किया है – वैष्णव शब्द का अर्थ मध्यकालीन संदर्भ में अत्यंत व्यापक है – "जो लोग मध्यकालीन साहित्य या इतिहास के संदर्भ में इसके अर्थ को व्युत्पत्तिपरक अर्थ तक ही सीमित करते हैं, वे भारी बिगूचन उत्पन्न करेंगे ही। मध्यकालीन शब्दावली में 'वैष्णव शब्द का व्यवहार केवल उन लोगों के लिए नहीं होता था, जो विष्णु के किसी अवतार की भक्ति करें, पौराणिक मत को स्वीकार करें। ऐसे लोग तो वैष्णव कहलाते ही थे लेकिन दूसरी ओर 'मन के मनुष्य' की साधना करने वाले, वर्णाश्रम की उपेक्षा करने वाले बाउल भी वैष्णव ही कहे जाते थे।"[103] प्रो. अग्रवाल ने मुहसिन फनी (1615–1670) के कथन से इस बात

की पुष्टि की है कि वैष्णवता व्यापक धरातल पर सिर्फ अहिंसा के धर्म के पालन का नाम है और इस अहिंसा का मूल है प्रेम जो मनुष्य–मात्र की एकता का एक आधार है।

भारतेंदु पुष्टिमार्गी थे, लेकिन उनकी वैष्णवता सिर्फ 'आचारज जू' के मार्ग पर चलने वाली वैष्णवता नहीं थी। वे हर अहिंसाव्रती अर्थात् प्रेम की कीमियागरी पर आस्था रखने वाले को अदीक्षित वैष्णव के रूप में स्वीकार करते थे। उन्होंने 'तदीय नामांकित अनन्य वीर वैष्णव' की उपाधि धारण करते हुए जिन नियमों के पालन का आजीवन व्रत लिया उसमें कई बातों के साथ यह भी शामिल था कि "हम... वैष्णव में जातिबुद्धि नहीं करेंगे; वैष्णव के सब आचार्य्यों में एक पर पूर्ण विश्वास रखेंगे परंतु अन्य आचार्य्यों के मत के विषय में कभी निंदा वा खंडन नहीं करेंगे और "किसी प्रकार की हिंसा वा मांस–भक्षण नहीं करेंगे...।"[104] भारतेंदु इसी कारण उस भारतीयता का प्रस्ताव कर सके जो सबको साथ लेकर चलती है – "बंगाली, मरठ्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्रह्मों, मुसलमाना सब एक का हाथ एक पकड़ो।"... दयानंद अथवा केशवचंद्र 'मूर्तिपूजकों' को परमेश्वर के 'राज' का अधिकारी नहीं मानते थे, लेकिन भारतेंदु इन्हें परमेश्वर के स्वर्ग में जरूर आसन देते हैं। 'मूर्तिपूजा' के पक्ष में उनकी वैष्णवी आस्था ने जब तर्कों की श्रृंखला 'दूषणमालिका' तैयार की तो सर्वसमावेशिकता का सवाल ही प्रमुख था जो उन्होंने दयानंद से पूछा कि "बात सौ पंडित लोगों की मानें या एक आप ही की।"[105] वसुधा डालमिया ने ध्यान दिलाया है कि ईसाई मिशनरी, आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज ने अगर मूर्तिपूजा को बुद्धिगम्य न पाकर उसका खंडन किया तो भारतेंदु सहित अन्य सनातनी सभाओं ने मूर्तिपूजा के पक्ष में तर्क दिए और "चूँकि ये तर्क मूर्तिपूजा की लंबी परंपरा को रेखांकित करते थे" तथा वैदिक–परंपरा से अलग के शास्त्रों को भी शामिल करते थे इसलिए "व्यापक विविधता की संभावना पैदा हुई।"[106] दूसरे शब्दों में कहें तो हिंदू धर्म के इस सनातनी आख्यान में भारतीय विविधता/स्थानीयता की प्रतिष्ठा हुई। हिंदू धर्म का यह एक खुला हुआ, पाठ था; अतीत से अनवरत् गतिशील और नये को निरंतर समाहित करता हुआ तथा इस क्रम में हर मोड़ पर बदलने को तैयार।

रामचंद्र तिवारी ने सही पहचाना है कि सावरकर की आवाज गाँधी की अहिंसा के आगे दब गई। सावरकर के हिंदू धर्म का पाठ, एक बंद 'पाठ' है – अपने भीतर किसी 'अन्य' के प्रवेश को हठात् रोकता हुआ पाठ; गाँधी के हिंदू धर्म का पाठ रोज नया होता पाठ है; उसमें प्रेम/भक्ति और अहिंसा किसी ऐसे 'अन्य' की रचना नहीं करते जो सदा–सर्वदा तथा शाश्वत रूप से 'अन्य' हो।

संदर्भ संकेत

1 रामचंद्र तिवारी (2005) – 'हिंदी राष्ट्रवाद मेरे लिए नया मुहावरा है', साखी–12, जुलाई–सितंबर, 2005, गोरखपुर, पृ.8–9

2 वही

3 आलोक राय (2000) – हिंदी नेशनलिज्म, ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, पृ.1–10

4 वही

5 वही

6 सत्यप्रकाश मिश्र (1995) – बालकृष्ण भट्ट : प्रतिनिधि संकलन, एनबीटी, नई दिल्ली, पृ. 120–123

7 वही

8 सत्यप्रकाश मिश्र (1995) – उपर्युक्त, पृ.47–51

9 हिंदी प्रदीप, फरवरी 1886, नेहरू म्यूजियम लाइब्रेरी, नई दिल्ली में उपलब्ध

10 आलोक राय (2000) – उपर्युक्त, पृ.53

11 हेमंत शर्मा (2000) – भारतेंदु समग्र, हिंदी प्रचारक पब्लि., वाराणसी, पृ.1060–63

12 वही

13 सत्यप्रकाश मिश्र (1995) – उपर्युक्त, पृ.52–53

14 वही

15 कैरोल ए. ब्रेकेनरिज, पीटर फॉन डे फीर (1993) – ओरिएंटलिज्म एंड द पोस्ट–कोलोनियल प्रेडिकामेंट, यूनि. ऑफ पेन्सिलवानिया प्रेस, फिलाडेल्फिया, में विनय धाड़वड़कर का लेख 'ओरिएंटलिज्म एंड द स्टडी ऑफ इंडियन लिटरेचर', पृ.158–188

16 वही

17 वही

18 हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, वही

19 जी एन देवी (1998) – ऑफ मेनी हीरोज : एन इंडियन ऐसेज इन लिटरेरी हिस्ट्रियोग्राफी, ओरिएंट लांगमैन, पृ.89

20 सर जार्ज ग्रियर्सन (1927) – 'भारत का भाषा–सर्वेक्षण' (उदयनारायण तिवारी द्वारा अनूदित) खंड–6, उ.प्र. हिंदी संस्थान, पृ.22

21 यह उद्धरण अध्याय दो से उद्धृत है।

22 कैरोल ए. ब्रेकेनरिज, पीटर फॉन डे फीर (1993) – उपर्युक्त में शेल्डन पोलॉक का लेख 'डीप ओरिएंटलिज्म? नोट्स ऑन संस्कृत एंड पावर बियोंड राज', पृ.76–133

23 दाऊद अली (संपा. 2002) – इनवोकिंग द पास्ट : द यूजेज ऑफ हिस्ट्र इन साऊथ एशिया, ओयूपी, नई दिल्ली, में रोमिला थापर का लेख 'सम एप्रोप्रिएशन ऑफ द थ्योरी ऑफ आर्यन रेस रिलेटिंग टू द बिगनिंग ऑफ इंडियन हिस्ट्री, पृ.15–35

24 कैरोल ए. ब्रेकेनरिज, पीटर फॉन डे फीर (1993) – उपर्युक्त में शेल्डन पोलॉक का लेख

25 वसुधा डालमिया (2003) – ओरिएंटिंग इंडिया : योरोपियन नॉलेज फॉर्मेशन इन द एटीन्थ एंड नाईंटींथ सेंचुरीज, थ्री ऐसेज कलेक्टिव, नई दिल्ली, पृ.1–28

26 htpp://www.fordham.edu/halsall/mod/1784herder-mankind.html

27 वही

28 भीखू पारेख (2000) – रीथिंकिंग मल्टीकल्चरलिज़्म : कल्चरल डायवर्सिटीज एंड पॉलिटिकल थ्योरी, पेलग्रेव, इंग्लैंड, पृ.67–75

[29] वसुधा डालमिया (2003) – उपर्युक्त, पृ.1–25

[30] 'समकालीन सृजन' के अंक 18, प्रकाशन वर्ष 1998 से उद्धृत। इस अंक के संपादक अवधेश प्रसाद सिंह। कलकत्ता से प्रकाशित, पृ.24–25

[31] रामगोपाल (शक संवत् 1886) – स्वतंत्रतापूर्व हिंदी के संघर्ष का इतिहास – हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयास, परिशिष्ट, पृ.7

[32] कृष्ण बिहारी मिश्र (2000) : हिंदी पत्रकारिता : जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण भूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.119

[33] डा. नत्थन सिंह (संपा. 1993) : बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़, पृ. 7–8

[34] सम्मेलन पत्रिका का 'भारतेंदु अंक', भाग–87, संख्या 2–4 में राम निरंजन परिमलेंदु का लेख 'देवनागरी लिपि आंदोलन और भारतेंदु हरिश्चंद्र, इलाहाबाद, पृ.200–232

[35] सर जार्ज ग्रियर्सन (1927) – 'भारत का भाषा–सर्वेक्षण' (उदयनारायण तिवारी द्वारा अनूदित) खंड–6, उ.प्र. हिंदी संस्थान, पृ.23–24

[36] दाऊद अली (संपा. 2002) – इनवोकिंग द पास्ट : द यूजेज ऑफ हिस्ट्र इन साऊथ एशिया' में पीटर फान डे फीर का 'मॉनुमेंटल टेक्स्ट्स : द क्रिटिकल एडीशन ऑफ इंडियाज हेरिटेज' शीर्षक लेख, ओयूपी, नई दिल्ली, पृ.156–177

[37] कैरोल ए. ब्रेकेनरिज, पीटर फॉन डे फीर (1993) – 'ओरिएंटलिज्म एंड द पोस्ट–कॉलोनियल प्रेडिकामेंट' में डेविड लेलिवेल्ड का' द फेट ऑफ हिंदुस्तानी : कॉलोनियल नॉलेज एंड द प्रोजेक्ट ऑफ द नेशनल लैंग्वेज' शीर्षक लेख। युनि. ऑफ पेंसिलवेनिया प्रेस, फिलाडेल्फिया, पृ.189–214

[38] सम्मेलन पत्रिका का उपर्युक्त अंक, पृ.200–232

[39] वही

[40] डेविड लेलिवेल्ड (1993) – कॉलोनियल नॉलेज एंड द फेट आफ हिंदुस्तानी, कंपरेटिव स्टडीज इन सोसायटी एंड हिस्ट्री, खंड–35, सं.4, अक्तूबर, 1993, पृ.665–682

[41] सैंड्रिया बी. फ्राइटैग (सं. 1989) – 'कल्चर एंड पावर इन बनारस–कम्युनिटी, परफार्मेन्स एंड एन्वायरमेंट' में क्रिस्टोफर किंग का लेख 'फोर्जिंग अ न्यू लिंग्विस्टिक आइटेन्टिटी : द हिंदी मूवमेट इन बनारस 1868–1914', यूनि. ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, लंदन, पृ.179–202

[42] डा. मुरलीधर श्रीवास्तव (1973) – 'हिंदी के यूरोपीय विद्वान : व्यक्तित्व और कृतित्व' बिहार हिंदी ग्रंथ एकादमी, पटना, पृ.296–97

[43] वही

[44] वही

[45] हेमंत शर्मा (2000) – भारतेंदु समग्र, हिंदी प्रचारक पब्लि., वाराणसी, पृ.976

[46] धनंजय भट्ट (संपा. 1983) – हिंदी की दशा और पत्रकारिता : भट्ट निबंधावली, भाग–3, हिंदी–साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.156

[47] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, वही

[48] धनंजय भट्ट 'सरल' (संपा. 1983) – उपर्युक्त, पृ.47

[49] वही, उपर्युक्त, पृ.67–69

[50] सैंड्रिया बी. फ्राइटैग (1989) – उपर्युक्त, पृ.179–202

[51] वहीं

[52] वही

[53] रामगोपाल (शक सं. 1886) – उपर्युक्त, वही

[54] शान मुहम्मद (सं. 1972) – राइटिंग एंड स्पीचेज ऑफ सर सैयद अहमद खान, नचिकेता प्रकाशन, बंबई, पृ.83–98

[55] आचार्य शिवपूजन सहाय, श्री नलिन विलोचन शर्मा (1960) – अयोध्या प्रसाद खत्री स्मारक–ग्रंथ, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ.63–119

[56] वही

[57] पॉल आर. ब्रास (1974) – लैंग्वेज, रेलीजन एंड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, कैंब्रिज युनि. प्रेस, लंदन, पृ.8–45

[58] वही

[59] सौरभ दुबे (संपा. 2004) – 'पोस्ट कॉलोनियल पैसेज – कंटेम्पररी हिस्ट्री–राइटिंग ऑन इंडिया' में निकोलस बी. डर्क्स का लेख' द एथनॉग्राफिक स्टेट', ऑक्सफोर्ड युनि. प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 70–88

[60] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, पृ.732

[61] डा. मथुरालाल शर्मा (अनूदित 1973) – भारत का इतिहास, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, पृ.xi

[62] वही

[63] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, पृ.731

[64] वही, पृ.735

[65] वही, देखें – पुरावृत्त संग्रह की सूची

[66] पुरुषोत्तम अग्रवाल (2003) – 'लोकवृत्त हिंदी भाषा का या हिंदी–प्रदेश का?' 'आलोचना' अक्तूबर–दिसंबर 2003, नई दिल्ली, पृ.113–125

[67] सौरभ दुबे (सं. 2004) – उपर्युक्त में निकोलस बी डर्क्स का लेख

[68] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, पृ.1009–1013

[69] देखें 'दीवान–ए–सराय', अंक–1 में पलाश, आलोक राय और शाहीद अमीन की हिंदी राष्ट्रवाद विषयक चर्चा, विकासशील समाज अध्ययन पीठ से प्रकाशित दिल्ली

[70] जी अल्लाना (संकलन–संपादन 1967) – पाकिस्तान मूवमेंट – हिस्टॉरिक डाक्यूमेंट्स, इस्लामिक बुक सर्विस, लाहौर, पृ.1

[71] वही, पृ.3

[72] वही

[73] फ्रांसिस रॉबिन्सन (2000) – 'इस्लाम एंड मुस्लिम हिस्ट्र इन साऊथ एशिया', ऑक्सफोर्ड युनि. प्रेस, दिल्ली, पृ.177–207

[74] शान मुहम्मद (सं. 1972) – उपर्युक्त, पृ.257–60

[75] वही

[76] हफीज मलिक (1968) – सर सैयद अहमद खानस् डाक्टरिन ऑफ मुस्लिम नेशनलिज्म एंड नेशनल प्रोग्रेस, मार्डन एशियन स्टडीज, खंड–2, संख्या–3, पृ.221–224

[77] वही

[78] वही

[79] राबर्ट डी. बैर्ड (1981) – 'रेलिजन इन मार्डन इंडिया' में शीला मैक्डोनॉव का लेख 'शिबली नोमानी : अ कंजरवेटिव विजन ऑफ रिवाइटालाइज्ड इस्लाम', मनोहर, दिल्ली, पृ.361–388

[80] सैयद महमूद (1985) – अ हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश एजुकेशन इन इंडिया, इदारा–ए–अदबियात–ए–दिल्ली, दिल्ली, पृ.7

[81] फ्रांसिस रॉबिन्सन (2000) – उपर्युक्त, वही

[82] अल्ताफ हुसैन हाली (61वाँ संस्करण, 1978) – मसुद्दस–ए–हाली, परवेज बुक डिपो, दिल्ली, भूमिका

[83] राबर्ट डी. बैर्ड (1981) – उपर्युक्त, पृ.361–388

[84] फ्रांसिस रॉबिन्सन (2000) – उपर्युक्त, भूमिका

[85] डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – प्रतापनारायण मिश्र रचनावली, खंड–2, भारतीय प्रकाशन संस्थान, पृ.127

[86] वही, पृ.141

[87] शान मुहम्मद (सं. 1972) – उपर्युक्त, पृ.83–98

[88] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, पृ.983–85

[89] विलियम रेडाइस (1999) – स्वामी विवेकानंद एंड द माडर्नाइजेशन ऑफ हिंदुइज्म' में वसुधा डालमिया का लेख 'द माडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन : हरिश्चंद्र ऑफ बनारस एंड डिफेन्स ऑफ हिंदू धर्म' – ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रेस, पृ.77–92

[90] वही

[91] वही

[92] वही

[93] महर्षि दयानंद सरस्वती (विक्रमाब्द–2057 का संस्करण) –सत्यार्थ–प्रकाश, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, प्रकाशकीय

[94] वीरभारत तलवार (2001) – हिंदू नवजागरण की विचारधारा : सत्यार्थ प्रकाश समालोचना का एक प्रयास, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, पृ.78

[95] महर्षि दयानंद सरस्वती (विक्रमाब्द–2057 का संस्करण) – उपर्युक्त, पृ.187–274

[96] वसुधा डालमिया, हेनरिक वॉन स्टीटेनक्रान (संपा. 1995) – रिप्रेजेंटिंग हिंदूइज्म – द कंस्ट्रक्शन ऑफ रिलिजियस ट्रेडीशन एंड नेशनल आइडेन्टिटी' में हेनरिक वॉन स्टीटेनक्रॉन का लेख रेलिजियस कंफ्यूरेशन इन प्री–मुस्लिम इंडिया एंड द मार्डन कंसेप्ट ऑफ हिंदुइज्म' सेज पब्लि., नई दिल्ली, पृ.51–80

[97] सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1927) – उपर्युक्त, पृ.21–22

[98] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, पृ.983–85

[99] डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – उपर्युक्त, खंड–4, देखें 'ब्राह्मण नाम का अभिप्राय' शीर्षक से छपा लेख।

[100] देवीदत्त शुक्ल, धनंजय भट्ट 'सरल' (संपा. शक 1915) – भट्ट–निबंधावली, पहला भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.25–29

[101] पुरुषोत्तम अग्रवाल (2004) – निज ब्रह्म विचार : धर्म, समाज और धर्मेत्तर अध्यात्म, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.23–26

[102] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, पृ.971–976

[103] पुरुषोत्तम अग्रवाल (1997) – 'कबीर और रामानंद' शीर्षक लेख, 'बहुबचन–3' में प्रकाशित, महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन, पृ.175–179

[104] बाबू शिवनंदन सहाय (1975) : हरिश्चंद्र, हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, पृ.83

[105] हेमंत शर्मा (2000) – उपर्युक्त, पृ.929–932

[106] विलियम रेडाइस (1999) – उपर्युक्त में वसुधा डालमिया का लेख पृ.77–92

अध्याय : पाँच

कल्पित समुदाय और कल्पना की स्त्री

'आर्यकुलगौरव – आर्यकुललालना'

सती और शील

स्त्रीत्व की छवियाँ और राष्ट्रीयता का रूपक

सितंबर, 1914 ई. की 'सरस्वती' में 'पढ़े–लिखों' का पांडित्य' शीर्षक से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक लेख प्रकाशित हुआ।[1] इस लेख में 'कुछ दलीलों' का खंडन किया गया था। ये दलील "सुशिक्षित लोग – जिन्होंने बड़े–बड़े स्कूलों और शायद कालेजों में भी शिक्षा पाई" थी और "जो धर्मशास्त्र और संस्कृत के ग्रंथ–साहित्य से" परिचित थे, "जिनका पेशा कुशिक्षितों को शिक्षित करना, कुमार्गगामियों को सुमार्गगामी बनाना और अधार्मिकों को धर्मतत्व समझाना" था – दे रहे थे। द्विवेदी जी के अनुसार ये लोग भी समझते हैं कि "स्त्रियों को पढ़ाना उनके और गृह–सुख के नाश का कारण है।"

ऐसे लोगों की दलीलों को द्विवेदी जी ने इस रूप में क्रमबद्ध किया है – 1. पुराने संस्कृत कवियों के नाटकों में कुलीन स्त्रियों से अपढ़ों की भाषा में बातें कराई गई हैं। इससे प्रमाणित होता है कि इस देश में स्त्रियों को पढ़ाने की चाल न थी। ऐसा होने पर स्त्रियों को पढ़ाने की इतिहास–पुराणादि में नियमबद्ध प्रणाली जरूर होती। 2. स्त्रियों को पढ़ाने के अनर्थ होते हैं। शकुंतला कम पढ़ी थी। वह गँवारों की भाषा में मुश्किल से एक श्लोक लिख सकी थी, परंतु इतनी कम शिक्षा ने भी अनर्थ कर डाला। 3. स्त्रियों को नागरिकों की भाषा तो क्या अपढ़ों की भाषा में भी पढ़ाना ठीक नहीं, क्योंकि शकुंतला ने अपढ़ों की भी भाषा में आखिर दुष्यंत को कटु–वाक्य ही कहे थे।

द्विवेदी जी ने इन तर्कों का खंडन किया है। उनका कहना हैं कि इस देश की शिक्षा–प्रणाली अच्छी नहीं। इस कारण यदि कोई स्त्रियों को पढ़ाना अनर्थकारी समझे तो उसे उस प्रणाली का संशोधन करना या कराना चाहिए, खुद पढ़ने–लिखने को दोष न देना चाहिए – "प्रणाली बुरी होने के कारण क्या किसी ने यह राय दी है कि सारे स्कूल–कालेज बंद कर दिए जाएँ? आप खुशी से लड़कियों और स्त्रियों की शिक्षा–प्रणाली का संशोधन कीजिए। उन्हें क्या पढ़ना, कितना पढ़ाना चाहिए, किस तरह की शिक्षा देनी चाहिए और कहाँ पर देना चाहिए – घर में या स्कूल में – इन सब बातों पर बहस कीजिए, विचार कीजिए, जी में आवे सो कीजिए; पर परमेश्वर के लिए यह न कहिए कि स्वयं पढ़ने–लिखने में कोई दोष है.... वह गृह–सुख का नाश करने वाला है...।"[2]

द्विवेदी जी स्त्री–शिक्षा के हिमायती हैं अर्थात् उन लोगों से कहीं प्रगतिशील जो पुराण–इतिहास और साहित्य के साक्ष्यों से साबित करना चाहते हैं कि स्त्रियों को अनपढ़ रखना ही गृह–सुख के लिए उचित है। परंतु वे स्त्रियों को क्या, कितना और कहाँ पढ़ाया जाए और उन्हें किस तरह की शिक्षा दी जाए – इस प्रश्न को खुला रखते हैं। उनका तर्क है कि इतिहास–पुराण से यह सिद्ध नहीं होता कि स्त्रियाँ अनपढ़, गँवार अथवा अकुलीन थीं – "पुराने जमाने में स्त्रियों के लिए कोई विश्वविद्यालय न था फिर नियमबद्ध प्रणाली का उल्लेख आदि पुराणों में न मिले तो क्या आश्चर्य...।" वे स्त्री–शिक्षा के पक्ष में दलील भी कथासाहित्य के साक्ष्य प्रस्तुत करके देते हैं। उनके

अनुसार – "शकुंतला ने दुष्यंत को कटु–वचन कह कर कौन–सी अस्वाभाविकता दिखाई? क्या वह यह कहती कि 'आर्य पुत्र! शाबास! बड़ा अच्छा काम किया जो मेरे साथ गंधर्व विवाह करके मुकर गए। नीति, न्याय, सदाचार और धर्म की आप प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। पत्नी पर घोर–से–घोर अत्याचार करके जो उससे ऐसी आशा रखते हैं वे मनुष्य स्वभाव का किंचित ज्ञान नहीं रखते... ।"[3]

द्विवेदी जी शकुंतला के कृत्य को उचित बताकर अपने तर्क की पुष्टि में सीता का भी साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जो परित्यक्त होने पर रामचंद्र को संदेश भिजवाती हैं – "लक्ष्मण! जरा उस राजा से कह देना कि मैंने तो तुम्हारी आँख के सामने ही आग में कूदकर अपनी विशुद्धता साबित कर दी थी। तिस पर भी लोगों के मुख से निकला मिथ्यावाद सुनकर ही तुमने मुझे छोड़ दिया। क्या यह बात तुम्हारे कुल के अनुरूप है? अथवा क्या यह तुम्हारी विद्वता या महत्ता को शोभा देने वाली है? अर्थात् तुम्हारा यह अन्याय तुम्हारे कुल, शील, पांडित्य सभी पर बट्टा लगाने वाला है।"[4]

द्विवेदी जी इसी क्रम में अत्रि की पत्नी, गार्गी और मंडनमिश्र की सहधर्मिणी का भी हवाला देते हैं जिन्होंने बड़े–बड़े ब्रह्मवादियों को हराया और 'शंकराचार्य के छक्के छुड़ाये।' इस लेख से कुछ बातें लक्ष्य की जा सकती हैं – 1. द्विवेदी जी के समय में भी पढ़े–लिखों का एक तबका स्त्री–शिक्षा का विरोधी था और वह अपने विरोध की वैधता इतिहास–पुराण की स्त्रियों के हवाले से साबित करना चाहता था। 2. इस मान्यता को चुनौती दी जा रही थी और चुनौती देने वाले अपनी युक्ति का आधार भी इतिहास–पुराण के पात्रों को बना रहे थे, 3. स्त्री–शिक्षा के सवाल को स्त्री के 'शील' और 'गृह–सुख' के संबंध में विचारा जा रहा था, 4. स्त्री के 'शील' को भारतवर्ष के गौरव से जोड़कर देखा जा रहा था (द्विवेदी जी स्त्री–शिक्षा के विरोधियों पर टिप्पणी करते हैं – "ऐसे ही दलीलों और दृष्टांतों के आधार पर कुछ लोग स्त्रियों को अपढ़ रखकर भारतवर्ष का गौरव बढ़ाना चाहते हैं..."[5]) 5. स्त्री–शिक्षा के प्रश्न पर पुरुष विचार कर रहे थे और स्त्री–शिक्षा का 'कब–कहाँ–कैसा' तय कर रहे थे। शिक्षित स्त्री का जो आदर्श उन्होंने चुना वह ठेठ मध्यवर्गीय जरूरतों के अनुरूप चुना हुआ 'आदर्श' था। यह आदर्श सीता का था। तर्क–विदग्ध सीता की उक्ति के बारे में द्विवेदी जी ने लिखा कि "यह उक्ति न किसी वेश्या–पुत्री की है, न किसी गँवार स्त्री की; किंतु महाब्रह्मज्ञानी राजा जनक की लड़की और मन्वादि धर्मशास्त्रों का ज्ञान रखने वाली रानी की.... ।"[6]

इस तरह, पक्ष और विपक्ष में कुछ बातों का साझा है। दोनों 'स्त्री–शिक्षा' को 'पुरुष की शिक्षा' से अलग मानते हैं जिसका कब, कहाँ और कैसा तय किया जाना जरूरी है। दोनों ही अपने तर्क इतिहास–पुराण में ढूँढ़ते हैं, क्योंकि 'आज' की वैधता 'कल' के आधार पर सिद्ध करना जरूरी लगता है और 'कल' को धर्म तथा काव्य में खोजा जाता है। उसे सामाजिक इतिहास का दस्तावेज मानकर स्वीकार किया जाता है। दोनों के लिए स्त्री की स्थिति भारतवर्ष के गौरव को आँकने में निर्णायक है।

यह स्त्री 'कल्पित स्त्री' है; जीवन से ज्यादा 'पाठ' में मौजूद और स्वयं भारतवर्ष भी एक 'कल्पित समुदाय' है – भाषा, दर्शन, साहित्य और धर्म तथा वास्तुशिल्प के भीतर दर्ज मान लिया गया समुदाय। द्विवेदी जी अथवा उनके प्रतिपक्षी पारस्परिक सहमति के इसी दायरे के बीच संवाद करते हैं। द्विवेदी जी के इस लेख से बहुत पहले इस कल्पित स्त्री का गढ़ना आरंभ हो चुका था। 19वीं सदी का हिंदी लोकवृत्त इसके प्रभूत साक्ष्य प्रदान करता है। मिसाल के लिए प्रतापनारायण मिश्र के लेखन को देखा जा सकता है। उनका 'नारी' विषयक विवेचन इस आधार–स्थापना से शुरु होता है कि 'नारी' शब्द 'जितने अर्थ रखता है उन सब में यही प्रभाव है कि सदा सावधान रहो' और अर्द्धांगिनी नारी के बारे में उनकी सावधानी यह विधान करती है कि 'परमात्मा न करे कहीं रुक्माबाई ऐसी हों कि सात पीढ़ी के नाक कटावैं।" प्रतापनारायण जी का नारीविषयक दृष्टिकोण 'स्त्री' को 'व्यक्ति' नहीं मानता, बल्कि 'सात पीढ़ियों की नाक' का विषय मानता है। उनकी समस्या यह है कि 'संसार की उत्पत्ति, गृहस्थी का सुख, रसिकों का प्रमोद नारी के हाथ में है' और इसी कारण यह दुविधा मौजूद है कि "यह (नारी) न हों तो हमारा निर्वाह न हो... हों और नियमबद्ध न हों तो हमारी जीवन–यात्रा नर्कमय हो जाय।" ऐसे में उनका विचार यह कहता है कि "यही उचित है कि जैसे बने वैसे हिकमत के साथ इनसे बर्ताव करो.... जहाँ तक हो इन्हें स्वतंत्रता न सौंपें। सदुपदेश द्वारा नारी मात्र को अनुकूल रखना ही श्रेयस्कर है।"[7]

'सदुपदेश' का तात्पर्य पातिव्रत की शिक्षा से है – "हमारी परम–पूज्या जगदंबा श्री पार्वती जी, श्री सीता जी, श्री अनुसूया जी इत्यादि का बड़ा महत्व विशेषतः इसी कारण है कि वे पतिव्रता थीं.... निश्चय ही स्त्री के लिए पतिव्रत से बढ़ के कोई धर्म नहीं न पति से बढ़कर कोई देवता है....।"[8] प्रतापनारायण जी पातिव्रत को भारतवर्ष की उन्नति से जोड़कर देखते हैं – "भारत की पूर्णोन्नति का एक बड़ा भारी कारण यह भी था कि स्त्रियाँ बहुधा पतिव्रता होती थीं चित्तौर का राजवंश भारत के इन गिरे दिनों में भी इतना प्रतिष्ठित है, इसका मुख्य कारण यही है कि इस घोर कलिकाल में भी वहाँ सहस्त्रों शूर और सती थीं। इस जमाने में हम देखते हैं कि शूरता का तो प्रायः लोप ही सा हो गया है पर सती भी बहुत कम रह गई है, बरंच न होने के बराबर कह सकते हैं।" सती का अर्थ मिश्र जी बताते हैं – "मुख्य सती वह है जो पति के विरह रूपी अग्नि में ऐसा दुख अनुभव करे कि जीते जी मर जाने के समान... इसमें संदेह नहीं कि पति के सुख–दुख में अपना सचमुच सुख–दुख समझने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखने वाली, पति से सच्चा स्नेह वाली स्त्रियाँ 'आज' हजारों में दस हों तो हों।"

इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि – "स्त्री–शिक्षा की चाल उठ सी गई है। यदि कोई–कोई लोग पढ़ाते भी हैं तो मेमों से या मेम दासियों से। भला वे ईसा के गीत और लिबरटी सिखावेंगी अथवा पतिव्रत।"... स्त्रियाँ ईसा के गीत से ही दूर न रहें वे अपनी पसंद की पुस्तकों से भी दूर रहें, इसकी चिंता में प्रतापनारायण जी कहते हैं – "थोड़ा बहुत पढ़ भी गईं तो घर का ठीक नियम नहीं है। बहुत सी 2 चार 2 पैसे की

ऐसी पुस्तकें छप गई हैं जो पुरुषों के लिए खैर, जी बहलाने को अच्छी सही पर स्त्रियों के लिए हानिकारक हैं। बाबू साहब बाजार से ले आये, घर में डाल दिया। बबुआइन साहिबा ने खोल के पढ़ा तो 'जोबन का मांगे दान कान्ह कुंजन में।" ऐसे में प्रतापनारायण मिश्र जी का मत है कि स्त्रियों को 'सदुपदेश' देने के लिए मर्दों की तरह सभाएँ, अखबार और पुस्तकें होनी चाहिए और इसी कारण वे "आशा करते हैं कि श्रीमती हेमंतकुमारी देवी (रतलामवासिनी) अपनी 'सुगृहिणी' नामक पत्रिका में पतिव्रत पर अधिक जोर देंगी जिसमें सर्वसाधारण स्त्रियों को वास्तविक लाभ हो.... ।"[9]

प्रतापनारायण मिश्र के इस नारी–विवेचन में हम द्विवेदी जी के लेख की पूर्वध्वनि पढ़ सकते हैं। यहाँ भी आदर्श सीता और अनुसूया हैं। वे भारतवर्ष के गौरव का प्रतीक मानकर ग्रहण की जा रही हैं। इस लेख में भी स्त्री–शिक्षा को पुरुष की शिक्षा से अलग मानकर स्वीकार किया गया है। अगर द्विवेदी जी के लेख में 'कल' की 'ब्रह्मवादिनी सीता' को 'आज' की कुलीन और शिक्षित 'स्त्री' के रूप में देखने की कोशिश है तो मिश्र जी के विवेचन में भी हम यही बात पाते हैं। प्रतापनारायण मिश्र यदि स्त्री–शिक्षा का पाठ्यक्रम अथवा वरेण्य एवं त्याज्य का निर्धारण करते हैं तो द्विवेदीजी अपने लेख में स्त्री–शिक्षा के 'कब, कहाँ और कैसा' को संशोधन का विषय मानते हैं। दोनों का लेखन परंपरा में मौजूद 'पाठ' से अपने तर्क देता है। प्रतापनारायण मिश्र 'बालविवाह' से संबंधित अपने एक लेख में कहते हैं – "आर्यावर्तीय जनों को सर्वथा अनिष्टकारक होने के कारण वेद–शास्त्र, पुराण तो क्या बालविवाह की विधि, आज्ञा वा प्रमाण आल्हा तक में नहीं है.. ।"[10]

19वीं सदी के हिंदी लोकवृत्त में स्त्री–शिक्षा और समाज सुधार के सवाल पर खूब बहसें हुई हैं। इन बहसों में एक बात समान है – 'जातीय उन्नति'। स्त्री के सवाल को भी जातीय उन्नति के सवाल के दायरे में ही देखा गया। जातीयता का गठन चूँकि 'धर्म' के आधार पर करने के प्रयास किए गए और 'धर्म' को पुस्तकों पर आधारित मान लिया गया इसलिए पुस्तकों में मौजूद 'स्त्री' ही आदर्श बनी। स्त्रियों के 'सुधार' का सवाल 'जातीय सुधार' के सवाल के रूप में देखा गया। लेकिन, पुस्तकें एक नहीं, अनेक थीं। उनकी व्याख्याएँ भी अनेक थीं। अगर 'पुस्तक' के हवाले से बालविवाह के पक्ष में तर्क दिए जा सकते थे तो उसके विरोध में भी, अगर विधवा विवाह को संगत ठहराया जा सकता था तो शास्त्र के हवाले से ही उसे असंगत भी बतायाँ जा सकता था।

महत्वपूर्ण यहाँ यह है कि हर बात में शास्त्र से हवाले क्यों दिये जा रहे थे और शास्त्र के हवाले से स्त्रियों के लिए जिन बातों का विधान किया जा रहा था, स्वयं हिंदी लोकवृत्त में भागीदार स्त्रियाँ क्या उसे स्वीकार कर रही थीं? यहाँ इन दो बातों की पड़ताल की जाएगी। विवेच्य संदर्भ में पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र के लेखन के हवाले से जातीय उन्नति और स्त्रीविषयक सुधार के सवाल को समझने का प्रयास किया जाएगा।

फिर स्त्री–शिक्षा और स्त्री के शील के संबंध की छानबीन करते हुए स्वयं हिंदी लोकवृत्त में मौजूद स्त्री–लेखन के सरोकारों की पड़ताल की जाएगी।

आर्यकुलगौरव – आर्यकुललना'

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सक्रिय भारतेन्दु–मंडल के लेखकों के बारे में सहमति के दो मुख्य बिन्दु हैं– 1. यह चतुर्दिक सुधार की प्रेरणा से सम्पन्न युग है, और 2. सुधार की यह प्रेरणा भारतेन्दु–मंडल के लेखकों ने अपनी 'जातीय परंपरा' से ग्रहण की थी, न कि अंग्रेजी शिक्षा और मान्यता से। इन दो बातों पर सहमति कायम करने के बाद यह बताना आसान हो जाता है कि बंगाल के भद्रवर्गीय नवजागरण से 'हिन्दी नवजागरण' कदरन अलग था। हिन्दी साहित्य के इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में ये बातें निर्विवाद मानकर दर्ज की गई हैं।

इस सहमति को बनाने में डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन का विशेष योगदान है – खासकर 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा' तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' नामक पुस्तकों का। आलेख के इस खंड में विवेचन का आधार 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' नाम पुस्तक है, जिसका पहला संस्करण 1953 में यानी जब देश ने अपनी आजादी के पाँच बरस पूरे ही किये थे, तब छपा था। पुस्तक की मुख्य समस्या भारतेन्दु को आजाद भारत की जनवादी राष्ट्रवादी तस्वीर में अनुकूल ढंग से 'फिट' करने की है। आजादी के उन आशा–भरे विहान के दिनों में यह पुस्तक घोषणा करती है कि– 'हिन्दुस्तान ने विलायत से जो पार्लमेंट आदि की संस्थाएँ ली हैं, वे हमारी जनता की आवश्यकताएँ पूरी करने में निकम्मी साबित हो रही हैं– अंग्रेजों से हमने जनतंत्र के कुछ रूप लिए हैं – उन रूपों का उपयोग कुछ वर्गों के थोड़े से लोग कर रहे हैं'।[11] भारतीय राष्ट्र–राज्य के महज पाँच–छः साल के अनुभवों के आधार पर यह घोषित करके पुस्तक में अपनी तरफ से 'सच्चे जनतंत्र' की परिभाषा बताते हुए कहा गया है – 'सच्चा जनतंत्र' वही जिसमें राज्यशक्ति जनता के हाथ में हो, जिसका संचालन जनता करे, जो जनता की आवश्यकताएँ पूरी करने का साधन हो'।[12] चूँकि अंग्रेज–प्रदत्त जनतंत्र के 'रूप' 'जनता की आवश्यकताओं को पूरी करने में निकम्मे' हैं, अतः पुस्तक की योजना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को एक ऐसे नायक के रूप में पेश करने की है जिसने देशभक्ति अंग्रेजों से नहीं सीखी; बल्कि जिसने 'सच्चे जनतंत्र' की परियोजना को साकार करने के लिए 'राष्ट्रीय संस्कृति' की नींव रखी हो। इस योजना की पुष्टि में पुस्तक कई तर्क प्रस्तुत करती है–

1. 'जाति–पांति का भेद उठाने के लिए, विधवा विवाह करने के लिए, स्त्रियों में शिक्षा–प्रचार करने के लिए हिन्दुस्तान की इस संस्कृति में काफी तत्त्व मौजूद हैं... जो लोग यह समझते हैं अंग्रेज न आते तो यहाँ स्त्री–शिक्षा का प्रसार ही न होता, वे यह

भूल जाते हैं कि अंग्रेजों के आने से पहले एक समय यहाँ जितनी स्त्री–शिक्षा थी, उतनी इंग्लैण्ड में भी न थी।'[13]

2. 'सामंती समाज में स्त्रियों को अधिकार–हीन करके उन्हें शिक्षा और संस्कृति से वंचित किया गया था। भारतेन्दु स्त्री–शिक्षा के ही पक्षपाती न थे, वह स्त्रियों को समान अधिकार देने के पक्ष में भी थे।' 'सत्य हरिश्चन्द्र' में उन्होंने नारी–नर सम होंहि का क्रांतिकारी नारा दिया था।'[14]

3. 'नीलदेवी' के समर्पण में उन्होंने अंग्रेज स्त्रियों की चर्चा की है और उनके अच्छे गुण सीखने की सलाह दी है। उन्होंने इस धारणा का खंडन किया है कि भारतीय समाज में नारी आज की तरह गुलाम रही है।'[15]

4. 'नाटक' नामक निबंध में उन्होंने लिखा था कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी रंगमंच पर अभिनय करती थीं। हर क्षेत्र में पुरूषों की तरह स्त्रियों के भाग लेने पर उन्हें आपत्ति न थी। स्त्रियों के पिछड़ेपन और निरक्षरता से आधा समाज ही पिछड़ा हुआ है और निरक्षर रहता है। इसलिए पूरे समाज के विकास के लिए भारतेन्दु स्त्रियों की शिक्षा और समानता का दावा करते थे।'[16]

5. भारतेन्दु ने बाल विवाह का विरोध किया, विधवाओं के प्रति परंपरा से चली आती हुई नैतिक धारणाओं का खंडन किया। इस तरह की कुरीतयों का असर सबसे ज्यादा स्त्रियों पर ही पड़ता था। उन्होंने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की प्रशंसा में एक मुकरी ही इसलिए लिखी थी कि वह विधवा विवाह के समर्थक थे....।[17]

इन तर्कों के आधार पर भारेन्दु हरिश्चन्द्र उस 'सच्चे जनतंत्र' के संस्थापक लगते हैं जिसका प्रस्ताव रामविलास जी ने किया है। लेकिन अफसोस कि स्वयं भारतेन्दु का स्त्रीविषयक चिंतन इस बात की पुष्टि नहीं करता। 'नारी नर सम होहिं' का नारा अपने आप में सचमुच क्रांतिकारी है परंतु जिस वैयक्तिकता के कोण से इसे क्रांतिकारी बताया गया है, वह वैयक्तिकता ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्त्री–विषयक चिंतन में डावांडोल स्थिति में है। थोड़े स्पष्ट रूप से कहें तो भारतेंदु हरिश्चन्द्र की चिंता स्त्री–मात्र की चिंता नही है – उनकी चिन्ता उस समुदाय की चिन्ता है जिसके गठन का प्रयास वे कर रहे थे और उनका स्त्रीविषयक चिंतन इस समुदाय–चिंता से निर्धारित होता है। इस पर विचार करने से पूर्व रामविलास जी के तर्कों और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लेखन के बीच की असहमतियों पर बिंदुवार विचार करना प्रासंगिक होगा।

1. विधवा विवाह के पक्ष में भारतेन्दु ने एकाध वाक्य लिखे हैं, कोई ग्रंथ लिखा हो ऐसा नजर नहीं आता। ईश्वरचंद विद्यासागर की प्रशंसा में लिखी हुई मुकरी का मुख्य स्वर व्यंग्य का है और इसका प्रमाण बाबू शिवनंदन सहाय द्वारा पूरे भक्ति–भाव से लिखित जीवनी 'हरिश्चन्द्र' भी देती है– "विधवा विवाह में इनकी क्या सम्मति थी हम निश्चय नहीं कह सकते क्योंकि एक स्थान में लिखा है 'विधवा विवाह निषेध किये

बिभिचार प्रचार्यो' और भ्रूणहत्या नामक ग्रंथ भी लिखा है और एक स्थान में विद्यासागर पर व्यंग्योक्ति में लिखा है कि 'सुंदर बानी कह समझावैं, विधवा गन से नेह बढ़ावैं। दयानिधान परमगुनआगर, सखि सज्जन नहिं विद्यासागर' और विषस्य विषयौषधम् में लिखा है– 'विधवा विवाह सब कराया चाहते हैं, इस ने सौभागवती विवाह निकाला वाह'।"[18] जहाँ तक व्यंग्योक्तियों का सवाल है तो पाँचवें (चूसा) पैगम्बर में जिसका स्पष्ट प्रतिपक्ष वह नई व्यवस्था है जो 'नई शिक्षा' के कारण भद्रवर्ग को नये तरीके से गढ़ रही है– चूसा पैगम्बर कहता है– "देखो शराब पियो, विधवा विवाह करो, बालपाठशाला करो, आगे से लेने आओ, बाल्यविवाह उठाओ, जाति–भेद मिटाओ, कुलीन का कुल सत्यानाश में मिलाओ, होटल में खाओ, 'लव' करना सीखो, स्पीच दो, क्रिकेट खेलो, शादी में कम खर्च करो, मेम्बर बनो, दरबारी करो, पूजापत्री करो, चुस्त–चालाक बनो, हम नहीं जानते को हम नहीं जानता कहो, चक्करदार टोपी पहनो वा सर खुला रक्खो पर पोशाक सब तंग रक्खो, नाच, बाल, थियेटर, अंटा–गुड़गुड़ बंग प्रिवी सिवी घरों में जाओ क्योंकि ये काम मुजिब होंगे खुदा के और मेरी खुशी के।"[19]

2. भारतेन्दु स्त्री–शिक्षा के हिमायती थे, लेकिन ऐसा वे समानता के उद्देश्य से कर रहे थे यह कहना मुश्किल है। बाबू शिवनंदन सहाय के अनुसार भारतेन्दु– "स्त्री शिक्षा के वर्तमान प्रणाली को पसंद नहीं करते थे क्योंकि इन्होंने कहा है– 'लड़कियों को भी पढ़ाइए किंतु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उन्हें शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल–धर्म सीखें, पति की भक्ति करैं और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।"[20]

3. यह बात सच है कि 'नीलदेवी' नाटक के समर्पण में इन्होंने अंग्रेज स्त्रियों के अच्छे गुण सीखने की सलाह दी है, परंतु कुछ बुरे गुण भी गिनाए हैं जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। 'नीलदेवी' नाटक की भूमिका में कहा गया है कि – "जब मुझे अंग्रेजी रमणी लोग... निज–निज पतिगण के साथ प्रसन्न बदन इधर से उधर फर–फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी–सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है। इससे यह किसी को शंका न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मीगणा भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किंतु और बातों में जिस भाँति अंगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी–लिखी होती हैं, घर का काम काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं – अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति–विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहाय देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ ग्रह–दास्य और कलह ही में नहीं खोतीं उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति करें यही लालसा है।"[21] यहाँ 'स्त्री'–मात्र की उन्नति का विचार नहीं किया जा रहा है, बल्कि यह भूमिका 'मातृभगिनी सखी तुल्या आर्य ललनागण' को संबोधित है। ये आर्यललनागण 'कुललक्ष्मी' है, 'गृह देवता' है और

इनसे लज्जा धारण करने की उम्मीद की गई है। ये 'आर्यकुल ललनागण' अपनी लज्जा से पहचानी जाती हैं और इस अर्थ में 'गौरांगी युवती समूह' से तो भिन्न हैं ही 'अंधेर नगरी' नाटक की उस मछली वाली से भी भिन्न है जो 'घर' से बाहर 'बाजार' में है और कहती है – 'मछरिया एक टकै कै बिकाय – लाख टका के वाला जोबन, गांहक सब ललचाय'। यह 'आर्यकुललना' सवर्ण हिन्दू के घर की 'कुललक्ष्मी' है। भोपाल की बेगम साहिबा ने अपनी कुछ कविताएँ भारतेन्दु जी के पास भेजीं थीं। इसके बारे में भारतेन्दु ने 'भारत मित्र' के संपादक के पास लिखा– 'क्या इसे देखकर साधारण आर्य्य धर्माभिमानी ललनागण लज्जित न होंगी कि एक मुसलमान और अत्यंत राजभार–व्यग्र स्त्री ने ऐसी सुंदर कविता की है। क्या वह भी दिन देखने में आवेगा कि हमारी गृहलक्ष्मी भी कुछ बनावेंगी?'[22]

4. रामविलास जी ने लिखा है कि भारतेन्दु ने वे विषय दिए जिन पर वह ग्रामगीत लिखना उचित समझते थे[23] और शिक्षा प्रचार के लिए यहाँ उन्होंने ग्राम गीतों का सहारा लिया है क्योंकि काव्य की तरह वह संगीत को भी मनुष्य के मनोरंजन का ही नहीं उसकी शिक्षा का साधन समझते थे। यहाँ रामविलास जी का ध्यान ग्राम गीतों की नैतिकता की तरफ नहीं गया है। अन्यथा 'आर्यकुललना' की लज्जा से भारतेन्दु का क्या आशय था यह स्पष्ट हो जाता। बाबू शिवनन्दन सहाय ने लिखा है– 'यह विवाह आदि में बुरे गीत गाना पसंद नहीं करते थे वरन् मई 1880 में जब इनकी कन्या का विवाह हुआ तो उस समय इन्होंने अपने घर गाली का गाना बंद कर दिया।'[24] 'कविवचनसुधा' में यह बात प्रकाशित हुई और भारतेन्दु के मित्र ठाकुर जाहर सिंह ने आगरे से इनको पत्र लिखकर धन्यवाद दिया कि 'आपने यह अच्छा प्रबंध किया कि विवाह में जो स्त्री बुरा–बुरा गीत गाती थीं तिस की रीति उठा दी।'[25] इस पत्र में भारतेन्दु से कहा गया है कि हमारी जाति की स्त्रियाँ अच्छा गीत नहीं जानतीं, अतः 'आपसे मेरी प्रार्थना है कि कोई पुस्तक ऐसी बने जिस में हर समय के गीत अच्छे–अच्छे और सरल भाषा में होंय जो स्त्रियाँ उन को पढ़कर बुरी चाल के गीत आदि को छोड़ दें।'[26] ध्यान रहे कि रामविलास जी द्वारा बतायी गई 'हिन्दी जाति' के एक महाकवि तुलसीदास – जो 'किसान चेतना के कवि' हैं – विवाह के बुरे गीतों से परेशान नहीं होते। वहाँ जनकपुर में जब विवाह सम्पन्न होता है तो स्त्रियाँ गाती हैं– 'जेवंत देहि मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरूष अरू नारी'। आखिर अपनी परंपरा से प्रेरणा लेने वाले भारतेन्दु, जो उसी 'हिन्दी जाति' के संस्थापक और 'राष्ट्रीय संस्कृति' की नींव रखने वाले हैं, यहाँ 'विवाह के बुरे गीत क्यों रोक रहे हैं? परंपरा से इस अलगाव की व्याख्या हम उस औपनिवेशिक संदर्भ के बगैर नहीं कर सकते जो 'हिन्दी जाति के संस्थापक' की प्रतिक्रियाओं को गढ़ रहा था। इसी व्याख्या से यह भी स्पष्ट होगा कि 'राष्ट्रवादी इतिहासलेखन की अपनी सीमाएँ हैं। राष्ट्रवादी इतिहासलेखन 'राष्ट्र' को अनैतिहासिक इकाई मानता है जो सनातनता से मौजूद है। उसका शेष काम इस सनातन राष्ट्र के वैशिष्ट्य का रेखांकन करते हुए इसके आज तक के विकास को बताना होता है और

वह भी इस शुद्धता के साथ कि राष्ट्र का वैशिष्ट्य हमेशा बचा रहे। वह अपने सामने यह प्रश्न नहीं रखता कि 'देश और जाति की शुद्धता तो बात की बात है' और कालक्रम में संग्रह–त्याग चलता रहता है। इस बात की विस्तार से चर्चा आगे की जाएगी। अभी हम यह देखें कि भारतेन्दु के लेखन की 'आर्यकुललनना' किस तरह की है, उसकी तस्वीर किस तरह से गढ़ी गई है।

भारतेन्दु के अधूरे नाटकों में एक है 'सती प्रताप'। इसके कुछ दृश्य सन् 1884 में हरिश्चन्द्र चंद्रिका के कुछ अंकों में प्रकाशित हुए थे। बाबू शिवनंदन सहाय के अनुसार इसमें भारतेन्दु ने सावित्री चरित्र वर्णन करना आरंभ किया था और यदि यह पूरा हो जाता तो 'ललनागण के पढ़ने के लिए यह एक उपदेशमय उत्तम नाटक होता।' इस का केवल चार ही दृश्य (वे) लिख पाये थे।'[27] इस नाटक में अप्सरा नं.2 गाती है–

'जग में पतिव्रत सम नहिं आन; नारि हेतु कोऊ धर्म न दूजौ जग में यासु समान।
अनुसूया सीता सावित्री इन के चरित्र प्रमान।
धन्य देस कुल जहं निबसत है नारी सती सुजान।

नाटक के तीसरे दृश्य में जोगिन बनी हुई सावित्री ध्यान करती है और ध्यान के बाद आंखें खोलते हुए कहती है– 'स्त्री धर्म बड़ा कठिन है जिसको एक बेर मन से पति कहकर वरण कर लिया उसको छोड़कर स्त्री शरीर की अब इस जगत में कौन गति है.. जब तक अपना स्वतंत्र सुख है तब तक प्रेम नहीं। पत्नी का एकमात्र सुख पति की सेवा। जिस बात में प्रियतम को रूचि, उसी में सहधर्मिणी की रूचि। अहा! वह भी धन्य दिन आवेगा जब हम भी प्राणाराध्य देवता प्रियतम पति की चरणसेवा में नियुक्त होंगी। वृद्ध श्वसुर और सास के हेतु पाक आदि निर्माण करके उनका परितोष करेंगी। कुसुम, दुर्वा, तुलसी, समिधा इत्यादि बीनने को पति के साथ वन में घूमेंगीं। परिश्रम से थकित प्राणनायक के स्वेद–सीकर अपने अंचल से पोंछकर मंद–मंद वनपत्र के व्यंजनवायु से उनका श्रीअंग शीतल और चरण संवाहनादि से श्रमगत करेंगी।'[28]

लेकिन इससे यह न समझ लिया जाए कि इस सावित्री में स्वयं तर्क करने की क्षमता नहीं है। तपस्वी सत्यवान को देखकर अनुरक्त सावित्री अपनी लवंगी नामक सखी की इस अफसोस भरी उक्ति का प्रतिवाद करती है कि 'आज जो यह तापसकुमार के बदले राजकुमार होते तो घर बैठे गंगा बही थी।' सावित्री का कहना है – 'विधाता ने जिस भाव से राजपुत्र को सिरजा है उसी भाव से मुनिपुत्र को फिर राजधन से तपोधन कुछ कम नहीं होता'। लेकिन यह सावित्री 'माता–पिता' की आज्ञा बगैर सत्यवान का आतिथ्य स्वीकार नहीं करती और उसकी सखी 'मधुकरी' सत्यवान से कहती है – 'आप तो जानते ही हैं कि आर्यकुल ललनागण किसी अवस्था में भी स्वतंत्र नहीं है।' यह पंक्ति मानो चौथे अंक की स्वगत चिंतन करती 'सावित्री' पर एक टिप्पणी है और उसके चिंतन का आधार भी।

इतने विवेचन के बात हमारे सामने जिस 'आर्यकुललनना' की तस्वीर बनती है वह 'नारी–नर सम होहिं' का स्वयं में खंडन है। भारतेन्दु के चिंतन की यह दुविधा यह सोचने पर बाध्य करती है कि क्या वे 'नवजागरण' की ज्योति जलाने के बदले प्रतिनवजागरण की धुंध फैला रहे थे? क्या प्रगतिशील मुहावरे में 'पुरातन' की वकालत कर रहे थे? इसका कोई उत्तर देने से पहले हमें उस औपनिवेशिक संदर्भ पर विचार करना होगा जिसके दबाव में 'सुधार' और 'उन्नति' के प्रस्ताव रखे जा रहे थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने शिक्षा से संबंधित 'हंटर आयोग' को कुछ जवाब लिखकर भेजे थे। उसमें भारतेन्दु ने अंग्रेजी ढंग की शिक्षा की वकालत करते हुए एक मार्मिक बात कही कि हमारी भाषा में 'पब्लिक' जैसा कोई शब्द नहीं है। हमारे पास नेशनलिज्म या पैट्रियॉटिज़्म के प्रतिरूप अथवा पर्यायवाची नहीं है। (We have no equivalents for nationality or patriotism) [29] यहाँ भारतेन्दु का दुख यह है कि नेशनलिज़्म का पर्यायवाची शब्द न होना सभ्यता के सोपानक्रम पर कुछ नीचा होना है। भारतेन्दु के इस दुख का कारण है– सामने उपस्थित 'अंग्रेज विजेता जाति'।

भारत जैसे विशाल भूभाग पर आधिपत्य और अपने शासन की वैधता को साबित करने के लिए एक शक्तिशाली विचारधारात्मक आधार खड़ा करना जरूरी था। शासन के आरंभिक दिनों में अंग्रेजों का विचार था कि भारत कभी एक महान सभ्यता को जन्म देनेवाला देश रहा है, लेकिन शासन की निरंकुश प्रणाली के कारण इस महान सभ्यता को बुरे दिन देखने पड़े हैं। भारत में मौजूद शासन–व्यवस्था ने प्रजाजनों को मूलभूत अधिकार, खासकर भू–संपदा का अधिकार नहीं दिया और निजी संपत्ति के अभाव में भारतीयों की ऊर्जा और सर्जनात्मकता के स्रोत सूख गये। अंग्रेजों का मानना था कि भारत की मुक्ति तभी हो सकती है जब यहाँ के प्रजाजनों को जीवन और स्वतंत्रता की सुरक्षा के साथ–साथ संपत्ति का अधिकार प्रदान किया जाय, यानी एक नागर समाज (सिविल सोसाइटी) बनाया जाए। निष्पक्ष न्याय का दंड संभालने वाले एक कुशल तथा विधि पर आधारित शासन के अधीन इस देश को एक करने का लक्ष्य था। इस वक्त तक अंग्रेजों का यही कहना था कि हम लोग यहाँ 'स्वतंत्रता' को आधार बनाकर चलने वाली शासन–व्यवस्था कायम करना चाहते हैं।[30] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का लेखन हमें इसकी सूचना देता है। 'कविवचनसुधा' में 8 फरवरी 1874 को छपी टिप्पणी में भारतेन्दु ने लिखा है – 'कुछ काल पहले अंग्रेज लोग जब हिन्दुस्तान के विषय में व्याख्यान देते थे तब यही प्रकट करते थे कि हम केवल इस देश के लाभ अर्थ राज्य करते हैं। यही चिल्ला–चिल्ला कर सर्वदा कहा करते थे कि हम सदैव हिन्दुस्तान की बुद्धि के निमित्त विचार करते हैं कि हम लोग इस देश की श्रीवृद्धि करेंगे और यहाँ के निवासियों को विद्यामृत पिलावेंगे और राज्य का प्रबंध किस भांति करना यह ज्ञान जब प्रजा को स्वतः हो जाएगा तब हम लोग हिन्दुस्तान का सब राज्य–प्रबंध यहाँ के निवासियों को स्वाधीन कर देंगे।...[31]

सन् 1820 के बाद ब्रिटेन में उदारवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ा और अंग्रेजों ने अपने शासन की श्रेष्ठता सभ्यतागत पदों में सिद्ध करने की कोशिश की। उन्होंने अपनी सभ्यता को तर्कबुद्धि सम्मत और वैज्ञानिक बताना शुरू किया। भारत को इस क्रम में 'अर्ध बर्बर' देश बताया गया जो विकास–क्रम में अफ्रीकी बनैलों और सभ्य–योरोपियंस के बीच कहीं अटका हुआ था। पहले कहा जाता था कि भारत की अवनति राजनीतिक कारणों से हुई, जबकि अब कहा जाने लगा कि भारत की अवनति के कारण सांस्कृतिक हैं और यहाँ जीवन के प्रति वैज्ञानिक और बुद्धिसम्मत दृष्टि का अभाव है। जरूरत सिर्फ नए प्रकार के शासन की ही नहीं, बल्कि बुद्धिसम्मत जीवनदृष्टि के प्रसार की भी है ताकि यहाँ के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा नैतिक जीवन के अंधविश्वासों को दूर किया जा सके।[32]

भीखू पारेख ने इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा है– 'वे (अंग्रेज) लोग अपनी प्रजा को नए विचार और जीवन की नई राह सुझाने के उद्यम में लगे थे। वे प्रजाजनों के अंदर नई आदतें, गुण और बुद्धि तथा चरित्र विकसित करना चहते थे... वे सिर्फ शिक्षक नहीं थे, प्रधानाध्यापक थे, सिर्फ कानून बताने और बनाने वाले नहीं बल्कि प्रबोधक थे। भारत एक विशाल सरकारी विद्यालय में तब्दील हो गया था और भारतीय उनकी नजर में शिष्य थे।'[33]

पहले और बाद की स्थिति एकदम भिन्न थी। पहले अंग्रेजों ने अपने शासन की संकल्पना इस रूप में की कि भारत में एक 'नागर–समाज' बनाना है: वे विधि पर आधारित एक निर्वैयक्तिक शासन तथा निष्पक्ष न्याय का दंड संभालने वाले प्रशासन को अपनी उपलब्धि समझ रहे थे। पहले कानून राजनीतिक एकीकरण का प्रमुख औजार था परंतु बदली हुई अवस्था में सारा जोर शिक्षा संस्थानों पर आ गया और 'अंग्रेजी–शिक्षा' अंग्रेजी सभ्यता की श्रेष्ठता का वाचक बन गई।

सभ्यतागत श्रेष्ठता के दावों से भरपूर अंग्रेज जाति ने भारतीयों से बड़ी आक्रामक मुद्रा में संवाद किया। उनकी चुनौती थी कि कुछ ऐसा हो तो दिखाओ जिससे लगे कि यह बात तुमसे अंग्रेजों को सीखनी है। 'भारतीयों के लिए यही कहना पर्याप्त नहीं था कि हमारी सभ्यता का मुख्य सरोकार तथा सांगठनिक–सिद्धांत अंग्रेजों से अलग है बल्कि उन्हें अपने सभ्यतागत अंतर का अनुवाद ब्रिटेन की साभ्यतिक पदावली में करना था और इसका मूल्य ब्रिटिश–पदों में बताना था। औपनिवेशिक शासन का तर्क स्वेच्छाचारी था और वहाँ 'अंतर' का होना मूल्यहीनता का ही नहीं बल्कि कमजोरी का सूचक था।'[34] भारतेन्दु के चिंतन में यह चुनौती साफ झलकती है। 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' शीर्षक निबंध में एक जगह वे कहते हैं– 'सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबके पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो, अंग्रेजों की धर्मनीति और राजनीति परस्पर मिली है, इससे उनकी दिन–दिन कैसी उन्नति है।... तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति, समाज–गठन, वैद्यक आदि भरे हैं... तुम्हारा

बलिया का मेला और यहाँ स्नान क्यों बनाया गया है? जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते, दस–दस पाँच–पाँच कोस से वे लोग साल में एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें... एकादशी का व्रत क्यों रखा है? जिससे महीने में दो–एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाए। गंगा जी नहाने जाते हो तो पहिले पानी सिर पर चढ़ाकर तब पैर डालने का विधान क्यों है? जिसमें तलुए से गरमी सिर में चढ़कर विकार न उत्पन्न करे। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने साल भर में एक बेर तो सफाई हो जाय। यही तिहवार तुम्हारी म्युनिसपालिटी है।'[35] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि इस काल के लेखक नये और पुराने का जोड़ कुछ इस तरह से मिलाना चाहते थे कि नया पुराने का प्रवर्धित रूप प्रतीत हो न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु। हाल के दिनों में एक इतिहासकार रजत कांत रे ने की टिप्पणी है – (उन लोगों ने) इस भाँति (विदेशी) तत्वों को अपनाया, पचाया और हस्तगत किया कि नई संस्कृति एक वाहियात नकल न लगकर मौलिक रूप से स्वदेशी लगे।'[36]

यह वही वक्त था जिसके प्रत्युत्तर में कुछ दिनों बाद स्वामी विवेकानंद ने कहा था– 'समानता के बिना मित्रता नहीं हो सकती और जब एक पक्ष हमेशा शिक्षक हो और दूसरा उसका पदानुगत तो समानता नहीं हो सकती... यदि तुम अंग्रेजों अथवा अमेरीकियों के बराबर होना चाहते हो तो तुम्हें उनसे सीखने के साथ–साथ सिखाना भी होगा और तुम्हारे पास सदियों तक विश्व को सिखाने के लिए प्रभूत भंडार है।'[37]

भीखू पारेख की टिप्पणी है कि भारतीयों को लगातार चुनौती दी जा रही थी कि वे बतायें कि उनकी सभ्यता में महनीय क्या है अथवा उनकी सभ्यता में ऐसा क्या है जो शासकों को उनसे सीखना चाहिए। इस चुनौती ने इन चिंतकों पर दबाव डाला कि वे एक 'नस्ल' के रूप में अपनी ऐतिहासिक उपलब्धि को सामने रखें। उन्हें दिखाना था कि हम अपने से समानता का बरताव करने की बात यों ही नहीं कह रहे, बल्कि ऐसा कहने का औचित्य है। वे अपने इतिहास, भाषा अथवा साहित्य के शिक्षण के लिए भी तब तक दबाव नहीं डाल सकते थे जब तक यह न सिद्ध कर दें कि ये चीजें श्रेष्ठ हैं और अंग्रेज जाति की भाषा, साहित्य या इतिहास के बराबरी की हैं।'[38]

ऐसे में इन चिंतकों के लिए पौर्वात्यवादी इतिहास बड़े काम का साबित हुआ। यह इतिहास इन्हें एक 'नस्ल' की संज्ञा तो देता ही था– एक 'महान सभ्यता' के रूप में 'स्वर्णिम अतीत' भी सौंपता था। नवजागरण के सभी चिंतकों के पास एक स्वर्णिम अतीत है और एक 'नस्ल' होने का बोध भी। पतन के कारणों पर इनमें सहमति नहीं है, परंतु 'स्वर्णिम अतीत' और एक विशिष्ट जाति होने का बोध सबके पास है। ऐसे में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न होती है। इस पर टिप्पणी की गई है कि इन चिंतकों के प्रयास अत्यंत अंतर्विरोध भरे जान पड़ते हैं। जिस आदर्श व्यवस्था की ये चिंतक नकल कर रहे थे उसके प्रति वैर–भाव से भी भरे हुए थे। इन चिंतकों ने विदेशी संस्कृति द्वारा तय किए हुए मूल्यों को स्वीकार किया, इस अर्थ में इनके प्रयास को अनुकरण कहा जा

सकता है। लेकिन इसमें अस्वीकार भी शामिल था – यह अस्वीकार दोहरा था और दुविधा से भरपूर था। एक स्तर पर यह उस विदेशी शासक–जाति को अस्वीकार करना था जिसकी नकल करनी है और खुद उसके द्वारा तय मानकों के आधार पर ही उसे पीछे छोड़ना है और साथ ही यह अपने उन पुराने तौर–तरीकों को भी अस्वीकार करना था जो यों तो प्रगति में बाधक लग रहे थे, परंतु उसे ही अपनी 'पहचान' बताकर उसके वैशिष्ट्य की रक्षा करनी था।'[39]

इस प्रयास में 'स्त्री' की स्थिति केंद्रीय थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का मध्यवर्ग 'घर' और 'बाहर' के तनाव को साध रहा था। उपनिवेशवाद से लड़ने की इसकी प्रविधि अंतर्विरोधग्रस्त थी। पार्थ चटर्जी के अनुसार इन विचारकों ने संस्कृति का धरातल दो वृत्तों में बाँटा। संस्कृति का एक वृत्त भौतिक था तो दूसरा आध्यात्मिक। पाश्चात्य सभ्यता की श्रेष्ठता के दावे संस्कृति के भौतिक वृत्त में सबसे शक्तिशाली ढंग से व्यक्त हो रहे थे। पाश्चात्य सभ्यता ने आधुनिक विज्ञान–प्रौद्योगिकी, आर्थिक संगठनों के तर्कबुद्धिपरक संघटन तथा राज्य व्यवस्था की विधि आधारित पद्धति को अपनाया था। इससे गैर–योरोपीय लोगों पर आधिपत्य जमाने में उन्हें मदद मिली। इस आधिपत्य से उबरने के लिए ठीक इन्हीं पद्धतियों में कुशलता प्राप्त करनी होगी और भौतिक जीवन की इन श्रेष्ठतर तकनीकों की संगति अपनी संस्कृति से बैठानी होगी–ऐसी मान्यता इन बुद्धिजीवियों में घर कर गई। पार्थ चटर्जी के अनुसार 'इसका मतलब यह नहीं था कि जीवन के हर क्षेत्र में पश्चिम की नकल की जा रही थी। क्योंकि तब 'पूर्व' और 'पश्चिम' का आधारभूत अंतर ही समाप्त हो जाता और 'राष्ट्र' तथा जाति होने के लिए जरूरी 'स्वत्व' को संकट आ घेरता। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के भारतीय राष्ट्रवादियों का तर्क ही था कि जीवन के भौतिक पक्ष को छोड़कर अन्य किसी भी पक्ष में पश्चिम की नकल करना वांछनीय नहीं है और ऐसा करना इसलिए भी अनिवार्य नहीं है कि अध्यात्म के जगत में पूर्व, पश्चिम से कहीं श्रेष्ठतर है।'[40]

भौतिक जगत को ये उन्नायक निर्णायक नहीं मानते थे। इनका मानना था कि संस्कृति के भौतिक उपादान मात्र बाहरी तौर पर बाँधते हैं। अपनी आत्मछवि को ये उन्नायक अध्यात्म के अंतर्जगत में बैठा देखते थे। इसे ही वे अपना 'आत्मसत्य' मानते थे। इस तरह 'घर' उनके लिए 'कुल–लक्ष्मी' और 'आर्यकुललना' का वास होने के कारण 'स्वत्व' की शरणस्थली बना। कदाचित् इसी कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उस 'ललाईन' पर व्यंग्योक्ति की है जो कहती है–

"लिखाय नाहीं देत्यो पढ़ाय नहीं देत्यो। सैयाँ फिरंगिन बनाय नाहीं देत्यो।।
लहंगा दुपट्टा नीक न लागे। मेमन का गौन मंगाय नहीं देत्यो।।"

इस पर "ललाइन साहब की आजादी देखते ही साहो जी साहब घबड़ा कर" कहते हैं–

"का भवा आवा है ए राम जमाना कैसा। कैसी मेहरारू है ई हाय जनाना कैसा।
लोग क्रिस्तान भये जाथैं बनथैं साहेब। कैसा अब पुन्न धरम गंगा नहाना कैसा।"[41]

एक महत्वपूर्ण बात और हुई थी। सती प्रथा, विधवा विवाह तथा शादी की उम्र के बारे में हुई बहसों ने 'धर्म और स्त्री' की सामाजिक भूमिका को 'आर्य जाति' के स्वत्व का सवाल बना दिया था। इस संदर्भ में लतामणि की पुस्तक 'कंटेन्शियस ट्रेडिशन' देखी जा सकती है। लतामणि का कहना है कि सामाजिक मुद्दों पर हुई बहसों में या तो स्त्री को 'पीड़िता' के रूप में देखा गया अथवा 'वीरांगना' के रूप में और इस तरह से उनके व्यक्तित्व का सरलीकरण हुआ– 'इस प्रकार परंपरा वह आधारभूमि न थी जिस पर स्त्री की हैसियत को तय करने की बहसें चलीं, बल्कि सच्चाई इस के उलट है – स्त्री एक समरस्थली बनी जिस पर परंपरा को शोधने की बहस हुई और उसे पुनः गढ़ा गया।'[43]

सभ्य बनाने के अभियान पर आयी 'जाति' ने एक पाठाधारित हिन्दुत्व की खोज की और इसके आधार पर हिन्दुस्तानी धर्म, संस्कृति तथा समाज की स्त्रीविषयक रीति–नीति की जमकर आलोचना की। अंग्रेजों ने भारतीय उपनिवेश पर अपने कब्जे को अपनी नैतिक श्रेष्ठता का प्रमाण माना। इस बात पर ब्रिटेन में बहसें हुईं कि भारतीय प्रजा पर बेहतर शासन का मानक क्या हो और स्त्री–पुरूषों के आदर्श संबंध को आधार माना गया।[44] जेम्स मिल ने 1826 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश इंडिया' में तर्क रखा कि किसी समाज के विकास को जानने के लिए उस समाज में स्त्री की स्थिति को संकेतक माना जा सकता है। उनका फार्मूला एकदम स्पष्ट था– 'पिछड़े लोगों के बीच स्त्रियों की दशा सामान्यतः हीन होती है; सभ्य लोगों के बीच उनकी स्थिति प्रतिष्ठाजनक होती है'।[45] मिल का कहना था कि जैसे–जैसे कोई समाज विकास करता है वैसे–वैसे स्त्रियों की दशा उन्नत होती जाती है और ऐसा तब तक होता है जब तक स्त्रियाँ पुरूषों के बराबर नहीं हो जातीं। फिर वे स्वेच्छा से पुरुषों के समान अभिकर्ता की हैसियत प्राप्त कर लेती हैं। मिल ने हाल्हेड की पुस्तक 'कोड ऑव जेंटो लॉज (मनुस्मृति का अनुवाद), कुछ धार्मिक पुस्तकों तथा यात्रियों और मिशनरियों के विवरण पढ़कर निष्कर्ष यह निकाला कि –

"हिन्दू अपनी स्त्रियों के प्रति स्वभावतया अवमानना से भरे होते हैं, और इसी कारण उनकी (हिन्दू स्त्रियों की) स्थिति अत्यंत दयनीय है।"[46] मिशनरी भी इस बात से सहमत थे। रेवरेंड ई. स्ट्रो सन् 1848 में भारत आये थे। उन्होंने भारत के बिखराव का कारण महिलाओं की हीन दशा को बताया। उन्होंने रोम और पश्चिमी योरोप के देशों के उदाहरण दिए और कहा कि उनकी मजबूती का कारण है महिलाओं को ऊँची हैसियत का दिया जाना। उन्होंने सैन्य ताकत का सम्बन्ध स्त्रियों की स्थिति से जोड़ा और निष्कर्ष निकाला कि स्त्रियों की हीन दशा के कारण भारत का गुलाम होना स्वाभाविक ही था।[47]

अंग्रेजी शासन को वैध ठहराने की इसी कड़ी में सर हर्बट होप रिजले ने भारतीय बुद्धिजीवियों पर टिप्पणी की कि वे बौद्धिक और राजनीतिक सोच–विचार में तो

रूचि लेते हैं, किंतु समाज–सुधार की उन्हें कोई चिंता नहीं होती। रिजले को इस बात की जरा भी आशा नहीं थी कि समाज–सुधार के बगैर भारत की उन्नति हो सकती है। उनका निष्कर्ष था– 'इतिहास इस बात का कोई प्रमाण नहीं देता कि राष्ट्रीयता का उत्साह किसी गंदे और पतित वातावरण में जाग सकता है। जो समाज अपनी स्त्रियों की बौद्धिक जड़ता और नैतिक हीनता को एक स्वाभाविक–सी बात मानकर स्वीकार कर लेता है वह इस बात की उम्मीद नहीं कर सकता कि साहस, समर्पण और आत्म–त्याग जैसे श्रेष्ठ गुण, जिससे कोई राष्ट्र बनता है – उसके भीतर विकसित होंगे।"[48]

अध्याय की शुरूआत में कहा गया था कि भारतेन्दु को भारत में नेशनलिटी जैसे शब्द के पर्याय के न होने का दुख था। यहाँ हम पाते हैं कि नेशनलिटी के विकास को किस प्रकार स्त्रियों की दशा से जोड़कर देखा जा रहा था। भारतेन्दु 'आर्यकुललनना' से आर्य धर्म पर रहकर 'स्वदेश चिंता' में पुरुषों का साथ देने की मांग करते हैं। यह सही है कि 'सावित्री' का आदर्श 'राष्ट्र' की अपनी योजना में 'स्त्री' को फिट करने के लिए गढ़ा गया है और कहीं न कहीं इस छवि पर उस ईसाई नैतिकता का प्रभाव है जो कृष्ण को 'चोर' तथा 'व्यभिचारी' बताती थी और जिसके प्रभाव में विलियम जोन्स ने 'अभिज्ञानशाकुंतलम' नाटक के अनुवाद के क्रम में 'जघनागौरवर्त' शकुंतला को अपनी तरफ से दुरूस्त करते हुए 'Elegant limb' वाली बना दिया। भारतेन्दु की 'आर्यकुललनना' पर विजेता जाति की नैतिक समझ की छेनी–हथौड़ी से उकेरे गए नक्श खोजने की जरूरत है।

सती और शील

सन् 1857 ई. के बाद स्थापित 'राज' में मध्यवर्ग अपनी उन्नति की फिक्र कर रहा था लेकिन उसे यह चिंता भी सताती थी कि कहीं इस क्रम में वह अपना 'स्वत्व' न खो दे। 'स्वत्व' को वह धर्म के जगत में खोज रहा था और 'धर्म' ही के माध्यम से वह अपनी 'गृहस्थी' बचाये रखना चाहता था। यह 'गृहस्थी' या कहें कि उसका 'निजी संसार' ही 'बाहर' के सार्वजनिक संसार और इस संसार में 'सभ्यता' के आगे परिलक्षित होती हीनता से एक हद तक उबरने का बोध और सांत्वना दे सकता था। मध्यवर्ग ने अपनी इस जरूरत को स्त्री के ऊपर आरोपित किया।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य में जिस स्त्री की बातें हो रही थीं वह प्रतापनारायण मिश्र के शब्दों में 'बाबू साहब' की 'बबुआईन' थी। उस पर दबाव था कि वह 'गँवार' न रहे 'कुलीन' बनकर मर्यादा का पालन करे; पढ़े–लिखे और गृहस्थी की जरूरतों को सलीके से संभाले। पुनः इस पढ़ी–लिखी स्त्री के ऊपर 'सती' बने रहने का भी दबाव था। मध्यवर्ग अपने को पुरानी सामाजिक संरचना में मौजूद 'हैसियत' और इस 'हैसियत' के दायरे में परिभाषित पुरोहित–जजमान, राजा–प्रजा, आचार्य–शिष्य के ढाँचे से अपने को अलग करने लगा था। उसके पास विद्या की पूँजी भर थी और नये संसार

में यह जीविका–निर्वाह का एकमात्र साधन साबित हो रही थी। जीने के लिए उसे कोर्ट–कचहरी में वकील, मुख्तार से लेकर ताईद तक के काम का आसरा था; स्कूलों में शिक्षक और स्कूल इंस्पेक्टर बनने का आसरा था; रेलवे और डाक–तार विभाग से लेकर राजस्व वसूली तथा कानून–व्यवस्था बहाल करने वाली संस्थाओं में क्लर्की की उम्मीद थी। 'दत्तापुर' और 'बैजेगांव' का साथ छूट चुका था, अब 'मीरजापुर' और 'कानपुर' का भरोसा था। 'मीरजापुर' और 'कानपुर' में अंग्रेज साहब थे तो भारतीय मध्यवर्ग उनका मातहत। यहाँ ईसाई पादरी और उनकी 'सुधर्मी' शिक्षा थी। दोनों इस 'बाबू' में खोट खोजते और बताते थे। 'बाबू' को इन दोनों से अपने 'स्वत्व' को बचाना था और उसे यह भी बताना था कि हमारे पास भी बहुत कुछ 'श्रेष्ठ' है। पुनः मध्यवर्ग को 'दत्तापुर' और 'बैजेगांव' के गँवारों से अपने को अलग करना था, उसे राजे–रजवाड़ों से भी अपने को अलग परिभाषित करना था। इन राजे–रजवाड़ों और उनकी निरंकुशता की आलोचना, 'गँवारों' और गाँव की 'परिवर्तनविमुखता' की आलोचना गोरी हुकूमत 'सभ्यता' के तर्क से कर चुकी थी।

ऐसे में मध्यवर्ग की स्त्री 'बबुआईन' को न तो 'गँवार' रहना था और न ही अंग्रेज मेमों की तरह 'लज्जा को तिलांजलि देना' था। उसे पादरी साहब के 'सदुपदेश' से भी बचना था और राजाओं–रईसों के राग–रंग की भागीदार 'वेश्या' के विरुद्ध 'सतीत्व' संभाले रखना था। उसे 'सीता' बनकर 'रसोई' में रहना था और बाबू साहब को राम बनकर 'जेवनार' करना था। बालकृष्ण भट्ट ने मध्यवर्गीय चिंता के दबाव में बनायी जा रही इस स्त्री के बारे में लिखा है – "कट्टर परिवर्तनविमुख हम लोगों का सरोकार इस समय उससे आ पड़ा जो क्षण–क्षण में नये होते हैं। हमारी ललनाओं को शोचनीय दशा में लाने के लिए यह परिवर्तनविमुखता अलबत्ता गहि के पकड़े हुए हैं। बाबू साहब छँदान तोड़ विलायत की राह सुधारने के लिए कदम उठाए हुए हैं बबुआईन घर बैठी गोबर ही पाथती रही। बाबू साहब, लाला साहब मिस्टर सो एंड सो कहे जाने की उमंग में फूले नहीं समाते ललाईन कौआहकनी हो रही आई। बाबू साहब आर्य समाजी और ब्रह्मसमाजी हैं, थियोसोफी में अपना अव्वल दर्जा कायम करते हैं घर में बहूजी भूतपूजनी समाज की प्रेसीडेंट हैं। बाहर पंडितजी साहब विधवा विवाह, बाल्य विवाह, समाजसंशोधन पर जोश खरोश में भरे लेक्चर झाड़ा करते हैं घर में पंडितजी साहब के पांच वर्ष की कन्या है : पंडिताईन को पानी नहीं पचता... ।"[49]

ऐसे में पंडितजी साहब कलम उठाते हैं ताकि 'पंडिताईन' को पांच वर्ष की कन्या के ब्याह की फिक्र न सताये और 'बहूजी' 'भूतपूजनी समाज' की 'प्रेसीडेंट' बनकर न रहें; वे 'सहधर्मिणी' बनें अर्थात् हर तरह से बाबू साहब के सामाजिक जीवन की 'घरेलू' पूरक। इस स्त्री की रचना 'शील' के 'सदुपदेश' से करने की कोशिश की जाती है और मध्यवर्ग अपनी नयी स्थिति के अनुरूप बबुआईन की यौन–शुचिता का प्रत्यय तैयार करते समय प्रतिपक्ष के रूप में 'वेश्या' को रखता है तो गृहस्थी के सुख के मानक तय करते समय 'अपढ़' और 'गँवार' स्त्री को।

डॉ. चंद्रिका प्रसाद शर्मा द्वारा संपादित 'रचनावली' में प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक रूपक' संकलित नहीं है, किंतु इसकी संक्षिप्त चर्चा डॉ. धीरेन्द्रनाथ सिंह ने खड्गविलास प्रेस से संबंधत अध्ययन में की है।[50] इस रूपक में 'वेश्या' के इर्द–गिर्द जुटने वाली मंडली जिसमें पुजारी, आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति तथा गुंडे शामिल हैं, के सर्वनाश को दिखाया गया है। 'कलिकौतुक' का तात्पर्य मिश्र जी द्वारा रचित 'कलिकोष' को देखने से पता चलता है। यह नई व्यवस्था में विद्यमान समस्त सत्तामूलक कोटियों को प्रहसन की ओट में निंदात्मक अर्थ प्रदान करने वाला छोटा–सा शब्दकोश है। इसमें 'ब्राह्मण' का अर्थ है – विद्याविहीन पशु तो पंडित का पापी, डाकू और तस्कर। छत्री (क्षत्रिय) के लिए कहा गया है – 'जो बिना छतरी लगाए पयश्राव करने को भी न जाए अर्थात् नजाकत का पुतला। इसी तरह राजा, ठाकुर, वैश्य, बनियाँ, महाजन आदि के बारे में टिप्पणी की गई है। श्राद्ध के बारे में कहा गया है – 'रंडिका भवन के पुरुषों को पिंड दान करना। 'गोसाईं' इस कोश में 'गो अथवा गऊ अथवा इंद्रिय तिनका साईं (स्वामी) है तो कचहरी 'जहाँ गये मुँड़ाये सिद्धि।' गृहस्थ को 'आलसी जो गिरते–गिरते अस्त हो जाए पर हाथ हिलाने को धर्म, प्रतिष्ठा कुलरीति आदि के 100 बहाने करे' और 'घर ही में स्थित देहली न लाँघे' कहा गया है।[51]

इस 'कोश' में कचहरी, दर्बार, अदालत, हाकिम, वकील, मुखतार, मुअक्किल, मुद्दई, मुद्दालह, इजलास, चपरासी, अरदली आदि नयी व्यवस्था के सभी पद या संस्थान मौजूद हैं। पुरानी व्यवस्था के भी सभी संस्थान या पद आ गये हैं। आश्चर्यजनक तौर पर इसमें 'संपादक' का पद नहीं आया है। संपादक इस 'कलिकाल' का द्रष्टा है और वह सबकी खबर ले रहा है। उसे सबके 'खोट' दिखाई दे रहे हैं। आश्चर्य नहीं कि लेखक 'कलिकौतुक रूपक' में इसी दृष्टि से वेश्या और उसकी 'मंडली' में शामिल लोगों में खोट देखता है। इस रूपक में संपादक धर्मनाथ धर्म और प्रेम की शिक्षा देकर भारतीयों को सन्मार्ग पर लाने के लिए भरतवाक्य में कहता है :

तजि दुखप्रद दुरव्यसन पुरुष, बनिता और बालक।
मन क्रम बच सों होहिं बेद–आज्ञा–प्रतिपादक।।
निज गौरव पहिचानी सजग रहि कपटी जन सों।
करहि सबै सब काल देशहित तन मन धन सों।।

'कलिकौतुक' रूपक मध्यवर्गीय जीवन में उपस्थित सभी पात्रों को 'वेश्यागामी' होने से ही हीन और भ्रष्टचरित्र बताता है। रूपक के पहले दृश्य का प्रारंभ नायक किशोरीदास के घर पर उसकी पत्नी श्यामा तथा चंपा के कथोपकथन से होता है। संवादों से 'स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पुंश्चली हैं। चंपा निःसंतान होने के कारण अनेक व्यक्तियों से संबंध रखती है। उसका पति रोजगार, व्यवहार और कचहरी–दरबार के सिलसिले में अक्सर बाहर रहता है। किशोरीदास पत्नी के सामने वैष्णव बनता है परंतु

'रहस' देखने के बहाने रात 'लश्करी जान' के कोठे पर बिताता है। इधर श्यामा रसिक बिहारी के साथ प्रेमालाप करती है।

दूसरा दृश्य किशोरीदास की बैठक में पंडित ब्रह्मानंद और गप्पूमल के वार्त्तालाप से प्रारंभ होता है। तीनों मांस–भक्षण, विलायती शक्कर और एलोपैथिक दवा के सेवन को अधर्म बताते हैं। इसी बीच बैठक में अंगरेजीदां मायाप्रसाद, उर्दूपरस्त मुंशी शंकरलाल, बिगड़ैल देहाती पंडित चंडीदत्त, लश्करी जान वेश्या तथा 'भंडुआ' नब्बू का प्रवेश होता है। शराब–कबाब का दौर और नाच–रंग शुरु हो जाता है। अधिकांश पात्र नाटक में सर्वनाश को प्राप्त होते हैं।

यह 'रूपक' उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें 'वेश्या' और उससे जुड़े उपादान के सेवन से मध्यवर्गीय पात्रों को सर्वनाश प्राप्त होता दिखाया गया है। 'रूपक' में यह चिंता बड़ी प्रखर है कि 'ग्रहस्थ' अगर 'गृह' में 'स्थ' न रहकर, हाथ–पाँव हिलाये और 'कचहरी–दर्बार' जाये तो उसकी सहधर्मिणी सीधे–सीधे पुंश्चली हो सकती है। यह 'सहधर्मिणी' में 'वेश्या' की छवि का प्रतिस्थापन है – एक मनोभीति। इस मनोभीति से ही उबरने के लिए 'पातिव्रत' के उपदेश दिए जाते हैं और 'सती' की परिभाषा मिश्र जी यह कहकर करते हैं – 'मुख्य सती वह है जो पति के विरह रूपी अग्नि में ऐसा दुख अनुभव करे कि जीते जी मर जाने के समान... इसमें संदेह नहीं कि पति के सुख–दुख में अपना सचमुच सुख–दुख समझने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखने वाली, पति से सच्चा स्नेह रखने वाली स्त्रियाँ 'आज' हजारों में दस हों तो हों।"

मध्यवर्गीय स्त्री की एक दूसरी छवि 'गंवार' और 'फूहड़' के विपरीत गढ़ने के प्रयास हुए। नवशिक्षित को एक ऐसी पत्नी चाहिए थी जो उसके साथ बोल–बतिया सके। नव–शिक्षित अपनी कामनाओं की सिद्धि का पीठ स्वयं स्त्री को मान रहा था। पं. गौरीदत्त के उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' में ठीक ऐसा ही होता है। यह उपन्यास 'मेरठ, छापेखाने जियाई में छापी गई' और 'एक वृद्ध और पढ़ी–लिखी स्त्री की सम्मति से पंडित गौरीदत्त ने बनायी' तथा 'श्रीयुत् एम. केमसन साहिब बहादुर डैरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन के द्वारा श्रीमन्महाराजधिराज पश्चिम देशाधिकारी श्रीयुत् लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर के यहाँ से 100 रुपये इनाम मिले।'[52] पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर प्रकाशन का सन् 1870 ई. दर्ज है और इस आधार पर संपादक गोपाल राय ने इसे हिंदी का पहला उपन्यास कहा है।[53] पं. गौरीदत्त के अनुसार 'इस पुस्तक में यह भी दर्शा दिया है कि.... पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या अंतर है, बालकों का पालन–पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए। स्त्रियों का समय किस–किस काम में व्यतीत होता है। बेपढ़ी स्त्री जब एक काम को करती है (तो) उसमें क्या हानि होती है। पढ़ी हुई जब उसी काम को करती है (तो) उससे क्या–क्या लाभ होता है...।"

उपन्यास में एक महाजन के पुत्र दौलतराम और छोटेलाल की पत्नियों की कथा है। छोटेलाल पढ़े–लिखे थे तो दौलतराम पिता की दुकान संभालने में लगे रहे।

छोटेलाल की शादी नागरी पढ़ी–लिखी लड़की से होती है और उपन्यास में दो स्त्रियों का 'विरुद्ध' प्रकट होता है – "जब छोटेलाल पंदरह ही रुपये का नौकर था कि इसके लाला गौना कर लाये थे.... छोटेलाल इस बात से अपने मन में बड़ा मगन था कि मेरी बहू पढ़ी हुई है और बड़ी चतुर है। इधर इसकी घरवाली इससे अत्यंत राजी थी और यह बात परमेश्वर की दया से होती है कि दोनों स्त्री–पुरुष के चित्त इस तरह मिल जाएँ। यह कुछ अचंभे की बात भी नहीं है। दिल तो वहाँ नहीं मिलता जहाँ मर्द पढ़ा हो और स्त्री बेपढ़ी हो। जब यह दोनों मिलते एक दूसरे को देख बड़े प्रसन्न होते। इधर वह अपने मन की बात पूछती और अपनी मन की कहती इधर उसकू इस बात का बड़ा ही ध्यान रहता कि कोई बात ऐसी न हो कि इससे इसका मन दुखे। उसकी बेसलाह कोई काम न करता। उसके लिए एक नागरी का अखबार लेता। रात को उर्दू और अंगरेजी अखबारों की खबरें उसे सुनाता और जब आप थक जाता उससे कहता लो अब तुम हमें अखबार की सुनाओ। इस बात से इसको बड़ा ही आनंद होता। उनका घर तो ऐसा ही था जैसा बनियों का हुआ करता है पर इसने अपना चौबारा सोने और उठने बैठने को सजा रखा था। चादर लग रही थी। कलई की जगह नीला रंग फिरवा रखा था। बोरियों के फर्श पर दर्री बिछा रखी थी। तस्वीरें और फानूस भी लग रहे थे। दो कुर्सी बड़ी–बड़ी और दो कुर्सी छोटी–छोटी जिनको आराम कुर्सी कहते हैं एक तर्फ पड़ी हुई थी। किताबों की एक आलमारी मेज के पास लगी हुई थी। दो पलँगों पर रेशम की डोरियों से चिही चादर खिंची हुई थी....।" इसके विपरीत अनपढ़ दौलतराम की अनपढ़ पत्नी यानी जेठानी जब अपनी देवरानी के इस इंतजाम को देखती है तो – "धक्क रह गई। इसकी अटारी में दो पुरानी धुरानी खाट पड़ी हुई थी। पिंडोल का पोता और गोबर का चौका भी न था। एक कोने में उपलों का ढेर दूसरे में कुछ चीथड़े और तर्फ नाज के मटके लग रहे थे। इसका कारण यह था कि विचारा दौलत राम निरा बनियाँ ही था। पढ़ा–लिखा कुछ नहीं। आगे उसकी बहू गाँव की बेटी थी और उसने देखा ही क्या था। छोटेलाल की बहू सी सुथराई और सफाई कहाँ आटा पीसना और गोबर पाथना इसको खूब आवे था वा दिन भर लड़ा लो...।"[54] उपन्यास में 'देवरानी' हमेशा कुछ न कुछ 'उपयोगी' करते रहती है। सीना–पिरोना, फुलकारी करना, कहानी सुनाना और सुंदर–सुंदर श्लोक सुनाने से लेकर तुलसीदास, सूरदास और विष्णुपद के भजन गाना उसे खूब आता है। 'जेठानी', भट्ट जी के शब्दों में कहें तो, 'भूतपूजनी समाजकी प्रेसीडेंट' और कौआहंकनी' है। जाहिर है दोनों की निभ नहीं सकती और दोनों अलग हो जाते हैं – "छोटेलाल ने तकसीम की अर्जी दे दी... हाकिम ने इस मुकदमे को पंचों में भेज दिया। पंचों ने न्याय की रीति से आधा बाँट दिया।"[55] इस तरह पढ़े–लिखे की मनोकल्पना की स्त्री का – पढ़ी–लिखी, सुघड़ और गृह–सुख में दक्ष स्त्री का अनपढ़ और गंवार स्त्री से अलगाव इस उपन्यास में संपूर्ण हो जाता है।

लेकिन, इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं कि पढ़ी–लिखी स्त्री 'अपने मन की बात कहती और पूछती' है तो फिर उसमें चयन की स्वतंत्रता भी मौजूद है। इस

पढ़ी–लिखी स्त्री के बीच भी भेद है। जिस स्त्री ने कुल–धर्म की शिक्षा पायी हो वही वरेण्य है, जो अंग्रेजी तर्ज पर पढ़ी हो वह स्त्री हिंदी लोकवृत्त में भारतीय गौरव का प्रतीक नहीं। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'लीलावती वा आदर्श सती' में यही बातें कही गई हैं। कलावती और लीलावती नामक दो बहनों के बीच इसमें 'विरुद्ध' खड़ा किया गया है। कलावती आधुनिक शिक्षा से पली–बढ़ी और लीलावती ने परंपरागत शिक्षा पायी – "उन दोनों के चाल–चलन में बड़ा अंतर था क्योंकि कलावती चंचल, रंगीली, रूपरंग और गहने–कपड़े की शौकीन थी... वह शृंगार रस के चुहचुहाते नाटक, उपन्यास और काव्य पढ़ती और रात–दिन दस चुहलबाज रंगीली औरत से घिरी रहकर गाने–बजाने में अपना समय बिताती थी, पर लीलावती का स्वभाव उससे बिलकुल जुदा था। वह हंसी– ठठ्ठे और चुहलबाजी या ऐसे स्वभाव वाली औरतों से सदा अलग रहती और नाटक–उपन्यास के बदले अकेले सुई का काम करती या धर्म–संबंधी वा ज्ञान की पुस्तकें पढ़ा करती...।"[56]

नई चाल की शिक्षा प्राप्त कलावती पर लेखक की टिप्पणी है – "सच है, स्त्री स्वाधीनता और कुशिक्षा तथा परम् विलासिता' का यही नतीजा है। यहाँ तक दिनों दिन देश की, समाज की, धर्म और मनुष्य की घोर दुर्दशा होती चली आ रही है पर विलायती ख्याल वाले रिफौर्मरों की अंधी आंखों को जरा नहीं सूझता और वे इतने अधःपतित होने पर भी विलायती ढंग से अपने समाज के संस्कार में बाज नहीं आते....।[57] लेखक का मत है कि "अंग्रेजी राज में अंग्रेजीबाज बाबू अपने समाज का संहार कर रहे हैं" और "जब स्त्रियों में अवैध स्वाधीनता आयोग्य शिक्षा का प्रचार होगा तब भारत के महिलाकुल के इस सतीत्व और उसकी प्रभा संपूर्ण विनाश हो जाएगी और तब यह देश घोर दुर्गति के गर्त में पड़कर सदैव के लिए मृतक हो जाएगा। अतएव देश के नेताजन स्त्रियों की रक्षा, उनके सतीत्व की रक्षा और समाज की रक्षा में विलायत वालों का अनुकरण कदापि न करें....।"[58]

किशोरीलाल जी यहाँ ये बातें 'भारतगौरव' के तर्क से कह रहे हैं। यह उनका स्वगत–चिंतन नहीं, बल्कि उनके सामने अंग्रेजी राज और इस 'राज' द्वारा की गई भारतीय सभ्यता की निंदा मौजूद है। थॉमस आर. मेटकॉफ के अनुसार[59] अंग्रेजों ने भारत और ब्रिटेन के बीच के अंतर को इतिहास और नस्ल के आधार पर ही नहीं, बल्कि 'लैंगिक पदों' में भी स्थापित करना चाहा था। अपने देश में मौजूद लैंगिक भूमिकाओं को मानक मानकर वे दूसरे जगह की सभ्यता की श्रेष्ठता और हीनता तय कर रहे थे। उनके मानक के अनुसार किसी समाज में स्त्री जितनी 'प्रतिष्ठित' हो वह समाज उतना ही 'सभ्य' था। अंग्रेजी महिला अंग्रेजों की नजर में 'विशुद्ध' और 'शालीनता' की प्रतिमूर्ति थी तो भारत की 'स्त्री' भारतीय पुरुषों द्वारा 'प्रतिष्ठित' न किए जाने के कारण 'पतिता'। भारतीय स्त्री के 'पतिता' होने की छवि को 'पर्दा' और 'जनानखाना' की मौजूदगी के आधार पर सिद्ध किया गया। बंद कमरे में निठल्लेपन की जिंदगी जीने के कारण भारतीय स्त्री अंग्रेजों की नजर में दुर्दम्य और अशौचकारी

यौनेच्छा तथा अकर्मण्यता का शिकार थी। उनका तर्क था कि जैसे भारतीय पुरुष अपने घर में व्यवस्था स्थापित करने में नाकामयाब रहे उसी तरह भारतीय राजा अपने देश में सुशासन स्थापित करने में असफल साबित हुए। अंग्रेजों का तर्क था कि हम भारतीय स्त्री के त्राणदाता बनकर एक तरह से भारतीय पुरुष पर अपनी नैतिक श्रेष्ठता साबित कर रहे हैं। भारतीयों की नैतिकता के संशोधक के रूप में खुद को देखने की यह ललक 'सभ्यतागत श्रेष्ठता' के अहंकार को तुष्ट करती थी। सन् 1829 ई. का सती प्रथा विरोधी कानून, सन् 1856 ई. का विधवा विवाह कानून तथा सन् 1891 ई. का 'सहवास की आयु निर्धारित करने वाले अधिनियम इसी मनोभावना से उपजे थे। मेटकॉफ के अनुसार भारत के 'स्त्रीकरण' के क्रम में अंग्रेजों ने यहाँ के धर्म को भी व्यभिचार का पोषक माना और 'काली' प्रभृति देवियों की पूजा के आधार पर हिंदू धर्म को व्यभिचार का पोषक मान लिया गया। अंग्रेजों की नजर में भारतीय सामाजिक जीवन का मुख्य लक्षण था विषयासक्ति और इस विषयासक्ति ने स्वशासन के नाकाबिल 'स्त्रैण' पुरुष तथा 'पतित' स्त्री को जन्म दिया था – वस्तुतः अनियंत्रित 'स्त्री–रूप भारत की यह छवि' 'पौरुष युक्त ब्रिटेन' के दंभाख्यान के अनुकूल थी और 'इसका इस्तेमाल भारतीय पुरुषों को ओछा बताने के लिए' किया गया।

किशोरीलाल अथवा इस युग का कोई और लेखक भारतीय स्त्री की छवि इसी दबाव में गढ़ता है। उसे भारतीय 'स्त्री' के 'शील' और 'सतीत्व' के आख्यान खोजने पड़ते हैं। यह बताना पड़ता है कि भारतीय धर्म व्यभिचार के पोषक नहीं और भारतीय साहित्य सदुपदेश का खजाना है। वह इसी दबाव में विधवा विवाह तथा बाल विवाह के पक्ष में भी इहलौकिक पदावली में नहीं बल्कि धर्म की पदावली में तर्क प्रस्तुत करता है और परंपरा में मौजूद 'पराशर स्मृति' को 'मनुस्मृति' की काट में प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया में 'स्त्री' एक 'संकेत' में तब्दील हो जाती है जिसके सहारे जातीय अभियान (भारतगौरव) को बचाने–बनाने की कोशिश की जाती है।

इसी कोशिश का परिणाम है वह 'कल्पित स्त्री' जिसकी छवि श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' में उकेरी। सन् 1877 ई. में प्रकाशित 'भाग्यवती' को 'स्त्री–शिक्षा की अपूर्व पुस्तक' का दर्जा मिला। 'श्रीमान डायरेक्टर साहिब शिक्षा विभाग पंजाब की आज्ञानुसार' तैयार और 'पुत्री पाठशालाओं में स्वीकृत और भारतखंड के अन्य शिक्षा विभागों में भी प्रचलित' इस पुस्तक को श्रद्धाराम जी ने इस रूप में रचा कि 'जिसके पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी लिखी होती हैं परंतु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देशी–विदेशी की बोलचाल और अन्य लोगों से बरत–व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती। और कई बार ऐसा भी देखने में आया कि जब कभी उनको विदेश में जाना पड़ा तो अपना गहना–कपड़ा, बरतन आदि पदार्थ खो बैठी और घर में बैठी भी किसी छली स्त्री–पुरुष के बहकावे से अपने हाथ से अपने घर का सत्यानाश कर लिया। फिर यह भी देखा जाता है कि बहुत स्त्रियाँ अपनी देवरानी–जेठानियों से आठो पहर लड़ाई रखती और

सास–ससुरे और अपने भर्त्ता का निरादर करने लगती हैं। कई स्त्रियों को अपने घर के हानि–लाभ की ओर कुछ ध्यान न होने के कारण घर का सारा ठाठ बिगाड़ लेतीं और कइयों के घरों के नौकर–चाकर लूट–लूट खाते और उनको संयम और यत्न से कुछ काम नहीं होता। कई स्त्रियाँ विपत्काल में उदास होके लाज–काज को बिगाड़ लेतीं और अयोग्य और अनुचित कामों से अपना पेट पालने लग जाती हैं और कई विद्या से हीन होने के कारण सारी आयु चक्की और चरखा घुमाने में समाप्त कर लेती हैं।' श्रद्धाराम जी ने इन्हीं बातों से स्त्रियों को उबारने के लिए 'स्त्री–शिक्षा' का 'यह ग्रंथ सुगम हिंदी भाषा लिख इसका नाम भाग्यवती रखा।'[60]

यह मध्यवर्ग की मनोकल्पना में मौजूद गृहस्थी का सुख देने वाली स्त्री की छवि थी जो न तो 'गँवार' थी और न ही 'अकुलीन'। वह उपयोगितावादी पदों में रची गई, बुद्धिजन्य व्यवस्था के भीतर 'नियमबद्ध' स्त्री थी। यह 'स्त्री' घर की 'शोभा' थी और 'लाज' निभाती थी। 'घर' स्वयं मध्यवर्ग का 'अंतर्जगत्' था जिसे वह हर कीमत पर सार्वजनिक दुनिया की अपनी हार से बचाना चाहता था। आश्चर्य नहीं कि मध्यवर्ग अगर 'धर्म' में अपनी अस्मिता खोज रहा था तो उसने धर्म–निर्वाह की धुरी स्त्री को बनाया। परंपरा को परखने और शोधने के सारे प्रयोग स्त्री–केंद्रित रहे।

स्त्रीत्व की छवियाँ और राष्ट्रीयता का रूपक

मध्यवर्ग ने 'जातीय गौरव' के तर्क से स्त्री को गढ़ा था। मध्यवर्गीय स्त्री ने इसी के भीतर अपनी अस्मिता देखी। लेकिन, अपने ऊपर लादी गई कतिपय छवियों को उसने तोड़ने की भी चेष्टा की। अगर मध्यवर्गीय पुरुष ने अपनी 'स्त्री' को जातीयता के एक प्रतीक में रचना चाहा था तो कालक्रम में इस प्रतीक ने स्वयं जीवन धारण कर लिया और जीवन धारण करते ही इस प्रतीक ने पुरुषों द्वारा परिभाषित छवि से अपने को अलगाने की कोशिश की। महत्व कोशिश की सफलता का नहीं, बल्कि स्वयं कोशिश का है। स्त्री ने यह तो मान लिया कि वह भारतीयता के गौरव की अधिष्ठात्री है, परंतु इस गौरव के अधिष्ठाताओं से बराबरी की मांग भी शुरु की।

ऐसी ही स्त्रियों में एक नाम 'बुंदेलाबाला' का है। इनकी 'बनायी' हुई कविताओं का एक संग्रह 1910 ई. में लक्ष्मीप्रेस, गया से 'बाला–विचार' नाम से छपा था। संग्रहकर्त्ता चतुर्भुज सहाय के अनुसार बुंदेलाबाला लाला भगवानदीन (उपनाम 'दीन') की पत्नी थीं। इनके बारे में संग्रहकर्त्ता ने मात्र इतनी सूचना दी है कि इन्हें 'मातृभाषा हिंदी में बड़ा प्रेम था। गोस्वामी तुलसीदास जी के सब ग्रंथों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। लाला भगवानदीन जी के पास जितने पत्र, पत्रिकाएँ वा समालोचनार्थ पुस्तकें आती थीं आप सब ही का अवलोकन किया करती थीं। घर–गृहस्थी के काम–काजों से समय बचा कर कभी–कभी कुछ कविताएँ भी लिख डालती थीं जो भिन्न–भिन्न पत्रों में छपा करती थीं।'[61]

'हिंदी साहित्य कोश' (भाग–2) के अनुसार लाला भगवान दीन का जन्म 1866 ई. में हुआ था।[62] अनुमान लगाया जा सकता है कि बुंदेलाबाला 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के अंतिम दो दशकों में अपनी 'कविताएँ भिन्न–भिन्न पत्र–पत्रिकाओं में' प्रकाशित करवा सकीं होंगी, क्योंकि संग्रहकर्त्ता के अनुसार जुलाई 1910 ई. में बुंदेलाबाला स्वर्गवासी हो गईं। आश्चर्यजनक तौर पर 'साहित्य कोश' में बुंदेलाबाला का नाम न तो कवि के रूप में दर्ज है और न ही लाला भगवानदीन की पत्नी के रूप में। बहरहाल, बुंदेलाबाला की कविताओं के शीर्षक से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका लेखन एक आदर्श गृहिणी के 'कर्तव्य' को रेखांकित करता लेखन है, जैसे–माता की महिमा, गृहिणी सुख, चाहिए ऐसे बालक, पुत्र, पुत्री प्रति माता का उपदेश आदि। लेकिन इसी क्रम में 'अबला–उपालंभ' भी है और इसमें पढ़ी–लिखी 'गृहिणी' तर्क–विदग्ध प्रश्नकर्त्ता की मुद्रा में है; यह स्त्री ठोस राजनीतिक सवाल पूछती है। व्याख्या के बजाय उन्हें ज्यों का त्यों उद्धृत कर देने से भी बात स्पष्ट हो जाएगी :

1. अबला, नाजुकबदन, हीन मति – कहि हमको बहकाते हो।
   शिक्षा के सुंदर सुस्वादु फल, आप अकेले खाते हो।।
2. विद्या के प्रकाश में तुम रहि – राखौं हमें अंधेरे में।
   कैसे समझैं, नहीं पड़े हो – तुम अज्ञान दरेरे में।
   राखि अशिक्षित हमैं स्वयं तुम – अपनी हँसी कराते हो।
   देशोद्धार, स्वराज हेतु तुम – नाहक ही बर्राते हो।।
3. हिंद देश की आबादी में – आधी तो अबला ही हैं।
   आधे में आधे हैं बालक – मर्द एक चौथाई हैं।।
   कहो चारि में एक भला तुम – कैसे देश उधारोगे।
   तीन अशिक्षित बीच एक तुम – क्या क्या काम संभारोगे।।
4. तुम तो एक कमाई करके – धन बटोर घर लाते हो।
   घर में पटक सभी बातों से – बस छुट्टी पा जाते हो।।
   कठिन कर्म है अबलागण का – सज्जनवर लखिए दै ध्यान।
   लोकाचार, धर्मग्रंथन में – जैसा कुछ पाया परमान।

बुंदेलाबाला का सवाल यह भी है –

जितनी वस्तु तुम्हारी हैं सब उनमें हक्क हमारा हैं।
तन में, धन में, अन्न भवन में – तुमने भी निर्धारा है।।
फिर क्यों अपने सुसमय में से – भाग हमैं नहि देते तुम।
हमको पढ़ा लिखाकर सब विधि – निज समान कर लेते तुम।।[63]

प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपने महत्वपूर्ण आलेख 'लोकवृत्त : हिंदी भाषा का या हिंदी–प्रदेश का?' में ध्यान दिलाया है कि लोकवृत्त की आधार प्रतिज्ञा है

सर्व–समावेशिकता और यह बहुलस्वरी दुनिया है; इसी कारण लेखन के खुले संसार में पुरुष स्त्री की छवि रच सकते थे तो स्त्री भी इस संसार का उपयोग अपने हक की नुमाइंदगी के लिए कर सकती थी। उनका कहना है कि 'लोकवृत्त के निर्माण पर केंद्रित दृष्टि का ध्यान इस बात पर ज्यादा रहता है कि स्वयं स्त्रियाँ इस नये, विकासमान लोकवृत्त का उपयोग कैसे कर रही थीं।"[64] स्त्रियाँ शिक्षित होते समुदाय के बीच न सिर्फ अपनी बराबरी घोषित कर रही थीं, प्रश्न पूछ रही थीं, बल्कि अपने चयन की स्वतंत्रता को भी जता रही थीं। इसका एक प्रमाण स्वयं बालकृष्ण भट्ट की खीझ में मिलता है। 'सभ्यता का छोर' शीर्षक से अगस्त 1886 ई. में छपे एक लेख में उन्होंने अपनी खीझ एक वैवाहिक विज्ञापन को लेकर जाहिर की थी। 'हिंदी प्रदीप' के इस अंक में उन्होंने लिखा –

"आजकल जिधर देखिए सभ्यता की धूम मच रही है। हमारे हिंदुस्तानी भाइयों ने जहाँ से कोट–पतलून लिया है वहाँ ही से सब प्रकार की स्वच्छंदता रूपी आभूषण भी लिया चाहते हैं। यह नहीं सोचते कि हम उनकी बराबरी करने लायक अभी हुए हैं या नहीं..

"अस्तु, मर्दों तक तो खैरियत थी पर जब हम लोगों की लक्षमियों के चित्त में भी विदेशी स्वच्छंदता ने स्थान पाया तो अब सामाजिक नियमों की रक्षा ईश्वर ही के हाथ है। जिस बात को हमारे देश में जबान पर लाना भी बड़ा ऐब समझते हैं उसको खुले मैदान ढिंढ़ोरा पीटना मानो सभ्यता की नाक मरोरना है। थोड़े दिन हुए एक समाचार–पत्र में हमने यह विज्ञापन देखा था और हम समझते हैं आप भी इस तरह के विज्ञापन बहुधा देखे होंगे :

"मेरी उमर अठारह बरस की है और घर से मैं खुश हूँ। मैं रामायण और ब्रजविलास पढ़ सकती हूँ। जिस पुरुष को हमसे विवाह करने की इच्छा हो उसमें यदि ये बातें हो तो वह लिखै

1. उमर 32 वर्ष से अधिक न हो।
2. अंगरेजी अच्छी तरह और संस्कृत भी कुछ पढ़ा हो।
3. घर से खुश हो और मर्द हो।[65]

समाचार–पत्र में विज्ञापन छप रहे थे, विज्ञापनों के माध्यम से स्त्री अपने चयन और वरण की स्वतंत्रता को भी घोषित कर रही थी।

संदर्भ संकेत

1 शिक्षा–विमर्श, वर्ष–आठ/अंक–तीन, मई–जून 2006 में 'स्त्री शिक्षा के विरोधी कुतर्कों का खंडन', शीर्षक से प्रकाशित
2 वही
3 वही
4 वही
5 वही
6 वही
7 डॉ. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – प्रतापनारायण रचनावली, खंड–3, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ.17–19
8 वही, उपर्युक्त
9 वही, उपर्युक्त
10 वही, उपर्युक्त
11 डॉ. रामविलास शर्मा (1984) – भारतेन्दु युग और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्र. पृ.84
12 वही
13 वही, पृ.85
14 वही
15 वही
16 वही
17 वही
18 बाबू शिवनंदन सहाय (1975) – हरिश्चन्द्र, हिन्दी समिति, उ. प्र., पृ.250
19 हेमंत शर्मा (सं.2000) – भारेन्दु समग्र, हिन्दी प्रचारक पब्लि., पृ.1000
20 वही, पृ.1013
21 वही, पृ.478–79
22 वही, पृ.1074
23 भारतेन्दु युग और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, तीसरे संस्करण की भूमिका
24 बाबू शिवनंदन सहाय (1975) – हरिश्चन्द्र, पृ.251–52
25 वही
26 वही
27 वही, पृ.206
28 हेमंत शर्मा (सं.2000) – भारेन्दु समग्र, पृ.536
29 श्री नारायण पाण्डे – भारेन्दु हरिश्चन्द्र, नए संदर्भ की तलाश, शब्दभारती, इलाहाबाद, पृ.36
30 भीखू पारेख (1989) – कॉलोनियालिज़्म, ट्रेडिशन एण्ड रिफार्म, सेज प्र., पृ.26
31 हेमंत शर्मा (सं.2000) : भारेन्दु समग्र, पृ.109
32 कॉलोनियालिज़्म, ट्रेडिशन एण्ड रिफार्म पृ.26
33 वही
34 वही, पृ.27
35 हेमंत शर्मा (सं.2000) : भारेन्दु समग्र, पृ.1009–10
36 गेराल्डिन फोर्ब्स (2000) – विमेन इन मार्डन इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ.14
37 भीखू पारेख (1989) – कॉलोनियालिज़्म, ट्रेडिशन एण्ड रिफार्म, सेज प्र., पृ.28
38 वही, पृ.29
39 पार्थ चटर्जी : नशेनलिस्ट थॉट एँड द कॉलोनियल वर्ल्ड, ऑक्सफोर्ड यू प्रे., पृ.2
40 कुमकुम संगारी, सुदेश वैद्य (1999) – रिकॉस्टिंग विमेन : ऐशेज इन कॉलोनियल हिस्ट्री, काली फॉर विमेन, नई दिल्ली, पृ.233
41 हेमंत शर्मा (सं.2000) : भारेन्दु समग्र, पृ.996–97
43 विमेन इन माडर्न इंडिया, पृ.14
44 वही, पृ.15

45 वही
46 वही
47 वही
48 वही
49 सत्यप्रकाश मिश्र (सं. 1995) – बालकृष्ण भट्ट : प्रतिनिधि – संकलन, एनबीटी, नई दिल्ली, पृ. 101
50 डॉ. धीरेंद्रनाथ सिंह (1986) – आधुनिक हिंदी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ.208–209
51 डॉ. चंद्रिका प्रसाद शर्मा, उपयुक्त, खंड–2, पृ.27–31
52 गोपाल राय (संपा.1966) – पं. गौरीदत्त कृत देवरानी जेठानी की कहानी, ग्रंथ निकेतन, पटना, प्रथम संस्करण का आवरण, पृ.
53 वही, भूमिका
54 वही, पृ.9–11
55 वही, पृ.47
56 किशोरीलाल गोस्वामी (तीसरा संस्करण–1926) – लीलावती का आदर्श सती, श्री सुदर्शनदास द्वारा वृंदावन से प्रकाशित, पृ.29–30
57 वही, पृ.182–183
58 वही
59 थॉमस आर मेटकॉफ (2005) – आडियालॉजिज ऑफ दी राज, फाउंडेशन बुक्स,नई दिल्ली, पृ. 92–112
60 श्रद्धाराम फिल्लौरी (1912 तीसरा संस्करण) – भाग्यवती, साहित्य निधि, दिल्ली द्वारा सन् 2000 में पुनर्मुर्दित, भूमिका।
61 बुंदेलाबाला (सं.1910) – बाला–विचार, लक्ष्मी प्रेस, गया, भूमिका।
62 धीरेंद्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी (1963) – हिंदी साहित्य कोश, भाग–2, ज्ञानमंडल, वाराणसी, पृ.377
63 बुंदेलाबाला (1910) – उपर्युक्त, पृ.11–22
64 पुरुषोत्तम अग्रवाल (2003) – 'आलोचना', अक्टूबर–दिसंबर, 2003, नई दिल्ली।
65 हिंदी प्रदीप का 1886, अगस्त का अंक। नेहरु म्यूजियम लाइब्रेरी, नई दिल्ली में उपलब्ध।

अध्याय : छह

हिंदी प्रदेश : साहित्य और राजनीति

लोकवृत्त और साहित्य के प्रतिमान

हिंदी लोकवृत्त और राजनीति

पं. बालकृष्ण भट्ट की 'विनोदप्रियता' को लक्ष्य करते हुए डा. मधुकर भट्ट ने एक दिलचस्प घटना का वर्णन किया है। मधुकर भट्ट लिखते हैं कि भट्ट जी संस्कृत साहित्य के बड़े मर्मज्ञ थे। एक दिन राजर्षि टण्डन जी भट्ट जी से मिलने आये। वे भट्ट जी के परम भक्त और शिष्य थे। उस समय भट्ट जी बैठे 'कुट्टनीमतम्' पढ़ रहे थे। टण्डन जी ने पूछा 'पंडित जी, क्या पढ़ रहे हो?', भट्ट जी ने उत्तर दिया, "भैय्या कुट्नीमत पढ़ित है।' टंडन जी हँसे और बोले 'ई उमर में कुट्टनीमत'? भट्ट जी बोले 'तो और का पढ़ी? टंडन जी बोले 'वेद'। भट्ट जी ने कहा 'वेदवा ससुर में का रक्खा है।"[1] मधुकर भट्ट ने इस प्रसंग की व्याख्या में अपनी तरफ से जोड़ा है कि "यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि वेद के प्रति भट्ट जी के विचार अच्छे नहीं हैं, वास्तव में भट्ट जी वेद का आदर करते और बड़े मनोयोग से उसका अध्ययन करते थे। इस तरह का कथन उनका एक प्रासंगिक विनोद मात्र है। वास्तव में वे श्रृंगारपरक रचनाओं से भी परिचित रहना चाहते थे जिससे उनका सत्–असत् संबंधी विवेक जागृत रह सके।"

लोकवृत्त और साहित्य के प्रतिमान

मधुकर भट्ट यह टिप्पणी सन् 1972 ई. में कर रहे हैं। इस समय तक साहित्य को विचारधारात्मक उपकरण के रूप में देखा जाने लगा था, उसकी स्वीकृति भी इस रूप में एक स्तर तक हो चुकी थी। स्वयं इस प्रवृति की शुरुआत भारतेंदु युग से होती है जब साहित्य को समाजसुधार के एक उपकरण के रूप में देखा जाने लगा। मधुकर भट्ट 'सोद्देश्य' तथा 'प्रयोजनपरक साहित्य' की धारणा के दायरे में अपनी टिप्पणी कर रहे हैं जहाँ 'वेद' का उद्देश्य कुछ अलग और कुट्टनीमत का कुछ अलग है, साथ ही 'कुट्टनीमत' के उद्देश्य पर 'वेद के उद्देश्य' को बढ़त हासिल है। मधुकर भट्ट ऐसा कह सकते हैं क्योंकि सन् 1972 तक न सिर्फ साहित्य को सोद्देश्य मान लिया गया है, बल्कि साहित्य के उद्देश्य को साहित्येतर अनुशासनों से भी परिभाषित किया जाने लगा था। मध्यकालीन शब्दावली में कहें तो 'काव्य' के उद्देश्य 'पुराण' से तय किए जाने लगे थे। 'काव्य' का एक प्रयोजन 'अमंगलनिवृति' जरूर है, लेकिन काव्य इस अमंगलनिवृति में वह प्रश्न भी पूछ सकता है जिसके पूछने की मनाही समय–विशेष के स्वीकृत मानक कर रहे हों।

19वीं सदी की जटिलताओं में एक यह भी है कि मध्यवर्ग की कुल पूँजी 'शिक्षा' थी और 'शिक्षा' सिर्फ "नौकरी के हित ही" न थी – उसका महत् प्रयोजन समाजसुधार था और उस समय के दबाव के अनुरूप 'साहित्य' का उद्देश्य भी अपने लक्ष्य–समुदाय को 'शिक्षा' देना मान लिया गया। भारतेंदुयुगीन लेखक श्रृंगार को एक भाव भर नहीं मानते थे, उसे एक विशेष समाज रचना के दोष के रूप में गिनते थे। उपयोगितावादी दर्शन के आतंक में भारतेंदु युग के लेखक कविता के बारे में यह सवाल करते थे कि वह काम की वस्तु है या नहीं। 'श्रृंगार' को परंपरा की निरंतरता दिखाने के कारण न

तो छोड़ा जा सकता था और न ही उसे वर्तमान दशा के अनुकूल मानकर ग्रहण किया जा सकता था। भयंकर आत्मालोचन की स्थिति मौजूद थी। 'प्रेमघन' जी लिखते हैं –

"कुछ लोग यह भी कह सकते कि पुराने ग्रंथ कविता संबंधी हैं और उनमें प्रायः श्रृंगार रस ही भरा पूरा है। हम पूछते हैं कि क्या कविता कोई काम क़ी वस्तु नहीं है?" आगे उन्होंने 'काम' से अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि – "भाषा का मुख्य रूप कविता ही दिखलाती है। सत्कवियों के मुहाविरे ही तो साधु प्रयोगों के साक्षी होते हैं। कोशों में प्रायः कविता ही के प्रमाण संगृहीत होते हैं...।"[2] कविता की 'लंबी परिपाटी' 'प्रेमघन' जी छोड़ नहीं सकते, क्योंकि उनके मनोलोक में जातीय इतिहास और उसकी उन्नति–अवनति का साक्ष्य भाषा को ही स्वीकार किया जा रहा है – "देववाणी (संस्कृत) क्रमशः व्याकरण और साहित्य के विविध अंग–प्रत्यंगों से युक्त हो इतनी उन्नत अवस्था को पहुँची कि आज भी संसार की अनेक भाषाएँ अनेक अंशों में उसके आगे सिर झुका रही है। आरंभ में यही सामान्य भाषा वा राष्ट्रभाषा थी... संस्कृत प्रकृति से निकली भाषा ही को प्राकृत कहते हैं... निदान इस प्रकार वह परिमार्जित भाषा वैदिक अपभ्रंश भाषा वा आर्ष प्राकृत जिसकी अनेक शाखा प्रशाखाएँ होती गईं... राष्ट्रभाषा बन चली... उस समय तक वैदिक धर्म्म ही की धूम थी...।"[3] भाषा के विकास की इस तर्कश्रृंखला से 'प्रेमघन' जी 'नागरी भाषा' तक पहुँचते हैं और "केवल अपनी भाषा के रूपों और अवस्थाओं ही का क्रम" कहने के अपने 'उद्यम' में कबीर, सूर, केशव, खुसरो, जायसी, तुलसी, बिहारी और देव, द्विजदेव आदि से लेकर भारतेंदु तथा श्रीधर पाठक तक का क्रम दिखाते हैं। इस परंपरा में 'श्रृंगार' रसराज के रूप में उपस्थित है। श्रृंगार 'काम की वस्तु' साबित नहीं हो रहा और उसे जातीयता के क्रमविकास को दिखाने के लिए छोड़ा भी नहीं जा सकता। इस दुविधा का निदान 'प्रेमघन' जी कुछ इस तरह करते हैं – "अधिकांश इसी रस से तो संसार का साहित्य लबालब भरा हुआ है। आप कहेंगे कि हमें नायक नायिकाओं के भेद–विभेद और उनके प्रेम–प्रसंग से घृणा है। यद्यपि यह दोष रस का नहीं है वरञ्च कवि का होता है, तो इसे जाने दीजिए और यद्यपि प्रेम–प्रसंग को आप बुरा नहीं प्रमाणित कर सकते तौ भी आलम्बन विभाग को छोड़ उद्दीपन को तो आप भी सराहेंगे। यदि आपको प्राकृतिक सौंदर्य से चिढ़ हो तो इसे भी छोड़िए, और सब रसों की सामग्री प्राचीन कवियों ने एकत्रित कर रखी आप इन्हीं से अपना मनोरंजन कीजिए। वीर, करुण, शांत आदि रस, भक्ति, धर्म्म, नीति, इतिहास, पुराण, आचार, मतमतांतर, कथा, वैद्यक, ज्योतिष, काव्य, कोश, छन्द, अलंकार, योग, वेदांत आदि वैज्ञानिक ग्रंथ भी इनमें न्यून नहीं हैं।"[4]

'प्रेमघन' जी इसके बाद साहित्य की निर्माण–प्रक्रिया की परिभाषा करते हैं कि "साहित्य का संगठन समय के अनुसार हुआ करता है। उस समय जब के बने वे ग्रंथ हैं इससे अधिक की लोगों को आवश्यकता न थी। रूचि भी ऐसी ही अधिकांश लोगों की हो रही थी, विशेषकर हमारे देश के राजा बाबू और अमीरों का श्रृंगार ही से काम था... आज समय दूसरा है.. देश की दुर्दशा ने सबकी मुटाई झाड़ दी है... अब वे बातें नहीं

जँचती, इसी से आज की आवश्यकता को आजकल के सुलेखकों और ग्रंथकारों को पूरा करना चाहिए।"[5]

यह सही है कि तत्कालीन सुलेखक युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षाप्रद साहित्य का 'संगठन' कर रहे थे, लेकिन यह भी सही है कि श्रृंगार रस की रचनाएँ हो रही थीं और पाठक 'कुट्टनीमत' भी पढ़ रहे थे। अगर भारतेंदु युग में श्रृंगार अप्रतिष्ठित और बेकाम की चीज की श्रेणी में आया तो इसका एक कारण 'राज' द्वारा सभ्यता की श्रेष्ठता के दंभ में प्रस्तुत की गई आलोचना भी थी। यह आलोचना भारतीय समाज को 'असभ्य' बताने के लिए श्रृंगारिक कविताओं का उपयोग साक्ष्य के रूप में उपयोग करती थी। इस प्रवृति के आत्मसातीकरण का ही एक प्रमाण है कि सन् 1952 और 1953 में दो जिल्दों में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'उर्दू शायरी पर एक नज़र' में कलीमुद्दीन जार्ज संतायना के 'Interpretation of Poetry and Religion' को प्रमाण मानकर उर्दू गजल की खबर ले रहे थे। उन्होंने जार्ज संतायना की उपर्युक्त पुस्तक से निम्नलिखित उद्धरण उद्धृत किया है –

"बर्बरों की कविता में भी सौंदर्य होता है। यह इंद्रियों और वासनाओं से ज्यादा स्वतःस्फूर्त तथा मुक्त भाव से खेलती है क्योंकि इस कविता का लक्ष्य किसी स्पष्ट विचार अथवा इच्छा की किसी टिकाऊ प्रवृति से इनको (इंद्रियों और वासनाओं को) दमित करने का नहीं होता... बर्बर मनुष्य अपनी वासनाओं और आवेगों को अपने आप में औचित्यपूर्ण मानता है, वह इसके कारण को समझकर अथवा इनके उच्चतर लक्ष्य की धारणा करके इन्हें संयमित करने का प्रयत्न नहीं करता।"[6] जाहिर है, अपने को 'सभ्य' मानने वाली अंग्रेजी जाति 'बर्बर' लोगों के 'काव्य' को उच्छृंखल ही बता सकती थी। जार्ज संतायना के लिए 'असभ्य जाति' की कविता 'red-hot irrationality' का साक्ष्य थी। 'प्रेमघन' जी जब 'श्रृंगार' के स्वीकार–अस्वीकार के द्वंद्व में पड़े थे उनके सामने इस किस्म की आलोचना मौजूद थी।[7]

बहरहाल, लोकवृत्त सूचनाओं की सार्वजनिकता के बीच बनता है और इसी कारण उस पर किसी एक का प्रभुत्व नहीं बना रहता। सूचनाओं की सार्वजनिकता संचार माध्यमों पर निर्भर होती है और संचार माध्यमों से पूँजीवाद के भीतर 'लाभ' के तर्क से सांस्कृतिक उत्पाद का सार्वजनीकरण होता है। आश्चर्य नहीं कि 'वेदों' की सार्वजनिकता पर जोर देने वाले हिंदी लोकवृत्त के भीतर 'कुट्टनीमत' भी मौजूद हो, सूचना से शिक्षाप्रद होने की मांग करने वाले इस युग में सूचना का इस्तेमाल मनोरंजन के अर्थ में भी हो रहा था। इसकी शुरुआत नवलकिशोर प्रेस की स्थापना के कुछ ही वर्षों बाद हो गई थी।

नवलकिशोर प्रेस ने 'किस्सा' और 'दास्तान' की परंपरा में मौजूद लोकसाहित्य को लिपिबद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। नवलकिशोर प्रेस की ऐसी कोशिशों के अंतर्गत 46 खंडों में प्रकाशित 'दास्तान–ए–हमजा' शामिल है। इस प्रेस ने मनोरंजन

प्रधान इस साहित्य को नागरी लिपि में भी अनूदित किया। 'दास्तान' और 'किस्सा' के रूप में मौजूद उर्दू साहित्य को इस प्रेस ने हिंदी पाठकों तक पहुँचाया। ऐसे साहित्य में 'अलिफ–लैला', 'बागो–बहार', 'अराइश–ए–महफिल' के अनुवाद प्रमुख हैं। इनका प्रकाशन क्रमशः 1876, 1877 और 1877 ई. में हुआ। दास्तान–ए–अमीर हमजा का हिंदी अनुवाद नवलकिशोर प्रेस में अस्थायी अनुवादक के रूप में काम करने वाले कालीचरण तथा महेशदत्त शुक्ल ने 'अमीर हमजा की दास्तान' नाम से किया। इस अनुवाद में फारसी–बहुला शब्दावली की जगह संस्कृत के शब्दों का प्रयोग ज्यादा हुआ। फारसी छंद को देसी छंद में बदला गया। नवलकिशोर प्रेस ने अनुवादों को छापने में इस बात का ध्यान रखा कि अनुवाद बोलचाल की हिंदी से ज्यादा दूर न जाये। नवलकिशोर प्रेस के ऐसे प्रयासों का एक आकलन यूल्राईक स्टार्क ने अपने आलेख 'हिंदी पब्लिशिंग इन द हर्ट ऑफ एन् इंडो–पर्शियन कल्चरल मेट्रोपोलिस' नामक लेख में किया है।[8]

मनोरंजक साहित्य के अंतर्गत ही हिंदी में 'जासूसी उपन्यास' छपे। फ्रेंचेस्का ओरसिनी ने बनारस में स्थापित प्रकाशन व्यवसाय की चर्चा करते हुए यहाँ के भारत जीवन प्रेस' (स्थापित–1884 ई.) की चर्चा की है।[9] इस प्रेस के मालिक रामकृष्ण वर्मा (1859–1906) थे। एक छोटे–से व्यवसायी के परिवार में उत्पन्न रामकृष्ण जी ने अपने समय में प्रकाशन व्यवसाय में संभावनाएँ देखकर पुस्तकों के प्रकाशन का काम शुरु किया। पहले उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र के सहयोग से पुस्तकों की एक दुकान खोली। कुछ दिनों के बाद कलकत्ता गए और वहाँ से छपाई की एक पुरानी मशीन खरीदकर प्रकाशन का काम शुरु किया। वे 'काशी–कवि–समाज' के सचिव थे और पहले उन्होंने इस 'कवि–समाज' की रचनाओं को छापा। इस प्रेस के आरंभिक प्रकाशनों में कुछ पुस्तकें 'लेखक' के आदेश से छपीं तो कुछ स्थानीय धनी–मानी व्यक्तियों के अनुदान से। पहले इस प्रेस ने कुछ पुस्तकें निशुल्क बँटवायीं। 'भारत जीवन प्रेस' ने सन् 1884 से सन् 1900 तक जिन पुस्तकों को छापा उनमें ज्यातार मनोरंजन प्रधान रचनाएँ थीं। श्रृंगार रस की कविताएँ भी इस प्रेस ने पर्याप्त संख्या (49 प्रतिशत) में छापीं।

कविता के अतिरिक्त 'भारत जीवन प्रेस' ने साहित्य की नयी विधाओं की तरफ भी ध्यान दिया। स्वयं रामकृष्ण वर्मा ने 'ठग वृतांतमाला' (1889 ई.) और 'पुलिस वृतांतमाला' (1890 ई.) नाम से बांग्ला भाषा में लिखे रहस्य–रोमांच के साहित्य को अनूदित किया और उसे अपने प्रेस से छापा। ऐसे साहित्य को पाठक वर्ग बहुत चाव से खरीदता–पढ़ता था। इस प्रेस से बांग्ला के उपन्यास भी छपे जिनमें बंकिमचंद्र के उपन्यास भी शामिल हैं। लेकिन इस प्रेस ने बांग्ला भाषा में छप रहे 'जासूसी उपन्यासों' को भी छापा। फ्रेंचेस्का ओरसिनी के अनुसार हिंदी में ये उपन्यास मूल लेखक के नाम से नहीं छपते थे। ऐसे उपन्यासों के बारे में इतना ही प्रचारित करना पर्याप्त समझा जाता था कि ये बांग्ला भाषा में छप चुके उपन्यासों की छाया लेकर बनाए गए हैं।[10] भारत जीवन प्रेस में रामकृष्ण वर्मा के सहयोगी और अनुवादक कार्तिक प्रसाद खत्री थे। कार्तिक प्रसाद खत्री ने बांग्ला भाषा के जासूसी उपन्यासों के अनुवाद किये तो मौलिक

उपन्यास भी लिखे। बांग्ला उपन्यासों के ढाँचे का अनुकरण करने से दास्तान परंपरा के मनोरंजक साहित्य में नये बदलाव आये। अब पाठक को पहले से नहीं पता रहता था कि कथा में आगे क्या होने वाला है। उपन्यासकार जासूसी उपन्यासों में अपने पात्र के परिचय को लगातार छुपाए चलता था और कथा के रहस्य को गहन बनाता किसी कथा–पात्र के परिचय को उचित स्थल पर प्रकट करता था। हिंदी प्रकाशन व्यवसाय ने जासूसी उपन्यासों का प्रकाशन पाठकों की बढ़ती हुई संख्या का अनुमान लगाकर किया। किशोरीलाल गोस्वामी (1865–1932) तथा देवकीनंदन खत्री (1861–1931) रहस्य–रोमांच की प्रधानता वाले साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में उभरे। इन उपन्यासकारों ने अपनी भाषा को संस्कृत–बहुला होने से बचाने की कोशिश की। मनोरंजन प्रधान लेखन का उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा ग्राहक तलाशना था, इसलिए जासूसी अथवा रहस्य–रोमांच की ऐतिहासिक कथाओं में भाषा वैसी न रही जैसी 'शिक्षापरक साहित्य' में थी। बाद में भाषा के इस भेद की हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के क्रम में नोटिस ली गई और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मनोरंजन प्रधान साहित्य को 'साहित्य' की कोटि में नहीं माना। उन्होंने जासूसी उपन्यास को साहित्य की कोटि में न रखने के जो कारण बताये उसमें एक कारण ऐसे उपन्यासों की भाषा भी है।

'चंद्रकांता संतति' के समापन खंड में उपन्यास की भाषा का आदर्श इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है – "किसी दार्शनिक ग्रंथ या पत्र की भाषा के लिए यदि किसी कोष को टटोलना पड़े तो कुछ परवाह नहीं, परंतु साधारण विषयों की भाषा के लिए भी कोष की खोज करनी पड़े तो निस्संदेह दोष की बात है। मेरी हिंदी किस श्रेणी की हिंदी है इसका निर्धारण मैं नहीं करता परंतु मैं यह जानता हूँ कि इसके पढ़ने के लिए कोष की तलाश नहीं करनी पड़ती... जो हो भाषा के विषय में हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वाणी में हो, क्योंकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिंचाव उन्हीं मूल भाषाओं की ओर होता है जिससे उनकी उत्पत्ति हुई है।"[11]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को साहित्य की कोटि में नहीं माना। इसके उन्होंने कई कारण बताये। देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों के विषय में उनका कहना है – "पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे... यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना–वैचित्र्य रहा, रस संचार, भावाविभूति या चरित्र–चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य कोटि में नहीं आते... कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्यिक हिंदी न लिखकर 'हिंदुस्तानी' लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हलकी रचनाओं में काम दे सकती है...।"[12]

इस कथन में देवकीनंदन के उपन्यासों का साहित्य की कोटि में नहीं आना, उनकी रचनाओं का 'हल्की' होना तथा 'हिंदुस्तानी' में लिखा होना – इस बात के संकेत देते हैं कि शुक्ल जी भाषा की परिनिष्ठता को किसी रचना की साहित्यिकता के निर्धारण में निर्णायक मानते हैं। शुक्ल जी का भाषाविषयक दृष्टिकोण किशोरीलाल गोस्वामी के भाषादर्श के विश्लेषण के क्रम में और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों की भाषा के बारे में उन्होंने लिखा है – "उर्दू जबान और शेर–सुखन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी–कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत–से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। गलत या गलत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दरजे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया। 'मल्लिका देवी या बंग–सरोजिनी' में संस्कृत–प्राय समास–बहुला भाषा काम में लाई गई है। इन दोनों प्रकार की लिखावटों को देखकर कोई विदेशी चकपकाकर पूछ सकता है कि 'क्या दोनों हिंदी हैं'?...."

संभवतया एक कारण यह भी रहा कि 'मल्लिका देवी या बंग–सरोजिनी' की भाषा के आधार पर शुक्ल जी ने किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं को 'साहित्य' की कोटि में रखा है – "उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पंडित किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनकी रचनाएँ साहित्य कोटि में आती हैं.... साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।"[13] देवकीनंदन खत्री अथवा किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं तथा भाषा पर शुक्ल जी की टिप्पणी साहित्य के प्रतिमान के सामाजिक सरोकारों की तरफ इशारा करती है। इतिहास का गहरा संबंध औचित्य–निरूपण से होता है और किसी बात की सामाजिक स्वीकृति औचित्य–निरूपण पर निर्भर करती है। 'शिष्ट साहित्य' अथवा 'हल्की रचना' का विभाजन समाजबोध की भी सूचना देता है। जी एन देवी की टिप्पणी है कि एक अनुशासन के रूप में साहित्येतिहास का उद्‌भव सामाजिक प्रभुत्व की भावना से जुड़ा है। सामाजिक प्रभुत्व के साधन के रूप में साहित्य के उपयोग से साहित्येतिहास का गहरा संबंध है – "जब साहित्य संस्थानीकृत होता है तो पढ़ाई की कक्षाओं में भी पहुँचता है और इस तरह वर्ग–विभाजन का औजार बनता है। यही वह समय है जब कोई साहित्य अपने इतिहास को मुखर करता है।"[14]

जी एन देवी ने ध्यान दिलाया है कि साहित्य का इतिहास प्रतिमानों को गढ़ने का उपकरण है। प्रतिमानों को गढ़ने का अर्थ है साहित्यिक उत्पादन के बारे में इस बात का सीमांकन करना कि सामाजिक रूप से क्या वरेण्य है और कौन–सी बात निषिद्ध – "इतिहासकार जिस समाज में रहता है अथवा जिस समाज के लिए लिखता है, साहित्येतिहास उसी के मूल्यों को प्रतिबिंबित करता है। साहित्य का इतिहास इन मूल्यों तथा इन मूल्यों में निहित फैसलों के बगैर वैसा ही असंभव है जैसे कोई सत्ता

संरचना विहीन राज्य। वस्तुतः सत्ताधारी की प्रभुता का औचित्य–निरूपण ही प्रतिमानों का मुख्य उद्देश्य होता है।"[15]

आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास तक हिंदी साहित्य संस्थानीकृत हो चुका था। इसने अपने को लोकप्रिय साहित्य (Popular literature) से सचेत रूप से अलग किया। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही नागरी के आंदोलन ने 'नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना करवाई। 'नागरी' के साथ जातीय उन्नयन का प्रश्न जुड़ा हुआ था, इसलिए उस समय साहित्य की परिभाषा जनसमूह के 'चित्त के विकास' के रूप में हुई। नागरी अथवा उर्दू लिपि से संकेतित 'जनसमूह' कोई एकल जनसमूह नहीं था। ये दो धर्माधारित समुदाय थे, अपने इतिहासबोध में अलग। 'जातीय उन्नति' के तर्क ने 'शिक्षाप्रद' होना साहित्य का गुणधर्म माना। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्वयं 'नागरी लेखक' की दो कोटियाँ बतायी हैं। 'योग्य लेखक' को उन्होंने 'ऐश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण' तथा 'पवित्र आत्मा' वाला माना। 'अयोग्य लेखक' के बारे में उनका कहना था कि – 'अयोग्य' अथवा झूठे लेखक वे हैं जो ऐश्वरीय ज्ञान से वंचित रहते और सांसारिक विषयों की इच्छा रखते हुए जगत को भुलावे में डाल कर अपना अर्थ साधन करते हैं।" योग्य लेखक की भूमिका के बारे में भारतेंदु का कथन है कि – "लेखक का जगत में अवतार इसीलिए होता है कि वह इस असार जगत के सार को स्वयं देखे और दूसरो को दिखलावे, और भाषा का जब–जब परिवर्तन हो तो उसी परिवर्तित भाषा में उस समय के मनुष्यों की रूचि के अनुकूल उस 'सार' को वर्णित करे।"[16] इसी बात को उन्होंने 'नाटक' नामक निबंध में कुछ इस तरह से व्यक्त किया – "जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और क्षेत्रीय रीति–नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उक्त समय में उक्त सहृदयगण के अंतःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति, इन विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य का प्रणयन करना उचित है।"[17] भारतेंदुयुगीन साहित्यिक विधाओं में नाटक प्रमुख हैं। नाटकों से भारतेंदु की अपेक्षा शिक्षाप्रद होने की थी – "नाटकों के अभिनय करने में जो स्वच्छंदता होती है उसे छोड़कर उस से देश का कितना उपकार होता है कि हम लिख नहीं सकते। देखिए कि यदि एक बड़ा राजा वा कोई धनी अथवा कोई पंडित किसी बुरे काम में प्रवृत होय तो उसको हम लोग सभा में कभी शिक्षा न दे सकेंगे और जो कुसंस्कार की दावाग्नि को हम लोग दोषकथन वारि से घर बैठे बुझाना चाहेंगे तो कभी बुझाए न बुझैगी। इस से अब हम लोगों को कुशलता के उद्योग बीजों को अवश्य बोना चाहिए और वह किसी एक मनुष्य के प्रयत्न से कभी अंकुरित न होगी परंतु यदि नाटकों के अभिनय का आरंभ हो जाएगा तो यह सब कुचाल आप से आप छूट जाएगी और उस भाँति फिर सब लोग अच्छी बातों से रूष्ट न होकर प्रचार में प्रयत्न करेंगे।"[18] यहाँ तद्युगीन 'काव्य' के लिए जो प्रतिमान प्रस्तावित किए गए उसे लक्ष्य किया जा सकता है। इस युग में 'साहित्य' से आशय 'जातीय उन्नति' के लिए 'बनायी' जा रही ज्ञानराशि से था। साहित्यकार को 'पवित्र आत्मा' के अनुकूल सद्ज्ञान का सृजनकर्त्ता माना गया। ऐसे साहित्य के लिए जातीय भाषा और लिपि के मानक तय

किए गए। लेकिन साहित्य के ऐसे प्रस्ताव से ऐन उसी वक्त अलगाव की कोशिशें भी हुईं और इन कोशिशों को पाठकवर्ग ने स्वीकृति दी। देवकीनंदन खत्री या किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों की लोकप्रियता इस तथ्य को रेखांकित करती है कि भाषा अथवा साहित्य तत्कालीन प्रतिमान से बाहर रचा, सोचा और सराहा जा रहा था। सूचना का जनतंत्र सिद्धांततः सबको अपना भागीदार बनाता है। अगर साहित्य का आशय भारतेंदु युग में शिक्षाप्रद साहित्य था तो ठीक उसी समय लोक अभिरूचि के अनुकूल भी सांस्कृतिक उत्पाद तैयार हो रहे थे, इन्हें खरीदा और पढ़ा जा रहा था। यह ठीक है कि हिंदी लोकवृत्त में सक्रिय हिंदी बुद्धिजीवी देशकाल की रीति–गति विचारकर साहित्य के उद्देश्य को परिभाषित कर रहे थे और यह परिभाषा 'शिक्षित जनता' के उद्देश्यों के अनुरूप की जा रही थी लेकिन उस समय के सांस्कृतिक उत्पादन के साथ ग्राहकी का सवाल भी जुड़ा था और ग्राहक की रूचि में श्रृंगार तथा रहस्य–रोमांच का स्थान था तो प्रकाशन व्यवसाय ऐसी रूचियों के अनुकूल भी पुस्तकें छाप रहा था। पुस्तक एक उत्पाद के रूप में क्रय योग्य वस्तु है और निजी संपदा के रूप में पाठक उसका उपयोग, सार्वजनिक जगत की प्रभावशाली व्याख्याओं को स्वीकार करने के बावजूद, अपने निजी लोक में अलग ढंग से करता है। वह 'वेद' के महत्त्व को स्वीकार कर सकता है और सार्वजनिक जीवन में उसकी उपयोगिता पर मंतव्य रख–बना सकता है, साथ ही नैतिकता की निजी परिभाषा बनाकर अपने निजी एकांत में 'कुट्टनीमत' भी पढ़ सकता है। दोनों में कोई अंतर्विरोधी नहीं हैं, यह अंतर्विरोध तभी उत्पन्न होता है जब नैतिकता के सार्वजनिक प्रतिमान व्यक्ति की 'निजता' को हड़प लें, व्यक्ति की रूचि को सामाजिक सत्ता के खास उद्देश्य से परिभाषित किया जाने लगे और इस सत्ता के उद्देश्य से इतर किसी उद्देश्य को अवैध ठहराया जाने लगे।

'लोकवृत्त' के ढाँचे की मौजूदगी ऐसा नहीं होने देती, क्योंकि लोकवृत्त बनता ही तब है जब निजी और सार्वजनिक में अंतर स्थापित हो तथा सिद्धांततः सबको बराबर मान लिया जाय; सार्वजनिक जीवन की नैतिकता व्यक्ति के एकांत में, इच्छा–स्वातंत्र्य के एक छोटे–से परंतु अनुलंघ्य दायरे में दखल न दे। अध्याय की शुरूआत में भट्ट जी के संबंध में जिस घटना की चर्चा की गई है, उसमें यह बात बड़े स्पष्ट ढंग से पढ़ी जा सकती है। भट्टजी अपने निजी 'एकांत' में, एक निजी 'वस्तु' का उपयोग अपनी रुचि के अनुकूल कर रहे हैं जबकि टंडन जी का 'वेद' विषयक कथन व्यक्ति के इस 'एकांत' में सार्वजनिक नैतिकता की दखल है। भट्ट जी का प्रतिवाद इस दखल की निशानदेही करता है। भट्टजी ने अपने 'रुचि' नामक निबंध में सार्वजनिक नैतिकता और व्यक्ति की रुचि के द्वैध को पहचानने के कारण ही कहा है – "ध्यान जमाकर देखिए तो मनुष्य जन्मते ही रुचि में दखल देने लगता है मानों रुचि उसकी दासी या जर–खरीद लौंडी हो, बच्चे को माँ के दूध के एवज में गाय या बकरी का दूध शीशी या रुई के फाहे में दिया जाता है तो वह उसको ऐसी रुचि से नहीं पीता, जैसा माँ का दूध... फिर ज्यों–ज्यों उमर में वह बढ़ता जाता है, अपने हर एक काम खाना, पीना, सोना, ओढ़ना,

पहिनना, खेल–कूद, पढ़ना–लिखना आदि में रुचि को जगह देता जाता है।"[19] यहाँ इतना जोड़ना उचित होगा कि रुचि के अनुकूल चयन वैयक्तिक स्वतंत्रता की उपस्थिति में होता है और इसके लिए यह भी जरूरी है कि रुचि की परितुष्टि की वस्तुएँ मौजूद हों। लोकवृत्त सांस्कृतिक उत्पाद के लोकतांत्रीकरण द्वारा यह भूमिका निभाता है, परिणामतः सांस्कृतिक उत्पादों की सामाजिक भूमिका को तय करने के लिए जो प्रतिमान निर्धारित किए जाते हैं, उनका प्रतिरोध भी इसी लोकवृत्त में मौजूद होता है। दूसरे शब्दों में लोकवृत्त के भीतर भाषा के किसी एक रूप अथवा साहित्य की किसी एक भूमिका को एक मात्र विकल्प के रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता।

हिंदी लोकवृत्त और राजनीति

अध्याय तीन में इस बात की चर्चा की गई थी कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में साहित्य की अवधारणा और भूमिका में मूलगामी बदलाव आता है। 'जातीय उन्नति' की प्रधानता वाले इस युग में साहित्य अपने लक्ष्य–समुदाय के राजनीतिक–सामाजिक 'संस्कार–कार्य' के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। 'लेखक' अब 'पब्लिक मेन' की भूमिका में था और वह साहित्य का उपयोग 'जनमत' निर्माण के लिए कर रहा था। राधाचरण गोस्वामी के प्रसंग में इस बात की चर्चा की गई थी कि वे सिर्फ 'साहित्यिक प्रतिभा के धनी' न थे, बल्कि समुदाय हित में एक ही साथ कई काम कर रहे थे। 19वीं सदी के 'लेखक' 'पब्लिक मेन' थे और 'समुदाय' का हित उनका प्राथमिक सरोकार। हिंदी के लेखक अपने को समुदाय के हितचिंतक के रूप में तो स्थापित कर ही रहे थे, वे देश के व्यापक हित से भी अलग नहीं थे। उन्हें स्पष्ट बोध था कि अपने समुदाय के हित और देश के हित में अंतर होता है, क्योंकि देश में एक से ज्यादा समुदाय हैं। अपने अखबार 'ब्राह्मण' के बारे में प्रतापनारायण मिश्र ने स्वीकार किया कि इस अखबार का नाम 'ब्राह्मण' रखा गया तो इसी कारण कि "हिंदू जाति का समयानुकूल शुभचिंतन सदा से" ब्राह्मण 'पर निर्भर रहा है', परंतु प्रतापनारायण मिश्र को इस बात का सदा स्मरण है कि देश में सिर्फ हिंदू ही नहीं और न ही देशहित का अर्थ मात्र हिंदू हित का चिंतन करना है। इसी कारण उन्होंने लिखा है कि – "हम यदि अपने पत्र का नाम 'आर्यावर्त' या 'देशहितैषी' इत्यादि रखते तो कभी एक संप्रदाय का पक्ष न लेते वरंच समस्त देश के सच्चे हक पर ध्यान रखते।"[20]

क्या प्रतापनारायण जी की इस साफगोई से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे सिर्फ 'हिंदू' के 'उन्नति' के हामी थे और शेष धर्म–समुदायों की उन्नति के विरोधी? यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं है, क्योंकि हिंदू हितों के हामी होने का अर्थ अनिवार्य रूप से दूसरे धर्म–समुदाय के हितों का विरोधी होना नहीं होता। बहरहाल, 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की जटिलताएँ इस तरफ संकेत करती हैं कि दो समुदायों 'हिंदू' और 'मुसलमान' को एक राजनीतिक समुदाय में बदलने की प्रक्रियाएँ शुरु हो चुकी थीं और इन समुदायों का अग्रगामी तबका अलग–अलग इतिहासबोध के आधार पर अपने हितों

को एक–दूसरे के विरोध में देखने लगा था। नागरी आंदोलन, गोरक्षा आंदोलन आदि में यह बात प्रकट रूप में सामने आयी। फिर भी, हिंदी लोकवृत्त के बारे में यह बात निर्णायक ढंग से नहीं कही जा सकती कि उसमें हिंदू हितों की नुमाइंदगी के साथ–साथ सक्रिय रूप से अन्य धर्म–समुदाय के हितों का विरोध भी हो रहा था।

लोकवृत्त की विशेषता है पारस्परिक और तर्कविदग्ध संवाद। यह संवाद विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से होता है और संस्थाएँ किसी जनसमूह के पारस्परिक ऐक्य की अभिव्यक्ति होती हैं। यह ऐक्य किन्हीं सार्वजनिक मुद्दों पर कायम होता है। हिंदी लोकवृत्त के कुछ महत्त्वपूर्ण भागीदार सिर्फ 'समुदायहित' की संस्थाओं से ही नहीं जुड़े थे, वे देशहित की संस्थाओं से भी पूरी सक्रियता से जुड़े और अगर किसी समुदाय के हित उनके समुदाय के हित से विपरीत पड़ते थे तो देशहित की संस्था में शामिल होकर अपने 'अन्य' से उन्होंने विरोध का नहीं, बल्कि संवाद का रास्ता अपनाया। स्वयं प्रतापनारायण मिश्र के जीवन के कुछ प्रसंग इस बात को स्पष्ट कर देते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 ई. में हुई। यह भारतीय हितों के नुमाइंदगी की संस्था थी। इसकी स्थापना के विभिन्न कारणों अथवा उद्देश्यों की चर्चा न करते हुए, यहाँ इसके संस्थापक सदस्यों में से एक दादाभाई नौरोजी के एक भाषण के अंश को उद्धृत करना उचित होगा। स्वयं दादाभाई नौरोजी ने दिसम्बर 1886 में हुए कलकत्ता काँग्रेस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण करते हुए कहा था कि 'ब्रिटिश संसद में ठीक–ठीक अर्थों में एक भी भारतीय आवाज मौजूद नहीं जो यह बता सके कि किसी मुद्दे पर देसी जन क्या राय रखते हैं।'[21] दादाभाई नौरोजी ने सन् 1892 ई. में लिबरल दल की तरफ से लंदन की फिन्सबरी सीट से चुनाव लड़ा और ब्रिटिश संसद में अपने पहले भाषण में जो कुछ कहा, उससे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की तत्कालीन मनोदशा का परिचय मिल जाता है :

"इस सदी के शुरुआती समय से जब अंग्रेजों ने भारतीय राजव्यवस्था का मामला अपने हाथों में गंभीरतापूर्वक लिया तो ब्रिटिश शासन के जज्बे, ब्रिटिश न्याय और उदारता की प्रवृति के तहत फैसला किया गया कि भारत का शासन बरतानवी आजादी और इंसाफ के तर्ज पर किया जाएगा। बिना किसी संकोच के पश्चिमी शिक्षा, सभ्यता तथा राजनीति की संस्थाओं की शुरुआत की दिशा में कदम उठाए गए और इसके परिणामस्वरूप, एक सभ्य और भव्य भाषा की सहायता से – जिसमें युवकों को शिक्षित किया गया – राजनीतिक जीवन का बड़ा आंदोलन, बल्कि कहें कि नया जीवन, उस देश में जाग पड़ा जो सदियों से मरणासन्न पड़ा था।"[22]

ब्रिटिश न्याय और स्वतंत्रता के मूल्यों में विश्वास जताने वाली कांग्रेस ने भारतीय हितों के हनन के सवाल को ब्रिटिश पदावली में ब्रिटेन की संसद तथा भारत के वायसराय के सामने रखना शुरु किया। सिद्धांततः 'जनमत' के सम्मान का वायदा करने वाले ब्रिटिश शासन से भारतीय 'जनमत' की इस संस्था ने अपने तयशुदा हक मांगने

शुरु किए। हिंदी लोकवृत्त के सदस्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की महत् राजनीतिक परियोजना के भागीदार बने। प्रतापनारायण मिश्र ऐसे ही भागीदारों में थे। 'कांग्रेस' के गठन के शुरुआती वर्षों में ही प्रतापनारयण मिश्र ने अपने को इससे संबद्ध कर लिया। उन्होंने कुछ सहभागियों की मदद से कानपुर में एक कांग्रेस 'समर्थक सभा' का गठन किया। कानपुर से कांग्रेस के प्रथम प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन (मद्रास, दिसंबर 1887 ई.) में भाग लिया। 'ब्राह्मण' के दिसंबर 1887 के अंक में उन्होंने लिखा था – "इस पत्र के संपादक नेशनल कांग्रेस मद्रास को जाते हैं। इस कारण इतना ही प्रकाशित हो सका, अतएव ग्राहक लोगों से प्रार्थना है इस बार क्षमा करेंगे।"[23]

प्रतापनारायण मिश्र की दृष्टि में 'कांग्रेस' जातीय स्वरूप की 'प्रेम प्रचारक संस्था' थी, यानी उनके पत्र 'ब्राह्मण' के उद्देश्य 'प्रेम और परोधर्म' का ही एक रूप। उन्होंने प्रयाग में होने वाले इसके चौथे सम्मेलन की सफलता के लिए अपनी ओर से प्रयत्न किए। ब्राह्मण के एक अंक (ब्राह्मण, खं–4, सं–7) में उन्होंने 'नेशनल कांग्रेस मद्रास' शीर्षक से लिखा – "लोगों को चाहिए कि कट्टरपन और कचढिल्लापन छोड़ के यह समझकर रखें कि हम मुख और मन से चाहे जितना विदेश और विधर्म के पक्षपाती हों, पर पैदा भारत में हुए हैं और मरेंगे भारत में ही। अतः भारत ही के भले से हमारा भी भला हुआ है।"[24] 'कांग्रेस' के प्रयाग सम्मेलन के प्रमुख आयोजक राजा रामपाल सिंह, अयोध्यानाथ वकील और पंडित मदनमोहन मालवीय थे। इन लोगों से प्रतापनारायण मिश्र की मित्रता थी। मिश्र जी ने कालाकांकर में राजा रामपाल सिंह के दैनिक 'हिंदोस्थान' के 'काव्य भाग' के संपादक के रूप में काम किया था। उस समय इस पत्र का संपादन पंडित मदनमोहन मालवीय कर रहे थे। मालवीय जी भोजन प्रतापनारायण मिश्र के साथ करते थे। इस मित्रता और कांग्रेस के स्वभाव से अपने लगाव के कारण इसके प्रयाग सम्मेलन में मिश्र जी ने सोत्साह परिश्रम किया। 'प्रयाग कांग्रेस' को महापर्व की संज्ञा देते हुए एक लंबी कविता लिखी। इस कविता के कुछ अंश बताते हैं कि 'कांग्रेस' के गठन और उसके उद्देश्य को हिंदी लोकवृत्त में किस रूप में देखा जा रहा था :

महारानी विक्टोरिया यद्यपि महादयाल।
चाहति कियो प्रजान को पुत्र सरिस प्रतिपाल।।
पै हमरि दुरभाग ते दूर वसति वह हाय।
बिन जाने भारत विपति, केहि विधि कौ उपाय।।[25]

* * * * * *

यहै विचारि अनेक बुध, रचहिं अथाई एक।
राजा सों परजा विपति, विनवत हित सविवेक।।
राज प्रजा हितकारिणी नेशनल कांग्रेस नाम।
सभा बम्बई में प्रथम जुरी सकल सुखधाम।।

फिरि कलकत्ता में बहुरि मन्दराज के माँहि।
भई समाज इकत्र यह जेहि महँ कछु छल नाहिं।।
सब मत के सब प्रांत के, सब श्रेणी के लोक।
इक चित्त ह्वै निज भूप ढिग, बिनवहि भारत शोक।।[26]

प्रतापनारायण मिश्र भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को किसी एक जाति मत की संस्था नहीं समझते थे, यह उपर्युक्त पंक्तियों में लक्ष्य किया जा सकता है। इलाहाबाद कांग्रेस में आने वाले प्रमुख नेताओं के गुणों को लक्ष्य करते हुए उन्होंने लिखा –

देश हितैषी आर्य्यवर, मुसलमान मतिमान
प्रभु मसीह के शिष्य शुचि पारसीक गुनखान।।[27]

प्रतापनारायण मिश्र ने ए.ओ. ह्यूम के बारे में लिखा – "जिनकी कीरति करि रही श्वेत द्वीप लगि धूम।" उन्होंने 'बदरुद्दीन जू' को 'मुसलमान कुलचंद' बताते हुए कहा – 'जिनको नामहिं धर्म शशि षोडस कला अमंद।' अलीमुहम्मद के बारे में उनकी राय थी – "भारत कर वर वीर सोई अलीमुहम्मद भीम।"[28] प्रतापनारायण मिश्र ने 'प्रयाग अधिवेशन' के बाद 'कांग्रेस की जय' नाम से लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने सर सैयद के कांग्रेस–विरोध को नोट करते हुए लिखा – "इसके द्वेषियों ने अपनी सामर्थ्य भर झूठ, प्रपंच, छल, कपट, कोई बात उठा न रक्खी थी पर 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा – तासु दुगुन कपि रूप दिखावा'.... धन्य है, लोग समझे थे कि मुसलमान उनमें कभी शरीक न होंगे सो एक से एक प्रतिष्ठित विद्वान, धनिक मुसलमाँ अनुमान तीन सौ के विराजमान थे। बरंच बाजे नगरों से हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमान ही अधिक आए थे... लूथर साहब के हाते का नाम हमने प्रेमनगर रखा था क्योंकि लड़के, बूढ़े, हिंदू, मुसलमान, जैन, क्रिस्तान, पश्चिमोत्तर देशी, बंगाली, गुजराती, सिंधी, मद्रासी, पारसी, इंगलिस्तानी, सब के सब प्रेम से भरे हुए दृष्टि आते थे।[29] चाहें तो प्रतापनारायण जी की इन पंक्तियों में भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रसिद्ध भाषण (बलिया) के स्वप्न को साकार होता पढ़ा जा सकता है। भारतेंदु ने इस भाषण में कहा था कि 'सब एक का हाथ एक पकड़ो।'

सिर्फ प्रतापनारायण मिश्र ही नहीं, बालकृष्ण भट्ट और चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' भी कांग्रेस में सक्रिय भागीदार बने। भट्ट जी को अपनी राजनीतिक सक्रियता के कारण 'सरकारी कोप' का सामना करना पड़ा था।[30] वे क्रांतिकारियों को भी संरक्षण देते थे। आपके घर लाला लाजपतराय आदि आकर ठहरते थे। कांग्रेस के जन्म से लेकर अपने स्वर्गावरोहण (20 जुलाई 1914 ई.) के चार–पाँच साल पहले तक भट्ट जी, मदनमोहन मालवीय के साथ कांग्रेस के अधिवेशन में जाया करते थे। मालवीय जी 'नरमदलीय विचार' के समर्थक थे तो भट्ट जी 'गरमदलीय विचार' के। भट्ट जी को

'लोकमान्य तिलक' पसंद थे तो मालवीय जी को गोपाल कृष्ण गोखले। भट्ट जी गर्व से कहा करते थे – "हम तो राष्ट्रीय दल (गरमदल को 'राष्ट्रीय दल' कहते थे भट्ट जी) में विश्वास करित है।"[31]

उपर्युक्त सूचनाओं से सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि 'हिंदी लोकवृत्त' अपनी ऐतिहासिक विशिष्टताओं के बीच न सिर्फ 'जनमत' के निर्माण में सक्रिय था, बल्कि 'जनमत' के निर्माता अपने जीवन के उत्तर–पक्ष में राजनीति में भागीदार बन चले थे। यह 19वीं सदी का उत्तरार्द्ध था, जब ढाँचागत बदलाव ने साहित्य और समाज–दशा को एक साथ जोड़ दिया और साहित्य 'जनमत'–निर्माण की ओर प्रवृत्त हुआ।

संदर्भ संकेत

1 डा. मधुकर भट्ट (1972) – पं. बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व बालकृष्ण प्रकाशन, वाराणसी, पृ.17 61

2 प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय (2003) – प्रेमघन–सर्वस्व द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, पृ.367

3 वही, उपर्युक्त, पृ.328

4 वही, उपर्युक्त, पृ.367

5 वही

6 कलीमुद्दीन अहमद (1981) – उर्दू–कविता पर एक दृष्टि, पहला भाग, अनुवादक – प्रो. रामप्रसाद लाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ.55

7 गौरी विश्वनाथन (2004) – मास्क ऑफ कंक्वेस्ट : लिटररी स्टडी एंड ब्रिटिश रूल इन इंडिया, ऑक्स. यूनि. प्रेस, दिल्ली, पृ.45–93

8 स्टुअर्ट ब्लैकबर्न, वसुधा डालमिया (2001) – इंडियाज लिटरेरी हिस्ट्री : ऐसेज ऑन द नाईन्टीन्थ सेंचुरी, में उल्राईक स्टार्क का लेख, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, पृ. 251–279

9 वही, उपर्युक्त में फ्रेंचेरका ओरसिनी का लेख 'डिटेक्टिव नॉवेलः ए कमर्शियल जॉनरे इन नाइन्टींथ सेंचुरी इंडिया', पृ.455–482

10 वही, उपर्युक्त

11 रामस्वरूप चतुर्वेदी (2002) – हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.101

12 वही, पृ.100, उद्धृत

13 वही, पृ.101, उद्धृत

14 जी एन देवी (1998) – ऑफ मेनी हिरोज, : ऐन इंडियन ऐसे इन लिटररी हिस्ट्रियोग्राफी, ओरिएंट लांगमैन, दिल्ली, पृ.5–10

15 वही

16 हेमंत शर्मा (2000) – भारतेंदु समग्र, हिंदी प्रचारक पब्लि., वाराणसी, पृ.1060–1065

17 वही, उपर्युक्त, पृ.555–579

18 वही

19 देवीदत्त शुक्ल, धनंजय भट्ट 'सरल' (1994) – भट्ट–निबंधावली, पहला भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.49–52

20 डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – प्रतापनारायण मिश्र रचनावली, खंड–4, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, में 'ब्राह्मण' नाम का अभिप्राय, शीर्षक लेख

21 ईयान ब्रायन्ट वेल्स (2005) – जिन्ना'ज अर्ली पॉलिटिक्स : अम्बेडसडर ऑफ हिंदू–मुस्लिम यूनिटी, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, पृ.14–15 उद्धृत

22 वही

23 डा. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001) – उपर्युक्त, पृ.155–160

24 वही

25 वही

26 वही

27 वही

28 वही

29 वही, उपर्युक्त, खंड–3, पृ.76–78

30 डा. मधुकर भट्ट (1972) – उपर्युक्त, पृ.48–58

31 वही

उपसंहार

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी साहित्य का प्रमुख स्वर 'स्वत्व–चिंता' का है। 'स्वत्व–चिंता' के दायरे में ही इस साहित्य के अर्थ को समझा जा सकता है। 'भारत निज स्वत्व गहै' की चिंता इस साहित्य के भीतर अकारण उपन्न नहीं होती। भारत की राजनीतिक पराधीनता अथवा उपनिवेशवादी शासन के भीतर अनवरत आर्थिक शोषण जैसी स्थितियों में इस चिंता के कारणों की पड़ताल जरूर की जा सकती है, परंतु ऐसी पड़ताल इस तथ्य की अनदेखी करती है कि 'भारत निज स्वत्व गहै' में 'निज' और 'स्वत्व' से भारत के समस्त समुदायों के 'आत्म' की व्यंजना होती है अथवा किसी एक के। राजनीतिक पराधीनता अथवा आर्थिक शोषण पर नजर रखने वाली व्याख्याएँ सन् 'सत्तावन' के बाद स्थापित 'क्राऊन राज' के अंतर्गत हुए ढाँचागत बदलावों की उपेक्षा करती है। इस ढाँचे के भीतर उत्पन्न संस्कृति–बोध, उसके तनाव, संघर्ष और चुनौतियाँ तथा इसी क्रम में की गई 'आत्म' तथा 'अन्य' की परिभाषाएँ भी ऐसी व्याख्याओं के लिए महत्वपूर्ण नहीं रहतीं। इसी कारण ये व्याख्याएँ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिंदी साहित्य की चेतना को पूर्ववर्ती हिंदी साहित्य की प्रगतिशील चेतना का अनिवार्य विस्तार मानकर देखती हैं।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का हिंदी साहित्य जनसंचार के माध्यमों के बीच विकसित होता है। इस युग के हिंदी 'लेखकों' के लिए 'अखबार' का केंद्रीय महत्व है। ये 'लेखक' अखबार को एक ऐसे साधन के रूप में देखते हैं जो 'प्रजा का हाल' 'राजा पर विदित' करने में समर्थ 'दूत' है और 'प्रजा का प्रतिनिधिस्वरूप' है। अखबार और पत्रिकाओं के माध्यम से ही हिंदी साहित्य 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपने लक्ष्य–समुदाय तक पहुँचता है। 'प्रजा का प्रतिनिधिस्वरूप' अखबार और 'पत्रिकाओं' में छपने वाला साहित्य पुराने साहित्य से भिन्न है। यह एक तरफ 'सुसभ्य गवर्नमेंट' से 'प्रजा' के दुख दूर करने की 'विनती' है तो दूसरी तरफ 'पाठकों' के लिए 'देश–दशा' को विदित करने वाला तथा 'उन्नति' की शिक्षा देने वाला साहित्य है। साहित्य के स्वरूप और भूमिका में इस बदलाव का कारण स्वयं सन् 'सत्तावन' के बाद स्थापित नयी 'राजव्यवस्था' है।

महारानी विक्टोरिया के अधीन भारतीय प्रजा को अपना धर्म मानने के अधिकार दिए गए। 'राज' ने अपने को स्थायी बनाने तथा सन् 'सत्तावन' जैसी किसी स्थिति से निपटने के लिए नई प्रविधि अपनायी। उसने अपने 'समाजशास्त्र' में भारत को संस्कृतियों का अजायबघर माना। 'राज' की विधेयवादी वैज्ञानिकता ने अपने प्रशासन का ढाँचा इस आधार पर तैयार किया कि भारत विभिन्न समुदायों से बना देश है; ये समुदाय आपस में किसी बात में समानता नहीं रखते, इनके गुणधर्म अलग–अलग हैं और 'अंग्रेजी राज' का काम है विधि–व्यवस्था के भीतर निष्पक्ष न्यायकर्ता के रूप में इस बात की निगरानी करना कि हर समुदाय के हित सुरक्षित रहें। 'राज' ने भारतविषयक अपनी इस समझ का प्रदर्शन विधिवत रूप से लार्ड लिटन के दिल्ली दरबार में किया।

सन् 'सत्तावन' के बाद स्थापित 'राज' ने भारत में दोहरी शासन–व्यवस्था स्थापित की। एक तरफ उसने 'राजा–प्रजा' वाली पुरानी पद्धति को मान्यता देकर रजवाड़ों को ब्रिटिश 'ताज' के अधीन अधिकारभेद से व्यवस्थित किया और उनसे वायदा किया कि एक हद तक उनके काम में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा तथा राजे–रजवाड़ों के सम्मान की रक्षा की जाएगी तो दूसरी तरफ उदारवादी दर्शन के अंतर्गत इस 'राज' ने शहरी केंद्रों में जनता को प्रशासन में भागीदार बनाया। नगरपालिका की व्यवस्था के अंतर्गत स्थानीय स्वशासन को सुनिश्चित किया गया। लेकिन इन दोनों ही पद्धतियों में एक समानता थी। 'राज' ने भारतीयों को 'व्यक्ति' तो माना लेकिन उसके पूर्व आधुनिक विशेषण के साथ। भारतीय अपने पूर्व आधुनिक समुदाय के सदंस्य के रूप में स्वीकार किए गए। वे 'प्रजा' थे, नागरिक नहीं; वे 'राज' की नजर में हिंदू, मुसलमान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि थे, 'व्यक्ति' नहीं थे। स्थानीय स्वशासन के अंतर्गत इसी कारण 'राज' बतौर प्रतिनिधि जिनको जगह देता था उन्हें अपने समुदाय का नुमाइंदा माना जाता था। यही बात हम 'राज' की विधि–व्यवस्था में देखते हैं। अगर 'पब्लिक लॉ' के अंतर्गत 'व्यक्ति' को मान्यता दी गई तो 'पर्सनल लॉ' के अंतर्गत कुल–गोत्र–धर्म से निर्धारित होने वाले कर्तव्यों का निर्वाह व्यक्ति के लिए जरूरी माना गया।

'राज' ने अपने व्यावसायिक और प्रशासनिक जरूरतों के अनुकूल संचार–साधनों का भी इस युग में विस्तार किया। रेल, डाक, तार आदि द्वारा दूर–दूर के प्रांत आपस में जुड़ गए। लिखित संवाद का अभूतपूर्व विस्तार हुआ और प्रिंटिंग की तकनीक ने संवाद–कर्म को आमूल बदल दिया। 'राज' की भारतविषयक समझ और संचार के साधनों के विकास के बीच हिंदी साहित्य आकार ग्रहण करता है। 'राज' ने अगर अपनी शासन व्यवस्था में 'जनमत' को सम्मान देना स्वीकार किया था तो इस युग का हिंदी साहित्य भी 'जनमत निर्माण' का ही साक्ष्य है।

यह साहित्य अंग्रेजी शासन की श्रेष्ठता के आतंक में मध्यवर्गीय मानस के आलोड़न की सूचना है। नवशिक्षित मध्यवर्ग दोहरे अलगाव का शिकार था। अंग्रेजी नौकरशाही में 'बाबूगिरी' करता मध्यवर्ग अपने समाज की नीति–रीति को ज्यों–का–त्यों स्वीकार नहीं कर पा रहा था, इस मध्यवर्ग को अंग्रेज हाकिम–हुक्काम अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के दंभ में बराबरी का दर्जा नहीं दे रहे थे। दोहरे अलगाव के शिकार मध्यवर्ग ने औपनिवेशिक इतिहास के दायरे में, 'राज' के समाजशास्त्र की कोटियों में, 'राज' की प्रशासनिक प्रविधियों में (मसलन जनगणना, जिसमें जाति, धर्म और संख्या का उल्लेख रहता था) अपने बारे में सोचना शुरु किया। इस मध्यवर्ग ने 'राष्ट्र' का आख्यान रचकर अपनी वैधता सिद्ध करने के प्रयास किए। यह आख्यान मुद्रित पन्नों पर रचा गया, शिक्षित जनता के बीच संचरित हुआ तथा इसने 'कल' और 'आज' का, 'यहाँ' और 'वहाँ' का विचित्र सम्मिलन कर दिया। भारतेंदु ने मुद्रण तकनीक और मध्यवर्ग की चिंता के

इस संयोग को 'नए युग के आविर्भाव' के रूप में देखा। 'समुदाय' के हितों की नुमाइंदगी के निमित्त देश–काल–परिस्थिति के तर्क से साहित्य का 'संगठन' हुआ। साहित्य अब खास लिपि में बद्ध समस्त वाड.मय का वाचक बनकर स्वीकृत हुआ। समुदाय के प्रतिनिधि 'बुद्धिजीवी' बनकर उभरे। उन्होंने अपने लक्ष्य समुदाय को देशकाल की रीति–नीति के अनुकूल शिक्षित करना प्रारंभ किया। साहित्य की अवधारणा, साहित्य का प्रयोजन और साहित्य के प्रतिमान बदल गए। 'कवि' अब 'पब्लिक मेन' था।

इस 'पब्लिक मेन' ने लिपि और भाषा के वस्तुगत आधार पर अतीत के प्रति अपना गर्वबोध विकसित किया। 'देवनागरी लिपि' को आर्य/हिंदू जाति की लिपि के रूप में ग्रहण करके इस लिपि और इसके अन्य रूपों से बद्ध समस्त लिखित वाड.मय को हिंदी बुद्धिजीवी ने जातीय इतिहास के रूप में पढ़ा। काव्य, वेद, पुराण, ज्योतिष, वैद्यक आदि को हिंदू जाति के उत्थान–पतन के साक्ष्य के रूप में पढ़ा गया। इस इतिहासबोध ने गर्व के उद्घोष की पूर्वपीठिका तैयार की और हिंदी बुद्धिजीवियों ने 'आत्म–परिभाषा' करते हुए ऐतिहासिक संदर्भों में अपने 'अन्य' की पहचान की। हिंदी और उर्दू, खड़ीबोली के ही रूप होने के बावजूद सार्वजनिक ढाँचे में प्रतिनिधित्व की प्रतिस्पर्धा के बीच सचेत रूप से हिंदू और मुस्लिम विरासत के प्रतीक के रूप में स्वीकृत हुए पाठबद्ध हिंदू धर्म की औपनिवेशिक कोटि स्वीकार करने के बावजूद हिंदी बुद्धिजीवियों ने हिंदू धर्म की जो संकल्पना निर्मित की, वह इकहरी नहीं थी। लोकवृत्त की बहुलस्वरी दुनिया में किसी एक अवधारणा पर सर्वानुमति मुश्किल है। 'जनमत' को सम्मान देने वाले 'राज' ने 'जनमत' की अभिव्यक्ति के लिए सभा–सोसायटियों की स्थापना और अपना 'मतप्रकाश' करने के अधिकार दिए थे। इस अधिकार का उपयोग हिंदू धर्म के अलग–अलग आख्यान रचने में हुए। 'आर्य समाज' ने अगर हिंदू धर्म को वेद–परंपरा के भीतर देखा और उसे प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म के तर्ज पर गढ़ा तो हिंदी बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने हिंदू धर्म को भक्ति की परंपरा से जोड़कर देखा। धर्म की इस धारणा में धर्मनीति और समाजनीति का साफ–साफ फर्क किया गया। भक्ति की परंपरा में धर्म की संकल्पना करने के कारण अखिल भारतीय हिंदू धर्म के प्रस्ताव में स्थानीयताओं को जगह मिली। यह अवधारणा भारतीयता के भावी प्रत्यय के अनुकूल सर्वसमावेशी थी।

हिंदी बुद्धिजीवियों ने 'समुदाय हित' में ज्ञानराशि की रचना की थी। 'समुदाय' को लिपि और भाषा के प्रतीक से सोचा गया था। प्रतीक की इस कड़ी में 'स्त्री' को भी शामिल किया गया। इस युग के हिंदी लेखकों के लिए 'स्त्री' संज्ञा नहीं, विशेषण है। वह व्यक्ति नहीं, बल्कि आर्यकुलगौरव की रक्षा करने वाली आर्यकुललना थी। मध्यवर्गीय हिंदू पुरुष के गृहसुख और सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुकूल इस युग में स्त्री की छवि गढ़ी गई। इस स्त्री से अपेक्षा थी कि वह 'अंग्रेज रमणी' की तरह 'लज्जा को

तिलांजलि' न दे, परंतु 'और और बातों में' 'अंग्रेज रमणी' की ही तरह स्वदेश की बातों से अनुराग रखे। इस स्त्री को 'शिक्षित' होना था, गृहसुख देना था, पातिव्रत निभाना था और 'आर्य जाति' की स्त्रियों – सीता, सावित्री, अनुसूया के आदर्शों को अपने जीवन में उतारना था। इस 'कल्पित स्त्री' की छवि को चुनौती मिली। लोकवृत्त सार्वजनिक भागीदारी का क्षेत्र है। हिंदी लोकवृत्त में भागीदार पढ़ी–लिखी स्त्री ने अपने बारे में गढ़ी जा रही 'छवि' को चुनौती दी। उसने न सिर्फ अपनी उपस्थिति जतायी, बल्कि प्रतिरोध भी दर्ज कराया।

हिंदी लोकवृत्त के भीतर एक तरफ साहित्य के प्रतिमान रचने के प्रयास हुए, भाषा के मानक तय करने की कोशिशें हुईं और योग्य तथा अयोग्य लेखकों के गुणधर्म निश्चित किए गए तो दूसरी तरफ इन प्रतिमानों को चुनौती भी मिली। प्रेस और प्रकाशन ने व्यावसायिकता के तर्क से उसी भाषा और विषय को प्रश्रय दिया जो ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचे, ग्राहकी बढ़े और लोग पढ़ें। ऐसे में शिक्षाप्रद साहित्य के साथ–साथ मनोरंजक साहित्य ने भी अपनी उपस्थिति जतायी और मनोरंजक साहित्य के लेखक साहित्य के प्रतिमानों से बेफिक्र नयी साहित्यिक विधा और भाषा को गढ़ने की ओर प्रवृत हुए।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बने हिंदी लोकवृत्त में स्वत्वबोध की प्रबल चिंता है, समुदाय के हित में सोद्देश्य साहित्य रचा जाता है परंतु इस लोकवृत्त के सदस्य समुदायहित और देशहित का जरूरी अंतर समझते हैं। वे अन्य धर्मसमुदायों की उन्नति के विरोधी नहीं, इसलिए एक सर्वसमावेशी राष्ट्रीय संगठन 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के वे सक्रिय प्रतिनिधि बनते हैं।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का हिंदी साहित्य हिंदी बुद्धिजीवी वर्ग के उदय का साक्ष्य है। जनसंचार के माध्यमों के उपयोग द्वारा हिंदी बुद्धिजीवियों ने धर्म के प्रतीक के साथ भाषा लिपि और स्त्री के प्रतीकों को एक मेल में स्थापित करके राष्ट्रीयता का आख्यान तैयार किया। यह प्रक्रिया इस युग के ढाँचागत बदलावों से नाभिनालबद्ध है। सन् सत्तावन के बाद का 'राज' जनमत को सम्मान देने वाला 'राज' है साथ ही यह अपने नये समाजशास्त्र के दायरे में भारतीयों को व्यक्ति के बजाय समुदाय विशेष के सदस्य के रूप में ग्रहण करता है। सार्वजनिक ढाँचे में व्यक्ति की भागीदारी समुदाय के सदस्य के रूप में स्वीकार की जाती है। इस ढाँचे के भीतर हिंदी बुद्धिजीवी वर्ग अपना लेखन जनमत निर्माण के लिए करता है। हिंदी लोकवृत्त की यह दुनिया बहुलस्वरी है, और इसमें यदि भाषा तथा साहित्य, राष्ट्र, समुदाय और स्त्री के प्रतिमान गढ़ने का प्रयास किया जाता दिखता है तो इसके साथ ही इस प्रयास के प्रतिरोध की उपस्थिति भी लक्ष्य की जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

सहायक ग्रंथ और जर्नल

पत्र–पत्रिकाएं

आधार ग्रंथ :

हिंदी पुस्तकें

आचार्य शिवपूजन सहाय, श्री नलिन विलोचन शर्मा – **अयोध्या प्रसाद खत्री स्मारक–ग्रंथ**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1960

कर्मेन्दु शिशिर – **राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएँ**, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990

किशोरी लाल गुप्त – **शिव सिंह सरोज**, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1970

किशोरीलाल गोस्वामी – **लीलावती का आदर्श सती**, श्री सुदर्शनदास द्वारा वृंदावन से प्रकाशित, तीसरा संस्करण–1926

गोपाल राय (संपा.) – **पं. गौरीदत्त कृत देवरानी जेठानी की कहानी**, ग्रंथ निकेतन, पटना, प्रथम संस्करण, 1966

चंद्रिका प्रसाद शर्मा – **प्रतापनारायण मिश्र रचनावली**, (खंड–2, 3 एवं 4) भारतीय प्रकाशन संस्थान, 2001

देवीदत्त शुक्ल, धनंजय भट्ट 'सरल' (संपा.) – **भट्ट निबंधावली**, भाग–1, हिंदी–साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1994

धनंजय भट्ट (संपा.) – **हिंदी की दशा और पत्रकारिता : भट्ट निबंधावली**, भाग–3, हिंदी–साहित्य, सम्मेलन, प्रयाग, 1983

नत्थन सिंह (डा.) (संपा.) – **बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली**, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़, 1993

प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय – **प्रेमघन–सर्वस्व**, प्रथम भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग शक् 1884

प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, दिनेश नारायण उपाध्याय – **प्रेमघन–सर्वस्व**, द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2003

बुंदेलाबाला (सं.) – **बाला–विचार**, लक्ष्मी प्रेस, गया, 1910

वीरभारत तलवार – **राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद : प्रतिनिधि संकलन,** नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2004

सत्यप्रकाश मिश्र – **बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन,** नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1995

श्रद्धाराम फिल्लौरी – **भाग्यवती, साहित्य निधि,** दिल्ली, 2000 में पुनर्मुर्दित

हेमंत शर्मा – **भारतेन्दु समग्र,** हिंदी प्रचारक पब्लिकेशन, वाराणसी, 2000

अंग्रेजी पुस्तकें

जी अल्लाना (संकलन–संपादन) – **पाकिस्तान मूवमेंट – हिस्टॉरिक डाक्यूमेंट्स,** इस्लामिक बुक सर्विस, लाहौर, 1967

शान मुहम्मद – **राइटिंग एंड स्पीचेज ऑफ सैयद अहमद खाँ,** नचिकेता पब्लिकेशन, बम्बई, 1972

सैयद महमूद – **अ हिस्ट्र ऑफ इंग्लिश एजुकेशन इन इंडिया,** इदारा–ए–अदबियात–ए–दिल्ली, दिल्ली, 1985

उर्दू पुस्तकें

अल्ताफ हुसैन हाली – **मुसद्दस–ए–हाली,** परवेज बुक डिपो, दिल्ली, (61वाँ संस्करण, 1978)

सहायक ग्रंथ :

अंग्रेजी पुस्तकें / जर्नल्स

आयशा जलाल, सुगतो बोस – **माडर्न साऊथ एशिया,** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004

आलोक राय – **हिंदी नेशनलिज्म,** ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, 2000

उपेन्द्र बख्शी (संपा.) – **द राइट टू बी ह्यूमन,** विस्तार पब्लिकेशन, दिल्ली, 1987

एमी गुटमैन (संपा.) – **मल्टीकल्चरशिप,** प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन, 1994

एरिक स्टॉक – **द इंग्लिश यूटिलिटेरियन एंड इंडिया,**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1982

क्रिस्टोफर आर. किंग – **वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन नाइनटींथ सेंचुरी नार्थ इंडिया,**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994

कुमकुम संगारी, सुदेश वैद्य (संपा.) – **रिकॉस्टिंग विमेन : ऐशेज इन कॉलोनियल हिस्ट्री,**
काली फॉर विमेन, नई दिल्ली, 1999

कैरोल ए. ब्रेकेनरिज,
पीटर फॉन डे फीर (संपा.) – **ओरिएंटलिज्म एंड द पोस्ट–कॉलोनियल प्रेडिकामेंट,**
युनिवर्सिटी ऑफ पेंसिलवेनिया प्रेस,
फिलाडेल्फिया, 1993

गुरप्रीत महाजन,
हेलमट रेफेल्ड (संपा.) – **द पब्लिक एंड द प्राइवेटः इश्यूज ऑफ डेमोक्रेटिक सिटिजनशिप,**
सेज पब्लिकेशन, दिल्ली, 2003

गेराल्डिन फोर्ब्स – **विमेन इन माडर्न इंडिया,**
कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005

गौरी विश्वनाथ – **मास्क ऑफ कंक्वेस्ट : लिटरेरी स्टडी एँड ब्रिटिश रूल इन इंडिया,**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1989

ज्योफ्री ए. ओडी – **इमेजिन्ड हिंदुइज्म,**
सेज पब्लिकेशन, दिल्ली, 2006

जार्ज ग्रियर्सन – **भारत का भाषा–सर्वेक्षण,**
(अनुवाद – उदय नारायण तिवारी)
उ.प्र. हिंदी संस्थान, 1927

जॉन जाओस – **इमर्जेन्स ऑफ हिंदू–नेशनलिज्म,**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000

जुर्गेन हैबरमास – **द पब्लिक स्फीयर – एन् एनसाइक्लोपीडिया आर्टिकल,**
न्यू जर्मन क्रिटिक, अंक–3, 1974

जुर्गेन हैबरमास – **द स्ट्रक्चरल ट्रांसफार्मेशन ऑफ पब्लिक स्फीयर एन इंक्वायरी इन टू अ कैटेगरी ऑफ बुर्जुआ सोसायटी** (थॉमस बर्गर और फ्रेडरिक लारेंस कृत अनुवाद), पॉलिटी प्रेस, ग्रेट बिटेन, 1989

जी एन देवी – **ऑफ मेनी हीरोज : एन इंडियन ऐसेज इन लिटरेरी हिस्ट्रियोग्राफी,**
ओरिएंट लांगमैन, 1998

टॉम बॉटोमोर और अन्य (संपा.) – **अ डिक्शनरी ऑफ मार्किस्ट थॉट,**
माया ब्लैकवेल, 2000

डी. ए. वाशब्रुक – **लॉ, स्टेट एँड एगरेरियन सोसायटी इन कॉलोनियल इंडिया,**
माडर्न एशियन स्टडीज, खंड–15, अंक–3, 1981

डेविड अर्नाल्ड – **साइंस, टेक्नालॉजी एंड मेडिसीन इन कॉलोनियल इंडिया,**
कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 2000

डेविड लेलिवेल्ड – **कॉलोनियल नॉलेज एंड द फेट आफ हिंदुस्तानी,**
कंपरेटिव स्टडीज इन सोसायटी एंड हिस्ट्री, खंड–35, सं.4, अक्तूबर, (1993)

तेजस्विनी निरंजना – **ट्रांस्लेशन, कॉलोनियलिज्म एँड द राईज ऑफ इंग्लिश, इकॉनॉमिक एँड पॉलिटिकल वीकली,**
25 (15) : 1990

थॉमस आर मेटकॉफ – **आडियालॉजिज ऑफ दी राज,**
फाउंडेशन बुक्स,नई दिल्ली, 2005

दाऊद अली (संपा.) – **इनवोकिंग द पास्ट : द यूजेज ऑफ हिस्ट्र इन साऊथ एशिया,**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2002

नैन्सी एल एडम्स, डेनिस एम् एडम्स – **एन एक्जामिनेशन ऑफ फोर्सेज अफेक्टिंग इंग्लिश एजुकेशन पॉलिसीज इन इंडिया : 1780–1850,**
हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन क्वार्टरली,
खंड–11, 1971

पाऊला रिचमैन (संपा.) – **क्वेश्चनिंग रामायनाज : अ साऊथ एशियन ट्रेडिशन,**
ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2000

पार्थ चटर्जी – **नशेनलिस्ट थॉट एंड द कॉलोनियल वर्ल्ड : अ डेरेवेटिव डिस्कोर्स ?**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986

पार्थ चटर्जी – **द नेशन एंड इट्स फ्रैग्मेंट्स,** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993

पॉल आर. ब्रास – **लैंग्वेज, रेलीजन एंड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया,** कैंब्रिज युनिर्सिटी प्रेस, लंदन, 1974

पीटर होहेनडाल – **जुर्गेन हैबरमास : द पब्लिक स्फीयर,** नामक लेखक – न्यू जर्मन क्रिटिक, संख्या–3, 1974

फ्रांसिस राबिन्सन – **इस्लाम एंड मुस्लिम हिस्ट्री इन साऊथ एशिया,** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000

फिलिप लुटगेनड्रॉफ – **लाइफ ऑफ अ टेक्स्ट – परफार्मिंग द रामचरितमानस ऑफ तुलसीदास,** ऑक्सफोर्ड युनिर्विटी प्रेस, 1994

बर्नाड एस. कोहन – **द बर्नाड कोहन ओमनीबस,** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004

बारबरा डी मेटकॉफ, थॉमस आर. मेटकॉक – **अ कंसाइज हिस्ट्री ऑफ इंडिया,** कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, यू. के., 2005

भीखू पारेख – **रीथिंकिंग मल्टीकल्चरलिज़्म : कल्चरल डायवर्सिटीज एंड पॉलिटिकल थ्योरी,** पेलग्रेव, इंग्लैंड, 2000

भीखू पारेख – **कालोनियलिज्म, ट्रेडीशन एंड रिफार्म : एन् एनालिसिस ऑफ गांधी'ज पॉलिटिकल थॉट,** सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1989

मार्गरिट पेरने – **द दिल्ली उर्दू अखबार : बिट्वीन पर्शियन अखबारात एंड इंग्लिश न्यूजपेपर,** द एनुअल ऑव उर्दू स्टडीज, सं–18, खंड–1, 2003

मोनी बागची – **विलियम जोन्स : डिस्कोर्सेज एंड एसेज,** पीपीएच., 1984

यूलराईक स्टार्क – **पॉलिटिक्स, पब्लिक इश्यूज एंड द प्रमोशन ऑफ उर्दू लिटरेचर : अवध अखबार, द फर्स्ट उर्दू डेली इन नार्दन इंडिया'**, द एनुअल ऑफ उर्दू स्टडीज, सं–18, खंड–1, यूनिवर्सिटी ऑफ विस्कोन्सिन मेडिसन, 2003

राजीव भार्गव, हेल्मट रेफेल्ड (संपा.)– **सिविल सोसायटी, पब्लिक स्फीयर एंड सिटीजनशिप'**
सेज पब्लिकेशन, दिल्ली, 2005

राबर्ट डी. बैर्ड – 'रेलिजन इन मार्डन इंडिया'
मनोहर, दिल्ली, 1981

रोमिला थापर – **सिंडिकेटेड मोक्ष? 'सेमिनार'**
सं–313, 1985

वसुधा डालमिया,
हेनरिक वॉन स्टीटेनक्रान (संपा.) – **रिप्रेजेंटिंग हिंदूइज्म – द कंस्ट्रक्शन ऑफ रिलिजियस ट्रेडीशन एंड नेशनल आइडेन्टिटी**
सेज पब्लिकेशन, दिल्ली, 1995

वसुधा डालमिया – **द नेशनलाइजेशन ऑफ हिंदू ट्रेडिशन : भारतेंदु हरिश्चंद्र एंड नाईनटींथ सेंचुरी बनारस,**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999

वसुधा डालमिया – **ओरिएंटिंग इंडिया : योरोपियन नॉलेज फॉर्मेशन इन द एटीन्थ एंड नाईंटींथ सेंचुरीज,**
थ्री ऐसेज कलेक्टिव, नई दिल्ली, 2003

विलियम रेडाइस – **स्वामी विवेकानंद एंड द माडर्नाइजेशन ऑफ हिंदुइज्म'**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999

वेरनर एफ. मेन्स्की – **हिंदू लॉ**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003

स्टुअर्ट ब्लैकबर्न,
वसुधा डालमिया (संपा.) – **इंडिया'ज लिटरेरी हिस्ट्री : ऐसेज ऑन द नाईन्टीन्थ सेंचुरी,**
परमानेट ब्लैक, नई दिल्ली, 2001

संजय जोशी – **फ्रैक्चर्ड माडर्निटी : मेकिंग ऑफ ए मिडिल क्लास इन कालोनियल इंडिया,**
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005

सी. ए. बेली – **एम्पायर एंड इन्फार्मेशन : इंटेलीजेन्स गेदरिंग एँड सोशल कम्युनिकेशन इन इंडिया 1780–1870,**
फाउंडेशन बुक्स, दिल्ली, 1999

सुरेश चंद्र घोष – **द हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन माडर्न इंडिया,**
1857–1998, ओरियंट लॉगमैन, दिल्ली, 2000

सैंड्रिया बी. फ्राइटैग – **कल्चर एंड पावर इन बनारस–कम्युनिटी, परफार्मेन्स एंड एन्वायरमेंट**
यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, लंदन, 1989

सौरभ दुबे (संपा.) – **पोस्ट कॉलोनियल पैसेज – कंटेम्पररी हिस्ट्री–राइटिंग ऑन इंडिया**
ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2004

हफीज मलिक – **सर सैयद अहमद खान–स डाक्टरिन ऑफ मुस्लिम नेशनलिज्म एंड नेशनल प्रोग्रेस,**
मार्डन एशियन स्टडीज, खंड–2, संख्या–3, 1968

हिमानी बनर्जी – **इन्वेंटिंग सब्जेक्टस् : स्टडीज इन हेजेमनी,**
पैट्रियार्की एँड कौलोनियलिज्म –तूलिका,
दिल्ली, 2001

सहायक ग्रंथ :

हिंदी पुस्तकें

कृष्ण बिहारी मिश्र – **हिंदी पत्रकारिता : जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण भूमि,**
भारतीय ज्ञानपीठ, 2000

धीरेंद्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी – **हिंदी साहित्य कोश,**
भाग–2, ज्ञानमंडल, वाराणसी, 1963

धीरेंद्रनाथ सिंह (डा.) – **आधुनिक हिंदी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका,**
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1986

नलिन विलोचन शर्मा – **साहित्य का इतिहास–दर्शन,**
बिहार राष्ट्र–भाषा परिषद्, 1997

निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी – **इतिहास और आलोचना के वस्तुवादी सरोकार**
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

पुरुषोत्तम अग्रवाल – **निज ब्रह्म विचार : धर्म, समाज और धर्मेत्तर अध्यात्म,**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

पुरुषोत्तम अग्रवाल – **विचार का अनंत,**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

बाबू शिवनंदन सहाय – **हरिश्चंद्र**,
हिंदीसमिति, उत्तर प्रदेश, 1975

मथुरालाल शर्मा (अनूदित) – **भारत का इतिहास**,
शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, 1973

मधुकर भट्ट – **पं. बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व**,
बालकृष्ण प्रकाशन वाराणसी, 1972

महर्षि दयानंद सरस्वती – **सत्यार्थ–प्रकाश**,
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, प्रकाशकीय, (विक्रमाब्द–2057 का संस्करण)

मालिक राम – **मिर्जा ग़ालिब**,
नेशनल बुक ट्रस्ट, 1969

मुरलीधर श्रीवास्तव (डा.) – **हिंदी के यूरोपीय विद्वान : व्यक्तित्व और कृतित्व**
बिहार हिंदी ग्रंथ एकादमी, पटना, 1973

मैनेजर पाण्डेय – **साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका**,
हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़, 1989

रामगोपाल – **स्वतंत्रता–पूर्व हिंदी के संघर्ष का इतिहास**,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, (शक संवत् 1886)

रामविलास शर्मा (डा.) – **भारतेन्दु युग और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ**,
राजकमल प्रकाशन, 1972

रामस्वरूप चतुर्वेदी – **हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास**,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998

रामस्वरूप चतुर्वेदी – **हिंदी गद्य : विन्यास और विकास**,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002

वीरभारत तलवार – **हिंदू नवजागरण की विचारधारा : सत्यार्थ प्रकाश समालोचना का एक प्रयास**,
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2001

वीरभारत तलवार – **रस्साकशी : 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत**,
सारांश प्रकाशन, 2002

वीरभारत तलवार – **राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद : प्रतिनिधि संकलन**, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, .2004

सत्यप्रकाश मिश्र – **बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन**, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1995

पत्र–पत्रिकाएं :

हिंदी प्रदीप, फरवरी 1886, अगस्त 1886, मई–जून 1888, नेहरू म्यूजियम लाइब्रेरी, नई दिल्ली में उपलब्ध

आलोचना, अक्टूबर–दिसंबर, 2003, नई दिल्ली

बहुवचन–3 महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

समकालीन सृजन, अंक–18, 1998, कलकत्ता

साखी–12, जुलाई–सितंबर, 2005, गोरखपुर

शिक्षा–विमर्श, अंक–तीन, मई–जून 2006